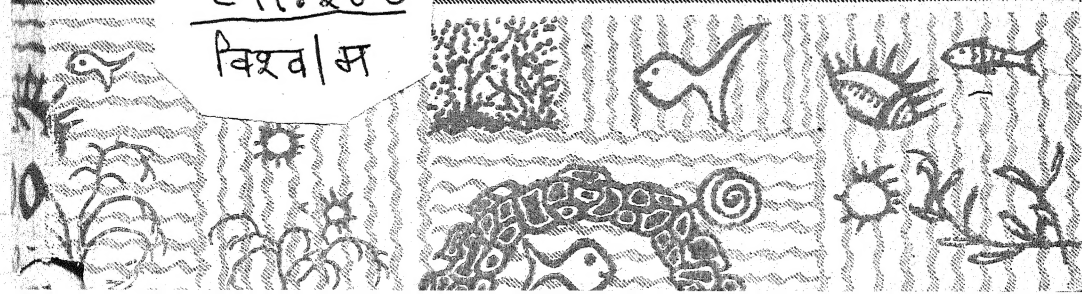


हिन्दी साहित्य की तांत्रिक पृष्ठभूमि

डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय



मध्यकालीन

ी काव्य की तांत्रिक पृष्ठभूमि

डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

एम० ए० (हिन्दी : संस्कृत) पीएच० डी०

हिन्दी, विभाग,

गवर्नमेण्ट कालेज, नैनीताल

ःसाहित्य भवन (प्राइवेट) लिमिटेड

इलाहाबाद

मध्यकालीन

हिन्दी काव्य की तांत्रिक पृष्ठभूमि



डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

एम० ए० (हिन्दी : संस्कृत) पीएच० डी०

हिन्दी, विभाग,

गवर्नमेण्ट कालेज, नैनीताल

साहित्य भवन (प्राइवेट) लिमिटेड

इलाहाबाद

प्रथम संस्करण : १९६३ ईसवी

दस रुपया मात्र

मुद्रक—यू० पी० प्रिन्टिंग प्रेस, ४२, एडमॉन्स्टन रोड, इलाहाबाद।

समर्पण

संत साहित्य के सिद्धाचार्य

सम्मान्य श्री परशुराम चतुर्वेदी

को

सादर

अनुक्रम

भूमिका

हिन्दी के मध्यकालीन संत एवम् वैष्णव काव्य को समझने के लिए इस देश के नाना-मतमतान्तरों और साधनाओं का ज्ञान परमावश्यक है क्योंकि काव्य में अभिव्यक्त किसी युग का 'बुद्धितत्व', पूर्ववर्त्ती चिन्तनधारा को बिना हृदयंगम किये हुए अस्पष्ट ही रहता है। काव्य एक संश्लिष्ट मानसिक-क्रिया है, उसमें कवि की चिन्तनधारा इतनी संकुल-पद्धति पर व्यक्त होती है कि उसके विश्लेषण के समय हमें आश्चर्य होता है; जब हम देखते हैं, कि कवि विशेष की 'अपने' वर्तमान के प्रति प्रतिक्रिया में भूतकाल का पर्याप्तमात्रा में सन्निवेश होता है। भूतकाल का यह प्रयोग, भूतकाल की पुनर्व्याख्या के रूप में भी हो सकता है और परंपरा के कुछ अंश को यथावत् स्वीकार करके भी हो सकता है। भविष्य सम्मुख न रहने से वर्तमान के समाधान के लिए प्राय: कवि और विचारक भूतकाल की ओर मुड़ते हैं। विशेषकर कवि में 'पूर्णता' की प्यास सबसे अधिक होती है। भूतकाल की अपूर्णता कवि के सम्मुख न होने से और वर्तमान में बुद्धि को चकराने वाले प्रश्नों के समाधान में भूतकाल के एक सीमा तक समर्थ होने से कविगण भूतकाल को केवल रोमानी दृष्टि से देखकर उसका गौरवगायन ही नहीं करते अपितु उनकी बौद्धिक-प्रतिक्रिया भूतकालात्मक हो जाती है। यह प्रवृत्ति हिन्दी के संतों और भक्तों के काव्य में सबसे अधिक दिखायी पड़ती है।

सूर-तुलसी, कबीर, नानक, दादू आदि कवियों का काव्य मुख्यत: साधनात्मक है। ये भक्त और साधक पहले थे, कवि बाद में। अत: सर्वप्रथम इस तथ्य का उद्घाटन इनके काव्य को समझने के लिए अनिवार्य होगा कि इन संतों और वैष्णवों की साधना का स्वरूप क्या है और चूँकि साधना और भक्ति के लिए 'सम्प्रदाय' आवश्यक थे; सम्प्रदाय अर्थात् साधना की प्रयोगशालाएँ; अतएव इन सम्प्रदायों अथवा प्रयोगशालाओं का विकास समझना आवश्यक हो जाता है। यही कारण है कि मध्यकालीन काव्य का मर्मोद्घाटन वही आलोचक सफलता-पूर्वक कर सके हैं जिन्हें तात्कालिक तथा पूर्ववर्ती सम्प्रदायों का सम्यक् ज्ञान था। मध्य-

कालीन काव्य में अभिव्यक्त चिन्तनधारा में शैवमत, शाक्तमत, पांचरात्रमत और तांत्रिक बौद्धमत ताने-बाने की तरह बुना हुआ है। कारण यह है कि पुराणों के प्रयत्न से परस्पर-विरोधी मतों, साधनाओं, देवी-देवताओं और आचार-विचारों में हिन्दी-काव्य के श्रीगणेश के पूर्व ही अंतर्भुक्ति स्थापित की जा चुकी थी। एक विराट राष्ट्र में नाना कबीलों, जातियों और वर्गों की संस्कृति पौराणिकों की दूर-दृष्टि के कारण मिल-जुलकर सतरंगी लहरों की तरह एक ही प्रवाह के रूप में बहने लगी थी। इसीलिए मध्यकालीन हिन्दी काव्य में जो कुछ पुराना है, उसमें अंतर्विरोध ढूँढ़ने के स्थान पर, उसके प्रति अटूट श्रद्धा ही नहीं, उसका अनुसरण ही जीवन का उद्देश्य माना गया है। जो आलोचना है, वह किसी नवीन जीवन-दर्शन अथवा समाज-दर्शन की प्रतिष्ठा करने के लिए नहीं है अपितु दुर्बलताओं को दूर करने के लिए है। परिणामतः मध्यकालीन काव्य में व्यक्त चिन्तनधारा और साधना का निर्माण जिन सूत्रों से हुआ है, उनकी पहचान के लिए इस पुस्तक में पाँच मतों का किंचित् विस्तार से वर्णन हुआ है। मेरा विश्वास यह है कि तंतुओं की पहचान के बिना वस्त्र की पहचान नहीं हो सकती। मध्यकालीन हिन्दी-काव्य के परिधान में समवाय सम्बंध से स्थित नाना साधना-सूत्रों और चिन्तन-सूत्रों के स्वरूप को समझने के लिए इस काव्य की 'तांत्रिक पृष्ठभूमि' अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

मध्यकालीन हिन्दी-काव्य के चिन्तन और साधना को समझने के लिए ही, प्रस्तुत पुस्तक नहीं लिखी गई अपितु उक्त काव्य की 'कल्पना' और 'भाव' की दिशा, कल्पना के द्वारा लाये गए उपकरण, रूपों की सृष्टि, भाव के आधार तथा भाषा और अभिव्यक्ति के प्रकारों को समझने के लिए भी शैव-मत, शाक्तमत, पांचरात्रमत तथा तांत्रिक बौद्धमत का अनुशीलन आवश्यक है। इन सम्प्रदायों की बहुत-सी सामग्री विविध रूपों में तात्कालिक समग्र संस्कृति और कला में स्वीकृत हुई है। स्थापत्य, मूर्त्तिकला और चित्रकला तो इन्हीं सम्प्रदायों से प्रेरित हैं। परवर्ती युग में शिव-शक्ति अथवा करुणा-उपाय के आदर्श पर राधा-कृष्ण का चित्रण हुआ; कला और काव्य दोनों में यह प्रवृत्ति दिखायी पड़ती है अतः संत-वैष्णव काव्य का 'अवचेतन' जिन तत्वों से बना था, उनमें उक्त सम्प्रदायों की बहुत-सी सामग्री भी मिलती है। उस सामग्री में परिवर्तन मिलता है, कहीं-कहीं वह इतने परिवर्तित रूप में हैं कि उसकी पहचान कठिन है, कहीं-कहीं साम्प्रदायिक जड़ता इस सामग्री का ऋण नहीं स्वीकार करना चाहती और कहीं-कहीं वह स्पष्ट

देखी जा सकती है अतः केवल काव्य के बुद्धितत्त्व की दृष्टि से ही नहीं अपितु उपमान, प्रतीक, भाव और कथन-पद्धति की दृष्टि से भी उक्त सम्प्रदायों का अध्ययन आवश्यक है।

किन्तु इन सम्प्रदायों को प्रकाशित करते समय यह कह देना आवश्यक है कि इनका धर्म-दर्शन (Theology) की दृष्टि से भी महत्व है और जो सज्जन केवल इन्हीं सम्प्रदायों के अध्ययन में रुचि रखते हैं, उनके लिए भी इन में रोचक सामग्री मिल सकती है।

मुझसे इन निबन्धों को लिखते समय यह प्रश्न बार-बार पूछा गया कि अंततः काव्य के अध्ययन में यदि प्राचीन मत-मतान्तरों के इतने गंभीर अध्ययन की आवश्यकता है तब काव्य-अनुशीलन और धर्म-दर्शन में क्या अंतर रह जाता है ? मेरा उत्तर है कि सीमाएँ आपकी बनायी हुई हैं। ज्ञान एक और अखंड है। यदि आपको कबीर को समझने के लिए धर्म-दर्शन पढ़ना ही पड़ता है तब काव्य का अनुशीलक यदि कबीर के काव्य को ध्यान में रखकर उन प्राचीन धार्मिक और दार्शनिक तत्वों की छान-बीन करे तो इसमें आपत्ति की बात क्या है ? हिन्दी में असम्बद्ध ज्ञान का अभाव नहीं है किन्तु इधर 'टू द प्वाइंट' के चक्कर में इतना उथलापन आया है कि भारी पोथों में भी कोई नवीन सूचना नहीं मिलती। 'नयी व्याख्या' और 'वैज्ञानिक व्याख्या' की आशा तो दुराशा में परिणत ही हो रही है।

इसके सिवाय मेरा दृष्टिकोण भी काव्य के अध्ययन के प्रति भिन्न है। मैं काव्य को किसी देश या जाति की समग्र संस्कृति का पुष्प मानता हूँ। वैज्ञानिक की तरह इस 'पुष्प' की पहिचान के लिए पुष्प के रंग, उसके प्रभाव आदि का वर्णन होना चाहिए। मैं भूमि की परीक्षा भी पुष्प-ज्ञान के लिए आवश्यक मानता हूँ अतः भूमि और भूमि में विकसित पुष्प, अथवा दूसरे शब्दों में समाज और समाज में विकसित काव्य—ये दोनों विषय मेरी दृष्टि से सम्बद्ध रूप में—एक साथ—आलाचना के विषय हैं।

इस दृष्टि से अध्ययन करने पर मध्यकालीन काव्य में केवल सुन्दर शब्द, अलंकार और रस ही नहीं मिलेंगे अपितु इस काव्य के प्रयोजन के रूप में कुछ ऐसी धाराएँ मिलेंगी जो तात्कालिक समाज को शीतल भी करती हैं और उसके समग्रतः हिताहित का भी लेखाजोखा प्रस्तुत करती हैं। आश्चर्य तब होता है जब,

कालीन काव्य में अभिव्यक्त चिन्तनधारा में शैवमत, शाक्तमत, पांचरात्रमत और तांत्रिक बौद्धमत ताने-बाने की तरह बुना हुआ है। कारण यह है कि पुराणों के प्रयत्न से परस्पर-विरोधी मतों, साधनाओं, देवी-देवताओं और आचार-विचारों में हिन्दी-काव्य के श्रीगणेश के पूर्व ही अंतर्भुक्ति स्थापित की जा चुकी थी। एक विराट राष्ट्र में नाना कबीलों, जातियों और वर्गों की संस्कृति पौराणिकों की दूर-दृष्टि के कारण मिल-जुलकर सतरंगी लहरों की तरह एक ही प्रवाह के रूप में बहने लगी थी। इसीलिए मध्यकालीन हिन्दी काव्य में जो कुछ पुराना है, उसमें अंतर्विरोध ढूँढ़ने के स्थान पर, उसके प्रति अटूट श्रद्धा ही नहीं, उसका अनुसरण ही जीवन का उद्देश्य माना गया है। जो आलोचना है, वह किसी नवीन जीवन-दर्शन अथवा समाज-दर्शन की प्रतिष्ठा करने के लिए नहीं है अपितु दुर्बलताओं को दूर करने के लिए है। परिणामतः मध्यकालीन काव्य में व्यक्त चिन्तनधारा और साधना का निर्माण जिन सूत्रों से हुआ है, उनकी पहचान के लिए इस पुस्तक में पाँच मतों का किंचित् विस्तार से वर्णन हुआ है। मेरा विश्वास यह है कि तंतुओं की पहचान के बिना वस्त्र की पहचान नहीं हो सकती। मध्यकालीन हिन्दी-काव्य के परिधान में समवाय सम्बंध से स्थित नाना साधना-सूत्रों और चिन्तन-सूत्रों के स्वरूप को समझने के लिए इस काव्य की 'तांत्रिक पृष्ठभूमि' अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

मध्यकालीन हिन्दी-काव्य के चिन्तन और साधना को समझने के लिए ही, प्रस्तुत पुस्तक नहीं लिखी गई अपितु उक्त काव्य की 'कल्पना' और 'भाव' की दिशा, कल्पना के द्वारा लाये गए उपकरण, रूपों की सृष्टि, भाव के आधार तथा भाषा और अभिव्यक्ति के प्रकारों को समझने के लिए भी शैव-मत, शाक्तमत, पांचरात्रमत तथा तांत्रिक बौद्धमत का अनुशीलन आवश्यक है। इन सम्प्रदायों की बहुत-सी सामग्री विविध रूपों में तात्कालिक समग्र संस्कृति और कला में स्वीकृत हुई है। स्थापत्य, मूर्त्तिकला और चित्रकला तो इन्हीं सम्प्रदायों से प्रेरित हैं। परवर्ती युग में शिव-शक्ति अथवा करुणा-उपाय के आदर्श पर राधा-कृष्ण का चित्रण हुआ; कला और काव्य दोनों में यह प्रवृत्ति दिखायी पड़ती है अतः संत-वैष्णव काव्य का 'अवचेतन' जिन तत्वों से बना था, उनमें उक्त सम्प्रदायों की बहुत-सी सामग्री भी मिलती है। उस सामग्री में परिवर्तन मिलता है, कहीं-कहीं वह इतने परिवर्तित रूप में हैं कि उसकी पहचान कठिन है, कहीं-कहीं साम्प्रदायिक जड़ता इस सामग्री का ऋण नहीं स्वीकार करना चाहती और कहीं-कहीं वह स्पष्ट

देखी जा सकती है अतः केवल काव्य के बुद्धितत्त्व की दृष्टि से ही नहीं अपितु उपमान, प्रतीक, भाव और कथन-पद्धति की दृष्टि से भी उक्त सम्प्रदायों का अध्ययन आवश्यक है।

किन्तु इन सम्प्रदायों को प्रकाशित करते समय यह कह देना आवश्यक है कि इनका धर्म-दर्शन (Theology) की दृष्टि से भी महत्व है और जो सज्जन केवल इन्हीं सम्प्रदायों के अध्ययन में रुचि रखते हैं, उनके लिए भी इन में रोचक सामग्री मिल सकती है।

मुझसे इन निबन्धों को लिखते समय यह प्रश्न बार-बार पूछा गया कि अंततः काव्य के अध्ययन में यदि प्राचीन मत-मतान्तरों के इतने गंभीर अध्ययन की आवश्यकता है तब काव्य-अनुशीलन और धर्म-दर्शन में क्या अंतर रह जाता है ? मेरा उत्तर है कि सीमाएँ आपकी बनायी हुई हैं। ज्ञान एक और अखंड है। यदि आपको कबीर को समझने के लिए धर्म-दर्शन पढ़ना ही पड़ता है तब काव्य का अनुशीलक यदि कबीर के काव्य को ध्यान में रखकर उन प्राचीन धार्मिक और दार्शनिक तत्वों की छान-बीन करे तो इसमें आपत्ति की बात क्या है ? हिन्दी में असम्बद्ध ज्ञान का अभाव नहीं है किन्तु इधर 'टू द प्वाइंट' के चक्कर में इतना उथलापन आया है कि भारी पोथों में भी कोई नवीन सूचना नहीं मिलती। 'नयी व्याख्या' और 'वैज्ञानिक व्याख्या' की आशा तो दुराशा में परिणत ही हो रही है।

इसके सिवाय मेरा दृष्टिकोण भी काव्य के अध्ययन के प्रति भिन्न है। मैं काव्य को किसी देश या जाति की समग्र संस्कृति का पुष्प मानता हूँ। वैज्ञानिक की तरह इस 'पुष्प' की पहिचान के लिए पुष्प के रंग, उसके प्रभाव आदि का वर्णन होना चाहिए। मैं भूमि की परीक्षा भी पुष्प-ज्ञान के लिए आवश्यक मानता हूँ अतः भूमि और भूमि में विकसित पुष्प, अथवा दूसरे शब्दों में समाज और समाज में विकसित काव्य—ये दोनों विषय मेरी दृष्टि से सम्बद्ध रूप में—एक साथ—आलाचना के विषय हैं।

इस दृष्टि से अध्ययन करने पर मध्यकालीन काव्य में केवल सुन्दर शब्द, अलंकार और रस ही नहीं मिलेंगे अपितु इस काव्य के प्रयोजन के रूप में कुछ ऐसी धाराएँ मिलेंगी जो तात्कालिक समाज को शीतल भी करती हैं और उसके समग्रतः हिताहित का भी लेखाजोखा प्रस्तुत करती हैं। आश्चर्य तब होता है जब,

ऐसी धाराएँ प्राग़ैतिहासिक काल से मध्यकाल तक एक अविच्छिन्न शृंखला के रूप में दिखायी पड़तीं हैं और कालक्रमानुसार लुकती छिपतीं, मार्ग बदलतीं और जल के गुण में परिवर्तन लातीं हुईं, मध्यकालीन काव्य-प्रवाह में अपनी विशिष्टता की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए हमें प्रेरित करती हैं अत: यह भी आवश्यक हो जाता है कि शाक्तमत, शैवमत, पांचरात्रमत और तांत्रिक बौद्धमत के आदिम रूप को भी हम स्मरण रखें तभी हम इस प्रबल धारा का ऐतिहासिक योगदान निश्चित कर सकते हैं और इस धारा की सहायता से भारतीय समाज के विकास को भी हम समझ सकते हैं।

जिस प्रकार किसी एक कवि की कविता के अनुशीलन के लिए उसकी मानसिक-स्थितियों अथवा उसके अवचेतन की छान-बीन आवश्यक होती है, उसी प्रकार युग-विशेष का भी एक अपना अवचेतन होता है। मेरा निवेदन यह है कि मध्यकालीन हिन्दी-काव्य में प्रतिबिम्बित 'सामूहिक अवचेतन' के समझने के लिए जहाँ अन्य मतों और साधनाओं को विस्तार पूर्वक समझना आवश्यक है, वहीं इस कार्य के लिए आगम या तंत्र-धारा को समझना भी आवश्यक है। इसलिए इस पुस्तक के लिए मैं किसी क्षमा-याचना की आवश्यकता नहीं समझता।

शैवमत, शाक्तमत, पांचरात्रमत और तांत्रिक बौद्धमत अनार्य, अवैदिक, आगम, ब्राह्मणवादविरोधी, वाममार्गी, आदि नामों से अभिहित किया गया है। यह धारा उक्त सम्प्रदायों के रूप में संगठित होने के पूर्व किस रूप में प्रचलित थी, इस तथ्य पर प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है। इससे प्राचीन और मध्य-कालीन युग शृंखलित और सम्बद्ध रूप में प्रतीत होने लगेगा।

पाश्चात्य इतिहासकार और पुरातत्त्ववेत्ता बहुमत से वैदिक आर्यों के भारत आगमन को १५०० ई० पूर्व में मानते हैं अर्थात् यह अंतिम सीमा है। आर्यों का आगमन धाराओं में माना जाता है! कुछ कबीले २००० ई० पूर्व में भी आ गए होंगे, शायद और भी पहले आर्यों के कुछ दल आए हों लेकिन १५०० ई० पूर्व के बाद में आर्य आगमन मानने पर भाषा और साहित्य के विकास को नहीं समझाया जा सकता।

इधर कुछ विद्वानों ने आर्य-आगमन की कथा को सर्वथा अप्रमाणित और कल्पित सिद्ध किया है। क्योंकि भाषाओं के अध्ययन के आधार पर यह भी सिद्ध हो सकता है कि आर्य भारत से पश्चिमी एशिया अथवा मध्य एशिया गए! अत:

ऐसे विद्वान यह मानकर चलते हैं कि आर्यों का आगमन प्रमाणित नहीं होता तब वैज्ञानिक दृष्टि यह है कि आर्य भारत में रहते थे और पश्चिमोत्तर प्रदेशों से उनका विस्तार पूर्व और दक्षिण की ओर हुआ। किन्तु अभी तक बहुमत से आर्यों का आगमन एक तथ्य माना जाता है।

कुछ विद्वान मिस्र, मैसोपोटामिया तथा एशिया के ध्रुवपश्चिमवर्ती देशों और द्वीपों में होने वाली खुदाई में प्राप्त सामाग्री से आर्य-आगमन को सिद्ध करते हैं किन्तु उसका समय ई० पूर्व० पाँच सहस्र वर्ष अथवा उससे भी पूर्व निर्धारित करते हैं। डॉ० हर्षे का कथन है कि मैसोपोटामिया के राज्य-निर्माता आर्य ही थे और असीरिया के असुरों द्वारा आक्रमणों से श्रान्त हो कर आर्य भारत आये ![1]

डॉ० हर्षे के अनुसार वेद-वर्णित मरीचि, भृगु, अत्रि, अंगिरा, वशिष्ठ, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेतस-दक्ष, तथा स्वयंभुव मनु—इन दस प्रजापतियों तथा आदित्य, अप्सरस, नाग आदि के उल्लेख पश्चिमी एशिया में मिलते हैं। उदाहरणत: मिस्र की प्राचीन जातियों के नाम सर्प, पतंग, गिद्ध, सरकण्ड, बाज़ जैसे जीवों और पौधों के नाम पर हैं। यह भी कहा गया है कि ३५६० ई० पूर्व में ये जातियाँ 'फैरो-राज्य' के रूप में संगठित हो गईं ! उधर पुराणों में भी कबीलों या जातियों के नाम पशु-पक्षियों आदि पर आधारित हैं यथा शश अत्रेय, उल वार्ष्णेय, कपि, अज, पतंग आदि। चूंकि मिस्र की उक्त प्रागैतिहासिक जातियों का समय ५००० ई० पूर्व है अत: वेदों का समय भी यही मानना होगा, यह डा० हर्षे का कथन है।

इसके सिवाय डॉ० हर्षे एशिया माइनर के फ्रीजिया (Phrygia) से 'भृगु' का, ईराक के वार्क या उर्क (Warak or Uruk) से 'वृकसोम' का, ईराक के पैंजवान (Penjwan) से सुदास और वशिष्ठ का, फिलस्तीन का पुलस्त्य से, नीलनदी से 'कर्दम' का, और मध्य एशिया से स्वयंभुव मनु का सम्बंध जोड़ते हैं ! इसी प्रकार साइप्रस की 'रीशेफ' (RESHEF) मूर्त्ति से ऋषभदेव का, दजला-फ़रात से 'सरस्वती' का, ईरान के कावस प्रदेश से 'कावस ऐलूष' का, मैसोपोटामिया प्रदेश से अगस्त्य और विश्वामित्र का, 'उर' (Ur) प्रदेश से उर्वशी का, यहोवा से ऋग्वेद के यहु, यहवत तथा यहवति का, तथा मिस्र देश से धन्वंतरि का

1 The Trails of the Vedic Civilization in the Middle-East R. G. Harshe—K. P. Bhatnagar Commemoration Volume. KANPUR, Page 165

सम्बंध स्थापित किया गया है। चाल्डियन स्रोत से जो सूर्य-सूक्त मिला है, वह वेद के सूर्य-सूक्त से यथावत् मिलता है, यह भी कहा गया है।

इस प्रकार डॉ० हर्षे ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि भारत में आने के पूर्व आर्य कबीले सुमेरिया में रहते थे और असीरिया के असुरों से परास्त होकर भारत आये। पुराणों में जिस देवासुर-संग्राम का वर्णन मिलता है वहाँ वस्तुत: सुमेरु-देश के आर्यों और असीरिया के असुरों के युद्ध की यादगार है!

उक्त शोध मुख्यत: शब्द-सादृश्य पर आधारित है, किन्तु केवल शब्दों के साम्य से इतिहास-निर्माण का प्रयत्न संदेहास्पद ही रहता है।

किन्तु एक तथ्य उक्त शोध से भी पुष्ट होता है कि आर्य विभिन्न क़बीलों में में संगठित थे क्योंकि भारत में आने पर भी उनके नाम टॉटेमपरक रहे। इस तथ्य से हमारे विषय का घनिष्ठ सम्बंध है।

डॉ० हर्षे का अध्ययन अधिकतर शब्दसादृश्य पर आधारित है अत: सम्भावना कुछ भी हो, केवल सम्भावना को प्रमाण नहीं माना जा सकता। इस सम्बंध में सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य प्रो० बेडरिक ह्राज़नी ने किया है। उनका दावा है कि उन्होंने मोहनजोदड़ो की लिपि को पढ़ लिया है और इस लिपि के आधार पर उन्होंने पश्चिमी एशिया तथा सिंधु-घाटी के समाज और धर्म के विषय में कुछ सर्वथा नवीन सूचनाएँ दी हैं।

प्रो० ह्राज़नी के अनुसार सुमेर-अक्कादियन सभ्यता आर्य-सभ्यता नहीं थी।[1] ई० पूर्व ३००० से १६०० तक विकसित इस सभ्यता के विषय में उक्त लेखक ने बताया है कि सुमेर-प्रदेश में राज्य-निर्माण हो चुका था परन्तु क़बीलों में जनता विभाजित थी। राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता था। मंदिरों में देवताओं और देवियों की पूजा होती थी। देवताओं में चन्द्र, पृथिवी, सूर्य, युद्धदेव आदि का उल्लेख मिलता है। डॉ० हर्षे यह नहीं देख सके कि प्रागैतिहासिक काल में क़बीला-व्यवस्था में देवताओं में भी सादृश्य मिलता है और क़बीलों के नामों में भी किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि मिश्र और सुमेर के क़बीले आर्य क़बीले थे। जिस प्रकार वेद में श्रेष्ठ देवताओं में स्पर्धा है, उसी प्रकार सुमेर देश में भी 'मार्दुक' को बहुत संघर्ष के बाद श्रेष्ठ देवता माना गया।

---

1 Ancient History of Western Asia, India and Crete, Bedrich Hrozny. New york

यही नहीं, पिण्ड में ब्रह्माण्ड की कल्पना भारत से पूर्व सुमेर देश में मिलती है। उपनिषदों में जो यह कहा गया है कि देवताओं के अंश, शरीर बन जाने पर विभिन्न अंगों में प्रविष्ट होते हैं, यह विचार सुमेर प्रदेश में मिलता है। इसका तात्पर्य यह हैं कि इस प्रकार के विश्वास समान व्यवस्था में सर्वत्र मिलते हैं क्योंकि विश्वास व्यवस्था के अनुरूप ही कल्पित होते हैं।

परवर्ती त्रिदेव की तरह सुमेर अक्कादियन सभ्यता में आकाशदेव 'अन' या 'अनम' था। उसकी पत्नी थी 'अंतम'। पृथिवी का देवता था इंनलिल या इल्लिल, उसकी देवी थी, निनलिल। जल का देवता था इय या इन्की और उसकी पत्नी थी 'दमकिन'। इसी प्रकार सूर्य, चन्द्र, रति आदि की पूजा भी होती थी। भारतीय पुरोहित की तरह यहाँ भी पुरोहित का स्थान महत्त्वपूर्ण था। यहाँ के विशाल पौराणिक साहित्य को देखकर यह कहना कि ये आर्य थे, अप्रमाणित तथ्य है। प्रो० ह्राज़नी भी सुमेर-सभ्यता को स्वतंत्र सभ्यता मानते हैं।

हमारे लिए महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि सुमेर की 'इश्तर' नामक देवी अत्यधिक प्रबल थी। भारतीय शक्ति-पूजा से 'इश्तर पूजा' का अद्भुत सादृश्य मिलता है किन्तु प्रागैतिहासिक युग में शाक्त-पूजा सर्वत्र मिलती है। देवी को प्रेम और उपज का देवता माना जाता था और इसीलिए शाक्त-सम्प्रदाय की तरह इश्तर-सम्प्रदाय में 'भोग' के गुप्तसाधन और वेश्यावृत्ति प्रचलित रही। जादू का सम्बंध धर्म के प्रारम्भिक रूप में सर्वत्र मिलता है। तंत्रों के मंत्र,यंत्र की तरह सुमेर में भी मंत्रों और यंत्रों का प्रचार था। रोगनाश के लिए भूतविद्या का प्रचार अथर्ववेद की तरह यहाँ भी मिलता है। तांत्रिक सम्प्रदायों की तरह रहस्यमयता का सम्बंध भी उक्त आचारों के साथ था।

ह्राज़नी हिट्टायट या हत्ती जन के साथ आर्यों का सम्बंध स्वीकार करते हैं, सुमेर-निवासियों के साथ नहीं, यह स्मरणीय है। हत्तीभाषा भी अब भारोपीय परिवार की मानी जाती है। इस भाषा में धार्मिक ग्रन्थ मिले हैं जिनमें धारणी, प्रार्थनाएँ, जादू के मंत्र तथा गीत मिलते हैं। यज्ञों का वर्णन भी मिलता है। उक्त लेखक इन धार्मिक ग्रन्थों का समय ईसा पूर्व १६०० वर्ष मानते हैं। हत्तीभाषा भाषियों के सिवाय 'हुरियन' भी शायद आर्य थे। इनके यहाँ वैदिक देवों के उल्लेख मिलते है। ह्राज़नी के अनुसार १६०० ईसा पूर्व के आसपास एशिया का पश्चिमी-भाग आर्यों का क्षेत्र था। इस काल में आर्य उत्तरी मैसोपोटामिया तक फैल गए थे। अश्वपालन और रथ-दौड़ों के उल्लेख हत्तीभाषा में मिलते हैं। ह्राज़नी के

अनुसार ई० पूर्व ४००० से ३००० तक अश्व का उल्लेख नहीं मिलता। इनके अनुसार यह सम्भव है कि ई० पूर्व० ३००० से २००० के बीच कभी हिट्टायट प्रदेश से आर्यों ने भारत के पश्चिमीभाग पर अधिकार कर लिया हो और बाद में आर्यों के प्रवाह आते रहे हों। इस प्रकार ह्राज़नी के अनुसार प्रारम्भिक आर्यों का आदि स्थान सीरिया, पूर्वी एशिया माइनर तथा उत्तरी मैसोपोटामिया था !

इन हत्ती लोगों या प्रारम्भिक आर्यों में १००० देवता थे ! सूर्यदेव पूज्य थे, इनका बलिपशु था वृषभ। वीरता का देवता 'इनर' या 'इनरश' था, इसीसे शायद 'इन्द्र' का विकास हुआ। अर्थात् वेद भारत में लिखे गए किन्तु उनके पूर्व आर्यों के देवता थे, उन्हीं से भारतीय देवताओं का विकास हुआ।

सिन्धुघाटी की लिपि पढ़कर ह्राज़नी ने सिद्ध किया है कि सिन्धुसभ्यता में में आर्य सभ्यता का 'पूर्वरूप' मिलता है अर्थात् प्रारम्भिक आर्यों का सम्बंध मोहन-जोदड़ो की सभ्यता से भी था ! सील नं० ८६ में उक्त लेखक ने 'नात्य' शब्द पढ़ा है जिसका स्पष्ट अर्थ 'नटराज' से है। 'व्रात्य' शब्द का भी उल्लेख मिलता है ! व्रात्य का अर्थ था दिव्य पक्षी या ऋषि। ह्राज़नी के अनुसार संस्कृत भाषी आर्यों के लगभग एक हज़ार वर्ष पूर्व ही सिंधु-सभ्यता अनेक 'प्रोटो-इंडियन' देवताओं को मान चुकी थी।

सिंधु सभ्यता में कोशी, कुशी, कुशि, कुशिश या कुशीय देवता का उल्लेख मिलता है। इसी तरह शंकुन्त्य, शकुनि (पक्षी) तथा ययश (yayash) के उल्लेख हैं। ययश वन्य पशुओं से सिंधुवासियों की रक्षा करता था। नं० ६२ के चित्र में एक 'यंत्र' मिलता है, दूसरे पार्श्व पर वृक्ष-पूजा दिखायी गई है। पीपल का वृक्ष भी अंकित मिला है, जिस पर देवता का निवास है। एक पानी का जहाज़ या बड़ी नौका मिलती है जिसके साथ नाविक भी है। दो पगचिह्न मिलते हैं जो 'विष्णु के पगचिह्नों' का स्मरण दिलाते हैं। यह स्मरणीय है कि विष्णु द्वारा विश्वमाप का यह प्रतीक उत्तरी मैसोपोटामिया में १९३८ ई० में मिल चुका है और इसका समय २६०० ई० पूर्व है ! ह्राज़नी के अनुसार yayash का अर्थ है, 'यात्रा' अर्थात् विष्णु की यात्रा से 'ययश' का सम्बंध स्थापित किया गया है।

सिंधु की की घाटी में प्रसिद्ध पशुपति की योगमग्न मुद्रा भी अंकित मिलती है। पशुपति की सील पर लिखा है—

"Here is the Sacrificial fee for god kueya"

इसी प्रकार शिव की पत्नी दुर्गा का भी उल्लेख मिलता है—जो सिंहवाहिनी है। शिव के साथ हाथी भी मिलता है, गणपति का प्रारम्भिक रूप शायद यही है।

एक अन्य ताबीज पर शिया (Shiya) देवी का उल्लेख मिलता है। इसमें देवी चित लेटी हुई है और उसके पेट से एक पौधा निकल रहा है। इसी ताबीज की पीठ पर एक मनुष्य एक स्त्री की बलि दे रहा है। प्रो० ह्राज़्नी ने प्राचीन शाक्तमत के विषय में स्पष्ट लिखा है—स्त्री की बलि और शेरवाहिनी दुर्गा से यह स्पष्ट है कि देवी को बलि दी जाती थी और यह देवी रक्त-प्रिया और भयंकर थी। एशिया माइनर में भी इस देवी का सम्प्रदाय प्रबल था ! देवी से भयभीत व्यक्ति ताबीजों पर स्वस्तिक चिह्न बनाते थे। शिया या शिवा देवी का प्रतीक योनि था ! देवी पर ख़रगोश की भी बलि दी जाती थी।

सिंधु-घाटी में एक उसह्शि या उषा का भी उल्लेख मिलता है। इसी तरह एक अंकुश या अंकु देवता का उल्लेख है जो वेद के आदित्य से सादृश्य रखता है ?

इस प्रकार प्रारम्भिक आर्य-देवताओं का आदिस्रोत हत्ती-जन के देवताओं को माना गया है। हत्तीदेव yae यइ ही विष्णु हुए, कुयेयश ही शिव बने और शन्ताश (Shantash) ही इन्द्र के रूप में विकसित हुए। डॉ० हर्षे के विपरीत प्रो० ह्राज़्नी ने प्रमाणित किया है कि बेबीलोन के देवताओं का प्रारम्भिक आर्य-देवताओं पर प्रभाव पड़ा था !

इस प्रकार ह्राज़्नी के अनुसार ३००० ई० पूर्व के आसपास एशिया माइनर, उत्तरी सीरिया तथा उत्तरी पश्चिमी मैसोपोटामिया से सिंधु-घाटी में आकर लोग बस गए होंगे। उसके बाद २००० ई० पूर्व, द्रविड़ों का आक्रमण सिंधु की घाटी पर हुआ होगा और तत्पश्चात् वैदिक आर्यों का आक्रमण हुआ होगा जिन्होंने द्रविड़ों और अन्य सिंधुवासियों को दस्यु कहा।

यदि प्रो० ह्राज़्नी सिन्धु-लिपि को पढ़ सके हैं और उन्होंने पढ़ने में भूल नहीं की है तब पश्चिमी एशिया में प्रारम्भिक आर्यों का सम्बंध और प्रारम्भिक आर्यों और परवर्ती वैदिक आर्यों का सम्बंध स्पष्ट हो जाता है।

किन्तु यदि प्रो० ह्राज़्नी के लिपिज्ञान को अभी पूर्ण न भी माना जाय तो भी सिन्धु-घाटी के पुरातत्व से इतना स्पष्ट है कि सिन्धु घाटी में चाहे कुछ

वैदिक आर्यों के देवताओं से सादृश्य हो लेकिन मूलतः सिन्धु - घाटी का धर्म और पूजा वैदिक आर्यों से भिन्न थी।

सिन्धु घाटी में शिव और शक्ति की उपासना, मंत्र, वृक्षपूजा, नागपूजा, बलि, यंत्र आदि की प्रमुखता है अर्थात् इसे हम 'प्रारम्भिक भारतीय धर्म' कह सकते हैं किन्तु वेदों में यज्ञों की प्रधानता है। इसके अतिरिक्त पुरुष देवताओं की प्रधानता है, देवियाँ वहाँ इतनी महत्वपूर्ण नहीं हैं। अतः विजेता आर्य - जनों की जिस प्रकार शस्त्र कला भिन्न थी, संगठन भिन्न था, इसी प्रकार उनका धर्म भी पर्याप्त भिन्न था। देवताओं का सादृश्य अवश्य मिल सकता है परन्तु वैदिक यज्ञ और देवतावाद को आर्य सर्वथा 'अपना' मानकर उसपर गर्व करते थे।

ऋग्वेद का देवतावाद पुरुष प्रधान है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि प्राचीन - तर मातृसत्तात्मक व्यवस्था को आर्य क़बीले पीछे छोड़ चुके थे यों उनमें मातृसत्ता- त्मक व्यवस्था के अवशेष अवश्य मिलते हैं। यह भी प्रमाणित होता है कि कतिपय क़बीलों में मातृसत्तात्मक व्यवस्था का कुछ अधिक प्रचलन था किन्तु 'समग्रतः' वैदिक क़बीलावाद पितृसत्तात्मक था। इसके विपरीत सिन्धु घाटी की सभ्यता में शक्तिपूजा के प्रमाण अधिक मिलते हैं अतः यह सम्भव है कि मोहन जोदड़ो और हड़प्पा की सभ्यता में मातृसत्तात्मक व्यवस्था की मात्रा अधिक हो किन्तु यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि प्राग्वैदिक युग में जादू, मंत्र, तंत्र, शक्तिपूजा, बलि, योग आदि का प्रचार अनार्य क़बीलों में अति प्राचीन काल से चला आ रहा था। ऋग्वेद का धर्म इससे भिन्न है क्योंकि वह यज्ञपरक और पुरुष देवतावादी है।

ऋग्वैदिक युग स्पष्टतः क़बीला-युग था क्योंकि वैदिक युग में टॉटेमपरक नाम बहुत मिलते हैं। स्वयं वैदिक संहिताओं के नाम टॉटेमपरक हैं—शाकल (सर्प), मांडूक्य (मेढ़क) शार्दूल्य (शेर), तैतरीय (तीतुर), वाराह (शूकर), छागलेय (बकरा) आदि। इसी प्रकार ऋषियों के नाम भी अधि- कांशतः टॉटेमपरक हैं। प्रश्न यह है कि वैदिक क़बीलावाद का आर्थिक आधार क्या था ? इस विषय में विवाद है किन्तु प्रारम्भिक वेदों के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि पशुचारण-प्रधान ही यह व्यवस्था थी जिसमें कृषि प्रारम्भिक सोपानों में पशुचारण - व्यवस्था की सहायक बनी और उत्तर - वैदिककाल में कृषि-उत्पादन प्रमुख हो गया। पशुचारण - व्यवस्था में क़बीलों के मुखिया 'राजा' होते थे और कृषि - उत्पादन - व्यवस्था में अर्थात् उत्तर वैदिक काल में अनेक क़बीलों के स्थायी रूप से बस जाने पर और क़बीलाई - समता के विशृङ्खल होने पर 'राज्य - व्यवस्था' का विकास

हुआ और ऋग्वेद के आर्य और दस्यु तथा बाद में 'आर्य और शूद्र'— इन वर्गों के स्थान पर, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्गों का विकास हुआ। क़बीलों के रूप में संगठित आर्यों में वर्ग - वैषम्य का विकास हुआ किन्तु इसके साथ ही क़बीला - व्यवस्था से अधिक प्रगतिशील कृषि - व्यवस्था और राज्य व्यवस्था का विकास हुआ जिसमें नाना क़बीले नये वर्गों में विभाजित होकर एक राष्ट्र के रूप में विकसित हो रहे थे। संक्षेपतः ऋग्वैदिक युग से लेकर उत्तर वैदिक काल तक अर्थात् महाकाव्यों के युग से पूर्व तक यही उक्त सामाजिक विकास हुआ और इसी अवधि में वैदिकधर्म और तांत्रिकधर्म का समानान्तर विकास के साथ साथ, परस्पर - प्रभाव-ग्रहण भी हुआ।

ऋग्वेद के मंत्र अधिकतर पुरुष - देवताओं को संबोधित किये गए हैं किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इस वेद में देवियों का कुछ भी महत्व नहीं है। अंततः पितृसत्तात्मक व्यवस्था में प्राचीन मातृसत्तात्मक व्यवस्था सर्वथा विस्मृत हो नहीं सकती थी। इसके सिवा अनार्य आदिवासियों का भी प्रभाव रहा होगा। अतएव ऋग्वेद के परवर्ती दशम मंडल में प्रसिद्ध 'वाग्देवी' के मंत्र हैं जिनमें शक्ति नारी रूप में वर्णित है। शाक्त इसी देवी को सर्वाधिक महत्व देते हैं। इसी सूक्त में वाणी के चार रूप — परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी, मिलते हैं। इसके सिवाय, दशम मंडल में ही 'शची' का वर्णन प्राप्त है। यह मांस, मदिरा और मैथुन की अभिलाषिणी देवी है। यहाँ शिव - शक्ति का रूप इन्द्र - और शची के रूप में मिलता है। इनके सिवा सिनीवाली, श्रद्धा, सूर्या, सरमा, इला, रुद्र - पत्नी, महिलुषी और भारती आदि देवियों के उल्लेख भी मिलते हैं। दशम मंडल में एक पूरा 'गो' सूक्त मिलता है। इसी वेद के रात्रिसूक्त से शाक्त 'काली' का सम्बंध जोड़ते हैं। इसके सिवाय रुद्र; अहिर्बुध्न्य, और भग तांत्रिक देवताओं के पूर्वरूप हैं।

निश्चित रूप से उक्त सूक्तों से परवर्ती तांत्रिकों ने प्रेरणा प्राप्त की है परन्तु तंत्रों का मुख्य स्रोत अथर्ववेद रहा है। यह स्मरणीय है कि अथर्ववेद को उत्तर-वैदिककाल में भी अन्य तीन वेदों जैसा सम्मान प्राप्त नहीं हो सका।

अथर्ववेद के विशेषज्ञ श्री एन० जे० शिन्दे के अनुसार अथर्ववेद के ऋषि भिन्न परंपरा के थे।[1] अथर्ववेद का ऋषि तपस्या और तांत्रिक क्रियाओं द्वारा 'शक्ति-

(1) The Foundations of the Athervanic Religion—N. J. Shende, Mysore

प्रात' में विश्वास करता था। अथर्ववेद का ऋषि पुरोहित, जादूगर, वैद्य और द्रष्टा होता था। प्रश्न यह है कि जादू और अभिचार-प्रधान अथर्ववेद शुद्ध आर्य-परंपरा में विकसित हुआ अथवा अथर्ववेदियों ने अनार्य आदिवासियों से ज्ञान उधार लिया। श्री शिन्दे का कथन है कि अथर्व केवल अनार्यों से ही नहीं ग्रहण किया गया क्योंकि जादूगीरी या यातु-विद्या आर्यों में भी प्रचलित थी किन्तु यह श्री शिन्दे भी मानते हैं कि यातु-विद्या और अभिचार अनार्यों से भी ग्रहण किया गया होगा क्योंकि ग्रामों में अनार्य पुरोहितों को प्रभाव क्षीण करने का एक मात्र ढंग था, उनके ज्ञान-क्षेत्र में उनसे भी अधिक प्रवीणता प्रदर्शित करना। वस्तुतः अथर्ववेद में एशिया माइनर, मिस्र, मैसोपोटामिया और सिंधु घाटी में प्रचलित आदिम अथवा प्राग्वैदिक विश्वासों को स्वीकार कर लिया गया है जो मुख्यतः यातुविद्या और अभिचार-प्रधान था और जिसमें बलि, योग शक्तिपूजा आदि का अधिक प्रचार था अतः तांत्रिक धर्मों का आदि स्रोत प्राग्वैदिक आदिम क़बीला-व्यवस्था में देखा जा सकता है। यही कारण है कि आर्यों द्वारा वर्गवादी सभ्यता की स्थापना का प्रारम्भ से ही इस तांत्रिक धारा ने विरोध किया है और ईसा की द्वितीय शताब्दी के बाद जब वर्गवादी सामाजिक व्यवस्था के अंतर्विरोध बहुत तीव्र हो जाते हैं, तब यह तांत्रिक धारा शैवमत, शाक्तमत, पांचरात्रमत और तांत्रिक बौद्धमत के रूप में संगठित होकर वर्गवाद और वर्णवाद का घोर विरोध करती है अतः वैदिकयुग में अथर्ववेद प्राग्वैदिक अथवा अनार्य विश्वासों का प्रतिनिधित्व करता है। यह तो प्रसिद्ध ही है कि अथर्ववेद की स्वीकृति के लिए बहुत से ऋग्वेद के मंत्र अथर्ववेद में मिला दिए गए हैं।

अथर्ववेद में यातु-विद्या, अभिचार, कृत्या आदि के अतिरिक्त, जिनका तंत्रों में विकास हुआ, तांत्रिक-दर्शन की कतिपय धारणाएँ भी मिलती हैं। यहीं सर्वप्रथम पिण्ड और ब्रह्माण्ड, गुह्यज्ञान, गूढ़ कामतत्व, प्राणतत्व और कालतत्व का विस्तार से वर्णन मिलता है। तंत्र और आगम भक्ति के भी स्रोत हैं और यह भक्तितत्व वस्तुतः देवता को क्रिया द्वारा प्रसन्न करने की क्रियाओं में निहित है। भक्ति के भी दो रूप दिखायी पड़ते हैं—प्रथम में क्रियाओं और मंत्रों द्वारा देवता को वरदान या सिद्धि के लिए विवश कर दिया जाता है और द्वितीय में देवता की 'कृपा' पर निर्भर रहना पड़ता है। मध्यकालीन भक्ति में केवल देवता की कृपा या अनुग्रह पर ही बल दिया गया है जबकि अथर्ववेद में और प्राग्वैदिक धर्मों में वह प्रथम प्रकार की 'भक्ति' से मिश्रित रूप में मिलती है। इसी प्रकार तंत्रों में 'मंत्रशक्ति' का महत्व

सर्वाधिक है और मंत्र का चमत्कार सबसे अधिक अथर्ववेद में ही दिखाई पड़ता है। कौशिक गृह्यसूत्रों में इसी शक्ति का विकास मिलता है।

अथर्ववेद में राक्षसों अर्थात् अनार्यों की 'माया' का वर्णन अधिक है। 'अभिचार' से अनार्यों का विशेष सम्बंध जान पड़ता है। अभिनवगुप्त ने 'तंत्रालोक' में तंत्रों की परंपरा में अनेक निशाचरों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार यक्ष और दानव भी तंत्रवेत्ता थे।[1] तंत्रों के नामों से भी लगता है कि यह शास्त्र अवैदिक परंपरा से पोषित हुआ है। 'मातंगतंत्र' और 'निशाचरतंत्र' जैसे नाम इसीलिए स्वीकार किये गए हैं। चूंकि तंत्रों में ज्ञान-साधना और भक्ति के अतिरिक्त भौतिक ज्ञान पर भी बल दिया गया है; रसायनशास्त्र, ज्योतिष, आयुर्वेद और शरीरशास्त्र तांत्रिक-परंपराओं में ही विकसित हुए हैं और असुरों, राक्षसों आदि में भौतिक-ज्ञान अधिक विकसित था अतः इस दृष्टि से भी तांत्रिक परंपरा आर्य परंपरा से कहीं अधिक अनार्य-परंपरा की अधिक ऋणी है। अथर्ववेद में स्पष्टतः कहा गया है कि ओषधि को आसुरी माया ने उत्पन्न किया है।[2] जिसे 'ब्लैकमैजिक' कहा जाता है, उसके स्रोत भी अनार्य-परंपरा में अधिक मिलते हैं। सर्वप्रथम अथर्ववेद ने इसे स्वीकार किया और बाद में आर्य-परंपरा में भी इसका अभ्यास किया गया फिर भी अथर्ववेद की परंपरा में तांत्रिक परंपरा का इस 'ब्लैकमैजिक' पर विशेषाधिकार रहा।

अथर्ववेद में माया या जादू की इतनी प्रधानता है कि श्री एन० जे० शिन्दे तो ब्रह्म के साथ माया का सम्बंध जोड़ने में अथर्व-परंपरा का ही प्रभाव मानते हैं। ब्रह्म अपनी माया से ही यह सृष्टि रचता है और माया द्वारा ही शासन करता है। आगे चलकर अथर्ववेद की यह माया या जादू का सम्बंध वेदान्तियों ने अपने 'ब्रह्म' से जोड़ कर 'मायावाद' का प्रवर्तन किया और भक्तों ने विष्णु या शिव की एक शक्ति के रूप में इस 'माया' को स्वीकार कर लिया। कृष्ण की 'योगमाया' प्रसिद्ध है! इस प्रकार एक आदिम विश्वास ही बाद में 'मायावाद' के रूप में विकसित हुआ।

इसके सिवाय अथर्ववेद में परावाक् का विस्तृत वर्णन मिलता है। यदि सायण का भाष्य स्वीकार किया जाय तो वाणी विषयक सम्पूर्ण तांत्रिक ज्ञान यहीं सुरक्षित मिलता है।

---

(१) तंत्रालोक—३६ आह्निक—पृष्ठ ३८२-८८

(२) अथर्व०—काण्ड १, अनुवाक ५ सूक्त ३ और मंत्र ४

यह तो स्पष्ट ही है कि अथर्ववेद की यातुविद्या और अभिचार में पंचत्रय अथवा पंचमकार का प्रयोग होता था और यही प्रवृत्ति तंत्रों में मिलती है।

यही नहीं तांत्रिकों की प्रसिद्ध 'चक्रसाधना' का भी स्पष्ट वर्णन अथर्ववेद में मिलता है जो आगे चल कर 'तांत्रिकयोग' की विशिष्टता बन गई। यह स्मरणीय है कि यह 'चक्रयोग', पतंजलि के 'योगशास्त्र' में नहीं मिलता। चक्रयोग का विकास तांत्रिकों की विशिष्टता है जो आगे चल कर गोरखनाथ द्वारा प्रचारित होकर, नाथों के माध्यम से सन्तकवियों तक पहुँचा—

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषा वृतः।

आठ चक्र और नौ द्वार वाली देवताओं की अर्थात् इन्द्रियों की यह अयोध्या-पुरी है, उसमें हिरण्यमय स्वर्गप्रद कोश ज्योति से आवृत है।

'योग' का भी स्पष्ट वर्णन अथर्ववेद में मिलता है—

न सेशे यस्य रोमशं निषेदुषो विजृम्भते।
सेदीशे यस्य रम्बतेन्तरा सक्थ्यो ३कपृद विश्वस्मादिन्द उत्तरः।[1]

मंत्र का भाव यह है कि आसन लगा कर बैठने वाला वही योगी सफल होता है जिसका रोम भी चंचल न हो!

यह भी स्मरणीय है कि अथर्ववेद में व्रात्य तपस्वियों और योगियों की अत्यधिक प्रशंसा की गई है।

तंत्र की उत्पत्ति पर 'लोकायत' नामक ग्रन्थ में श्री देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय ने विस्तार से प्रकाश डाला है। 'लोकायत' में भारतीय भौतिकवाद के पुनरुद्धार का प्रयत्न किया गया है क्योंकि भारतीय दर्शनों पर लिखने वाले लेखक अधिकांशतः आदर्शवादी (आइडियलिस्ट) रहे हैं अतः उन्होंने भारतीय भौतिकवाद को महत्व ही नहीं दिया, उसे विकृत रूप में प्रस्तुत करके चार्वाक और अन्य लोकायतों की घोर निन्दा की है। 'लोकायतमत' के अतिरिक्त श्री देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय ने तांत्रिक धारा को भी भौतिकवादी धारा के रूप में स्वीकार किया है।

तांत्रिकधारा की उत्पत्ति श्री चट्टोपाध्याय ने प्रारम्भिक कृषि - व्यवस्था के साथ सम्बद्ध की है। समाजशास्त्र और नृविज्ञान के अनुसार कृषि का आरम्भ

(१) अथर्व०—काण्ड २०, अनुवाक ६ सूक्त ३ मंत्र १७

स्त्रियों द्वारा हुआ क्योंकि पुरुष आखेट करता था तव स्त्रियाँ घर के आस पास अन्न के पौधे उगा लेती थीं, अथवा स्वयं उगे हुए पौधों की रक्षा करतीं, फसल पकने पर उनकी बालें तोड़तीं और दाने निकालती थीं। तांत्रिक धर्म में स्त्रियों की प्रधानता है, स्त्री शक्ति की ही पूजा होती है और 'शक्ति' ही वहाँ सर्वस्व है अत: श्री चट्टोपाध्याय का अनुमान है कि तांत्रिक धर्म प्रारम्भिक कृषि के समय से चला आ रहा है।

किन्तु इस सम्बंध में मेरा निवेदन यह है कि तंत्रों में केवल कृषि-सम्बंधी आचार ही नहीं हैं। वस्तुत: तंत्रों में 'मुक्तयौन सम्बंध' और नियमों के विरुद्ध जाने की प्रवृति अधिक है। इससे यह स्पष्ट है कि आदिमसाम्यवादी व्यवस्था की यादगार तंत्रों में सुरक्षित चली आई है और वर्गों, वर्णों और जातियों में विभाजित समाज के विरुद्ध तंत्र कबीलाई समता और स्वच्छन्दता के प्रचारक हैं। कबीलाई व्यवस्था में किस सोपान से तांत्रिकधर्म निकला, यह कहना कठिन है क्योंकि इतने प्राचीन युग का अनुमान ही सम्भव है।

श्री चट्टोपाध्याय का मत है कि सामाजिक विकास में मातृ-प्रभुत्व दो सोपानों में दिखायी पड़ता है। प्रारम्भिक आखेट-अवस्था में मातृ-प्रभुत्व था, तब नारी पुरुष के साथ मिल कर शिकार करती थी और शायद शारीरिक बल में भी कम न थी किन्तु आखेटक-अवस्था के अन्त तक आखेट का कठिन कार्य पुरुष करने लगा और प्रजनन की बाधा के कारण घर का काम अधिकतर स्त्रियाँ करने लगीं। अत: पुरुष प्रभुत्व स्थापित हुआ किन्तु आखेटक पुरुषों का साथ न देकर स्त्रियों ने उससे भी महत्वपूर्ण कार्य यह किया कि वह अनाज के पौधों को घर के आस पास उगाने लगीं और अन्न का प्रयोग भोजन में होने लगा, फलत: मातृ-प्रभाव पुन: बढ़ा और तंत्रों में कृषि सम्बंधी आचार अधिक होने से तांत्रिकधर्म की उत्पत्ति का सम्बंध प्रारम्भिक कृषि के साथ जोड़ा जा सकता है किन्तु प्रारम्कि आखेटक अवस्था में मुक्तयौन सम्बंध प्रचलित था और तंत्रों में यौन-स्वातंत्र्य का प्रचार है, तब यदि कोई कहे कि तंत्रों का सम्बंध आदिम-आखेटक-अवस्था से था; तब क्या उत्तर होगा? अतः मेरा निवेदन यह है कि तांत्रिक मत आदिम आखेटक अवस्था से लेकर वर्गवादी समाज के पूर्व तक की सम्पूर्ण 'कबीलाई व्यवस्था' की यादगार है! और वर्गवादी समाज से; इसी 'यादगार' की प्रेरणा लेकर; तांत्रिक शताब्दियों तक लड़ते रहे हैं।

यह एक सत्य है कि तंत्रों में कई आचार कृषि सम्बंधी प्रतीक होते हैं। श्री चट्टोपाध्याय के अनुसार तंत्रों में 'वामाचार' अर्थात् वामा + आचार =

स्त्रियों का आचार स्वीकृत है। श्री चट्टोपाध्याय कहते हैं कि 'षट्चक्रवेधसाधना' में चक्र नारीत्व के स्थान हैं क्योंकि प्रत्येक चक्र में एक-एक त्रिकोण मिलता है। प्रत्येक चक्र में एक-एक शक्ति को अवस्थित माना गया है। तांत्रिक योग का रहस्य है—"प्राणायामादि द्वारा मूलाधारस्थित शक्ति को जागृत कर सहस्रारस्थित शक्तिमान से एक करना। यही अद्वैतावस्था है। इस प्रकार तांत्रिक योगसाधना 'स्त्री' बनने का प्रयत्न मात्र है!" इस व्याख्या द्वारा श्री चट्टोपाध्याय यह सिद्ध करना चाहते हैं कि कृषि की उत्पत्ति के कारण और कृषि-आचारों से सम्बद्ध होने के कारण तंत्रों में नारी की महिमा का गायन है। इसके सिवा वह कहते हैं कि शाकम्भरी देवी का स्पष्टतः कृषि से सम्बंध है 'दुर्गापूजा' में 'पूर्णघट' के ऊपर पुष्प, फलादि रखे जाते हैं। 'देवीयंत्र' में त्रिकोणों की स्थापना की जाती है। सर्वतोभद्रमंडलयंत्र में भी त्रिकोण रहता है जो योनि का प्रतीक है। लतासाधना में भी योनिपूजा होती है। श्री चट्टोपाध्याय कहते हैं कि 'योनिपूजा' द्वारा लोग आशा करते कि फसल अच्छी होगी! इसका ध्वंसावशेष यह प्रथा है कि अनावृष्टि होने पर स्त्रियाँ रात में नग्न होकर निकलती हैं और विश्वास है कि इससे वर्षा होती है! इसी प्रकार 'खपुष्प' की पूजा और 'सिंदूर' के प्रति आकर्षण भी अधिक उत्पादन के लिए था। पंचमकार में मद्य और मैथुन का ही अधिक महत्त्व है। चट्टोपाध्याय जी कहते हैं कि यह भी उत्पादन के प्रति रुचि के कारण था। मद्य को कबीलों में आज तक उत्पत्ति का सहायक तत्त्व माना गया है और मैथुन का महत्त्व संतान और अन्न की उत्पत्ति के कारण था। इस प्रकार 'सम्पूर्णतांत्रिकसाधना' कृषि सम्बंधी जादू की क्रिया मात्र है! इन क्रियाओं से लोग समझते थे कि उत्पादन अधिक होगा।

इस व्याख्या में अत्यधिक सरलीकरण प्रतीत होता है पर यह व्याख्या सर्वथा मौलिक और आकर्षक है। तंत्रों के विद्वानों ने श्री चट्टोपाध्याय के पूर्व यह नहीं देखा कि साधनाएँ सामाजिक-विकास का मर्म अपने गर्भ में छिपाये हुए हैं। फिर भी यह कहना होगा कि चक्र-साधना का जब तक प्रागैतिहासिक युग में प्रमाण नहीं मिलता तव तक यह नहीं कहा जा सकता कि यह उत्पादन-वृद्धि का जादू मात्र है। अपने विकसित रूप में तंत्रसाधना पुरुष-प्रधान समाज में ही विकास को प्राप्त हुई है अतः मैं तंत्रों को उन्नतकृषिव्यवस्था अथवा सामंतवादी समाज के विरुद्ध विद्रोह के रूप में देखता हूँ क्योंकि सामंतवादी व्यवस्था के पुरोहितों ने जो भी सामाजिक और धार्मिक नियम बनाये थे, तांत्रिकमत उन सबके विरुद्ध

स्वच्छन्दतावादी और समतावादी दृष्टिकोण लेकर चला है अत: प्रत्येक तांत्रिक क्रिया की कृषिसम्बंधी व्याख्या द्रविड़-प्राणायाम मात्र है। फिर साधना में जो सूक्ष्म और जटिल आचार चल पड़ते हैं, वे प्राय: प्रतीकात्मक होते हैं और आंतरिक सत्यों का बोध कराने के लिए कल्पित होते हैं अत: उन प्रतीकों को देखकर उनसे किसी सामाजिक व्यवस्था का दोहन अतिसरलीकरण है। फिर भी इस विषय पर अभी अनुसंधान की और आवश्यकता है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि तांत्रिक आचार आर्येतर है और उसकी स्वीकृति, आर्यपरंपराओं में सर्वप्रथम अथर्ववेद में मिलती है यद्यपि अथर्ववेद का तांत्रिकमत अभी अविकसित अवस्था में दिखायी पड़ता है।

यह विचित्र तथ्य है कि यजुर्वेद के यज्ञ और ब्राह्मण-ग्रन्थों द्वारा यज्ञों की व्याख्या में अनेक तांत्रिक तत्त्व मिलते हैं। यहाँ तीन सम्भावनाएँ हो सकती हैं। प्रथम यह कि अथर्व-परंपरा का ब्राह्मणग्रन्थों पर प्रभाव पड़ा हो। ब्राह्मणग्रन्थ वेदों के बाद दीर्घकालावधि में निर्मित होते रहे हैं। द्वितीय सम्भावना यह है कि परवर्ती तांत्रिकों ने अपने कुछ तत्त्वों के समर्थन के लिए इन ग्रन्थों में सादृश्य खोज लिया हो। परवर्ती मतों को वैदिकता सिद्ध करनी पड़ती थी। वेद-विरुद्ध मत मान्य नहीं हो सकता था अत: अवैदिक तत्त्वों की स्वीकृति के लिए उनकी वेदानुकूलता प्रमाणित करनी पड़ती थी। तीसरी सम्भावना यह है कि ब्राह्मणग्रन्थों की कुछ परंपराएँ तांत्रिकों से प्रभावित रही हों। उदाहरण के लिए आर्यसमाजियों का कथन है कि कृष्ण यजुर्वेद 'रावण-परंपरा' का ग्रन्थ है! कारण यह है कि शायद ही किसी ऐसे पशु का उल्लेख ऐसा हो जिसे बलि और मांसभक्षण के लिए कृष्ण-यजुर्वेद में स्वीकृत न किया गया हो। मेरा अनुमान यह है कि उत्तर-वैदिककाल में आर्य और आर्येतर सम्पर्क बढ़ रहा था अत: ब्राह्मणग्रन्थों में तांत्रिकतत्त्व मिल जाते हैं। श्री ब्रजलाल बनर्जी ने आर्थर एवेलोन के 'शक्ति ऐण्ड शाक्त' नामक ग्रन्थ में (पृष्ठ १०४) अपने प्रसिद्ध निबन्ध में वैदिकसाहित्य में सभी तांत्रिक तत्त्व खोज निकाले हैं। उदाहरण के लिए 'मिथुनभावना' वैदिक स्वीकार करते थे। मैथुन धार्मिक कृत्य के रूप में स्वीकृत थी। मैथुन के समय मंत्रोच्चारण का भी विधान था!

सौत्रामणि यज्ञों में सुरापान होता था, इसका उल्लेख अभिनवगुप्त ने तंत्रालोक में भी किया है। तंदुल, पिष्टक, लाज और धान के साथ पशुबलि का भी विधान

था। कृष्ण-यजुर्वेद के बलि-पशुओं की सूची लम्बी है। हिरन, शूकर, बाज, बन्दर, कीट, पतंग, मगर, हाथी, बिल्ली; बकरा, मछली, कठफोड़ा चकवा, कौआ, छिपकली आदि नाना पशु-पक्षियों का उल्लेख कृष्ण-यजुर्वेद में मिलता है।[1] आर्यसमाजी रघुनन्दन शर्मा ने भी यह स्वीकार किया है कि उत्तर वेदी पर पशुबलि होती थी। परन्तु वह यह भी कहते हैं कि पशुबलि संहिता-कालीन नहीं है और कृष्ण-यजुर्वेद की रचना रावण आदि द्रविड़ असुरों ने की है![2] फिर भी रघुनन्दन शर्मा ने मांसपरक शब्दों का अर्थ ओषधिपरक कर दिया है। वस्तुत: आर्यजीवन पशुचारण-व्यवस्था में मांसभक्षी था, आदर्शवादी कुछ भी कहें। बलि यज्ञ का भाग थी परन्तु कृषि का विकास होते ही 'बलि' का महत्त्व कम हुआ होगा अथवा कम से कम ज्ञानी लोग उसका विरोध करने लगे होंगे यद्यपि बौद्धमत के प्रचार के पूर्व 'बलि' का प्रचार बना रहा। अत: यह सम्भव है कि ब्राह्मण-ग्रन्थों में वर्णित यज्ञों में मैथुन-बलि आदि स्वतंत्र रूप से प्रचलित हों यद्यपि आर्येतर साधनाओं के सम्पर्क में आने के कारण इन पर उनका प्रभाव, अवश्य दिखायी पड़ता है। परवर्ती तांत्रिकों ने अपने मत को प्रमाणित करने के लिए इन्हीं वैदिक क्रियाओं को प्रस्तुत किया और सिद्ध कर दिया कि तंत्र अवैदिक नहीं है! बनर्जी के निबन्ध से एक बात स्पष्ट है कि ब्राह्मण-युग में जो जटिल यज्ञ-प्रक्रिया का विकास हुआ, उसके निर्माण में आर्येतर परंपराओं से अवश्य प्रेरणा ली गई है। विवरण देना यहाँ अनावश्यक है। फिर भी इतना कहना आवश्यक है कि खट्-फट् हुम् जैसी ध्वनियाँ ब्राह्मण-काल में आर्येतर साधनाओं में प्रचलित मंत्रो से ली गई होंगीं। 'मुद्रा' और चक्राकार बैठने तथा वेदी बनाने की प्रक्रिया पर भी आर्येतर या तांत्रिक प्रभाव दिखायी पड़ता है। यह अनुमान इसलिए और दृढ़ होता है कि यजुर्वेद के यज्ञों में नये देवताओं की भरती आर्येतर स्रोतों से हुई है। 'रुद्र' का महत्त्व यहाँ बढ़ा है और अम्बा, दुला, अभ्रयन्ती, मेघयन्ती, वर्षयन्ती, असुरपत्नी, पृथिवी, जलदेवी, सिंहिनी या सरस्वती, आदि में सरस्वती के सिवाय अन्य नयी देवियाँ हैं। तैत्तरीय आरण्यक में लिंगपूजा स्वीकार कर ली गई है। इसी तरह ऋग्विधान ब्राह्मण में रात्रि और वाक् देवी की एकता स्थापित कर दी गई है। ऋग्वेद के खिल भाग में रात्रि को स्पष्टत: 'दुर्गा' कहा गया है। तैत्तरीय

(१) कृष्ण यजुर्वेद—५—७—१४
(२) वैदिक सम्पत्ति— ५८३—६०७

आरण्यक में देवी को अग्नि कहा गया है। अग्नि की सात जिह्वाओं को देवियों के रूप में स्वीकार करने की भी प्रवृत्ति है। सात जिह्वाएँ ये हैं—काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रावती, स्फुल्लिङ्गनी, शुचिस्मिता।

स्पष्ट है कि ऋग्वेद के 'रात्रिसूक्त' को आधार मानकर ब्राह्मणकाल में देवी-पूजा स्वीकार कर ली गई थी। आर्यों ने अथर्ववेद में जिस प्रकार स्थानीय आर्येतर विश्वासों को स्वीकार करके सामाजिक सम्मिलन की ओर कदम बढ़ाये थे, उसी प्रकार ब्राह्मणकाल में यह सामाजिक-मिलन की प्रक्रिया और तीव्र हुई और इस तरह आर्य और आर्येतर की खाई सँकरी होती गई।

सामविधान ब्राह्मण को 'शतपथ' का समकालीन नहीं माना जाता। इस ग्रन्थ में स्कन्द, विनायक और विष्णु की पूजा का उल्लेख है। तैत्तरीय आरण्यक में 'गणेश' का उल्लेख मिलता है। विष्णु, को छोड़कर ये सब देवता आर्येतर देवता थे 'गेटी' ने प्रसिद्ध 'गणेश' ग्रन्थ में यह भली भाँति प्रमाणित कर दिया है। गणपति शब्द से ही स्पष्ट है कि 'गणेश' गणों या कबीलों के देवता थे। गेटी ने बताया है कि आर्येतर जनता में प्रचलित विचित्र और स्वेच्छाचारी देवताओं को आर्यों ने शिव के परिवार में शामिल कर दिया है। स्वयं विष्णु के विषय में कहा गया है कि इनकी प्राचीन मूर्तियाँ बड़ी कुरूप हैं, क्रमशः उन्हें सुन्दर रूप दिया गया है। अतः यह सम्भव प्रतीत होता है कि भागवतों के पूर्व विष्णु भी एक स्थानीय देवता था। भागवतों ने 'उपेन्द्र' विष्णु को सुन्दर रूप देकर सर्वश्रेष्ठ देव बना दिया। इस प्रकार 'उत्तर वैदिककाल' में आर्येतर संस्कृति को स्वीकार करके, उसकी आर्य संस्कृति के साथ संगति स्थापित करने पर बहुत बल दिया गया है।

ब्राह्मण-साहित्य का अंतिम अंश उपनिषदों के रूप में विकसित हुआ है, यहाँ केवल प्राचीन उपनिषदों से ही हमारा सम्बंध है, क्योंकि नवीन उपनिषदों का विकास बहुत बाद में हुआ है, यहाँ तक कि शैव-उपनिषदें, शाक्त-उपनिषदें और वैष्णव-उपनिषदें वस्तुतः 'तांत्रिक उपनिषदें' हैं ! उपनिषदों में वृहदारण्यक, छान्दोग्य, ईश, केन, एत्रेय, कठ, प्रश्न, तैत्तरीय, मैत्रेयी, मुंडक, कौशीतकी, माण्डूक्य तथा श्वेताश्वतर उपनिषदें प्राचीन मानी जाती हैं।

औपनिषदिक चिन्तन में वैविध्य मिलता है, अनेक चिन्तकों के विचार यहाँ सुरक्षित हैं। इन विचारकों ने अथर्ववेदीय चिन्तन और साधन-परंपरा से भी लाभ

था। कृष्ण-यजुर्वेद के बलि-पशुओं की सूची लम्बी है। हिरन, शूकर, बाज, बन्दर, कीट, पतंग, मगर, हाथी, बिल्ली; बकरा, मछली, कठफोड़ा चकवा, कौआ, छिपकली आदि नाना पशु-पक्षियों का उल्लेख कृष्ण-यजुर्वेद में मिलता है।[1] आर्यसमाजी रघुनन्दन शर्मा ने भी यह स्वीकार किया है कि उत्तर वेदी पर पशुबलि होती थी। परन्तु वह यह भी कहते हैं कि पशुबलि संहिता-कालीन नहीं है और कृष्ण-यजुर्वेद की रचना रावण आदि द्रविड़ असुरों ने की है![2] फिर भी रघुनन्दन शर्मा ने मांसपरक शब्दों का अर्थ ओषधिपरक कर दिया है। वस्तुत: आर्यजीवन पशुचारण-व्यवस्था में मांसभक्षी था, आदर्शवादी कुछ भी कहें। बलि यज्ञ का भाग थी परन्तु कृषि का विकास होते ही 'बलि' का महत्त्व कम हुआ होगा अथवा कम से कम ज्ञानी लोग उसका विरोध करने लगे होंगे यद्यपि बौद्धमत के प्रचार के पूर्व 'बलि' का प्रचार बना रहा। अत: यह सम्भव है कि ब्राह्मण-ग्रन्थों में वर्णित यज्ञों में मैथुन-बलि आदि स्वतंत्र रूप से प्रचलित हों यद्यपि आर्येतर साधनाओं के सम्पर्क में आने के कारण इन पर उनका प्रभाव, अवश्य दिखायी पड़ता है। परवर्ती तांत्रिकों ने अपने मत को प्रमाणित करने के लिए इन्हीं वैदिक क्रियाओं को प्रस्तुत किया और सिद्ध कर दिया कि तंत्र अवैदिक नहीं है! बनर्जी के निबन्ध से एक बात स्पष्ट है कि ब्राह्मण-युग में जो जटिल यज्ञ-प्रक्रिया का विकास हुआ, उसके निर्माण में आर्येतर परंपराओं से अवश्य प्रेरणा ली गई है। विवरण देना यहाँ अनावश्यक है। फिर भी इतना कहना आवश्यक है कि खट्-फट् हुम् जैसी ध्वनियाँ ब्राह्मण-काल में आर्येतर साधनाओं में प्रचलित मंत्रो से ली गई होंगी। 'मुद्रा' और चक्राकार बैठने तथा वेदी बनाने की प्रक्रिया पर भी आर्येतर या तांत्रिक प्रभाव दिखायी पड़ता है। यह अनुमान इसलिए और दृढ़ होता है कि यजुर्वेद के यज्ञों में नये देवताओं की भरती आर्येतर स्रोतों से हुई है। 'रुद्र' का महत्त्व यहाँ बढ़ा है और अम्बा, दुला, अभ्रयन्ती, मेघयन्ती, वर्षयन्ती, असुरपत्नी, पृथिवी, जलदेवी, सिंहिनी या सरस्वती, आदि में सरस्वती के सिवाय अन्य नयी देवियाँ हैं। तैत्तरीय आरण्यक में लिंगपूजा स्वीकार कर ली गई है। इसी तरह ऋग्विधान ब्राह्मण में रात्रि और वाक् देवी की एकता स्थापित कर दी गई है। ऋग्वेद के खिल भाग में रात्रि को स्पष्टत: 'दुर्गा' कहा गया है। तैत्तरीय

---

(१) कृष्ण यजुर्वेद—५—७—१४

(२) वैदिक सम्पत्ति— ५८३—६०७

आरण्यक में देवी को अग्नि कहा गया है। अग्नि की सात जिह्वाओं को देवियों के रूप में स्वीकार करने की भी प्रवृत्ति है। सात जिह्वाएँ ये हैं—काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रावती, स्फुल्लिङ्गनी, शुचिस्मिता।

स्पष्ट है कि ऋग्वेद के 'रात्रिसूक्त' को आधार मानकर ब्राह्मणकाल में देवी-पूजा स्वीकार कर ली गई थी। आर्यों ने अथर्ववेद में जिस प्रकार स्थानीय आर्येतर विश्वासों को स्वीकार करके सामाजिक सम्मिलन की ओर कदम बढ़ाये थे, उसी प्रकार ब्राह्मणकाल में यह सामाजिक-मिलन की प्रक्रिया और तीव्र हुई और इस तरह आर्य और आर्येतर की खाई सँकरी होती गई।

सामविधान ब्राह्मण को 'शतपथ' का समकालीन नहीं माना जाता। इस ग्रन्थ में स्कन्द, विनायक और विष्णु की पूजा का उल्लेख है। तैत्तरीय आरण्यक में 'गणेश' का उल्लेख मिलता है। विष्णु, को छोड़कर ये सब देवता आर्येतर देवता थे 'गेटी' ने प्रसिद्ध 'गणेश' ग्रन्थ में यह भली भाँति प्रमाणित कर दिया है। गणपति शब्द से ही स्पष्ट है कि 'गणेश' गणों या कबीलों के देवता थे। गेटी ने बताया है कि आर्येतर जनता में प्रचलित विचित्र और स्वेच्छाचारी देवताओं को आर्यों ने शिव के परिवार में शामिल कर दिया है। स्वयं विष्णु के विषय में कहा गया है कि इनकी प्राचीन मूर्त्तियाँ बड़ी कुरूप हैं, क्रमशः उन्हें सुन्दर रूप दिया गया है। अतः यह सम्भव प्रतीत होता है कि भागवतों के पूर्व विष्णु भी एक स्थानीय देवता था। भागवतों ने 'उपेन्द्र' विष्णु को सुन्दर रूप देकर सर्वश्रेष्ठ देव बना दिया। इस प्रकार 'उत्तर वैदिककाल' में आर्येतर संस्कृति को स्वीकार करके, उसकी आर्य संस्कृति के साथ संगति स्थापित करने पर बहुत बल दिया गया है।

ब्राह्मण-साहित्य का अंतिम अंश उपनिषदों के रूप में विकसित हुआ है, यहाँ केवल प्राचीन उपनिषदों से ही हमारा सम्बंध है, क्योंकि नवीन उपनिषदों का विकास बहुत बाद में हुआ है, यहाँ तक कि शैव-उपनिषदें, शाक्त-उपनिषदें और वैष्णव-उपनिषदें वस्तुतः 'तांत्रिक उपनिषदें' हैं ! उपनिषदों में वृहदारण्यक, छान्दोग्य, ईश, केन, एत्रेय, कठ, प्रश्न, तैत्तरीय, मैत्रेयी, मुंडक, कौशीतकी, माण्डूक्य तथा श्वेताश्वतर उपनिषदें प्राचीन मानी जाती हैं।

औपनिषदिक चिन्तन में वैविध्य मिलता है, अनेक चिन्तकों के विचार यहाँ सुरक्षित हैं। इन विचारकों ने अथर्ववेदीय चिन्तन और साधन-परंपरा से भी लाभ

उठाया था। यज्ञयागी आर्यों के सिवाय, नाना कबीलों के 'राष्ट्र' के रूप में परिवर्त्तित होने पर, समाज में भिन्न-भिन्न कबीलों में प्रचलित साधनाएँ और विश्वास प्रचलित रहे होंगे और आर्य-साधकों और आर्येतर साधकों और विचारकों में वह अलगाव अब, नयी सामाजिक व्यवस्था में, सम्भव नहीं था, क्योंकि उत्तर वैदिक-काल में जहाँ एक ओर, आर्य-विस्तार हो रहा था, वहीं देश के एक बड़े भूभाग में आर्यों का शासन पूर्णतः स्थापित हो चुका था और कबीले अब कृषि - प्रधान - व्यवस्था में रह रहे थे। वैदिक युग में पशुचारण प्रधान था और कृषि सहायक थी किन्तु उत्तर वैदिक काल में, कृषि प्रधान हो गई थी और पशुचारण कृषि की सहायक व्यवस्था थी। कबीलाई व्यवस्था में, अलग-अलग कबीलों के अलग देवता थे, टॉटेम-पूजा भी प्रचलित थी किन्तु अब कबीला-सरदारों के शासन के स्थान पर 'राजा' का शासन था। समतावादी कबीले बिखर गए थे और विभिन्न कबीलों में वर्ग-व्यवस्था, जन्म ले चुकी थी, विकसित हो रही थी। नाना कबीलों के देवताओं के ऊपर एक सत्ता की कल्पना अब सुविधा से प्रचलित हो सकती थी अतः ब्रह्मवाद का प्रचार उपनिषदों में सबसे अधिक मिलता है। देश को कबीलाई व्यवस्था से 'राज्य व्यवस्था' में बदलने में इस 'ब्रह्मवाद' का महत्त्वपूर्ण योगदान है। उपनिषदों में 'यज्ञवाद' या कर्मकाण्ड का विरोध भी मिलता है अर्थात् कबीलाई कर्मकाण्ड अब आवश्यक नहीं है क्योंकि वह केवल आर्यों तक ही सीमित हैं। अब यज्ञयाग 'स्थूल' लगने लगता है और सर्वव्यापक सूक्ष्म ब्रह्म और आत्मा का अनुसंधान होता है। भारतवर्ष में चातुर्य से अनेक देवताओं और नाना आचारों को मानने वाली जातियों को इस 'ब्रह्मवाद' के द्वारा एक सांस्कृतिक-प्रवाह में शामिल कर लिया गया अर्थात् 'राष्ट्र' के रूप में भारतीय समाज के विकास के लिए और इसलिए विभिन्न भाषा, भूषा, आचार, धर्म, देवताओं को मानने वाली जातियों के 'सह-अस्तित्त्व' के लिए, तथा आर्य-आर्येतरों में 'भावात्मक एकता' के लिए 'ब्रह्मवाद' एक प्रगतिशील सिद्धान्त था। अब तक इस 'ब्रह्मवाद' के द्वारा ही नाना देवताओं और आचारों में अविरोध स्थापित किया जाता है। 'भेदों में अभेद-दर्शन' का औपनिषदिक-दर्शन एक सामयिक आवश्यकता थी!

अतः उपनिषदकारों के लिए यह असम्भव था कि वे आर्येतर साधनाओं और विचारों से प्रभावित न होते। उपनिषदों में स्पष्टतः अनेक तांत्रिक तत्त्व सुरक्षित हैं।

उपनिषदों में तांत्रिक - मिथुन - भावना का सिद्धान्त मिलता है। वस्तुतः उप - निषद के मिथुनवादी स्थलों को परवर्ती तांत्रिक उद्धृत करते आए हैं यथा "ब्रह्म

एकाकी था, उसने रमण नहीं किया, तब उसने द्वितीय की इच्छा की, वह जिस प्रकार परस्पर आलिंगित स्त्री - पुरुष होते हैं, वैसे ही परिमाणवाला हो गया, उसने इस अपने देह को ही दो भागों में विभक्त कर डाला, उससे पति और पत्नी हुए"[1] शिव - शक्ति की उत्पत्ति से इस कथन का अद्भुत सादृश्य मिलता है। अन्यत्र कहा गया है कि ब्रह्म ने कामना की कि मेरा दूसरा शरीर उत्पन्न हो अत: उस अशनाया रूप मृत्यु ने मन से वेद रूप मिथुन की भावना की, उससे जो रेत (वीर्य) हुआ, वह संवत्सर हुआ। संवत्सर को प्रजापति गर्भ में धारण किये रहा। फिर उसका जन्म हुआ तो उसने 'भाण' शब्द कहा, वही वाक् हुआ।[2]

यहाँ काल और वाक् की उत्पत्ति मिथुन - भाव से बतायी गई है। जगत् की सृष्टि में शिव और शक्ति के मैथुन का सिद्धान्त वृहदारण्यक में शतरूपा - मनु के मैथुन की कथा के रूप में स्वीकृत है।[3] परमशिव के संकल्प और रमण की भावना से ही सृष्टि होती है, यह सिद्धान्त रयि और प्राण के मिथुन के रूप में तथा श्वेता - श्वतर उपनिषद् में शिव और शक्ति के मिथुन की चर्चा के रूप में मिलता है।

यद्यपि उपनिषदों में संन्यासधर्म अर्थात् रागद्वेषदमन की चर्चा अधिक है परन्तु वृहदारण्यक में (६—२—५) नारी - पुरुष - मिलन को यज्ञ के रूप में वर्णित किया गया है, परिणामत: परवर्ती तांत्रिक अपने मत की वैदिकता सिद्ध करने में ऐसे स्थलों को उद्धृत करते आए हैं—

"हे गौतम ! स्त्री ही अग्नि है ! उपस्थ ही समिधि है। लोम धूम है, योनि ज्वाला है, मैथुन - व्यापार अंगार है, आनन्दलेश विस्फुलिङ्ग है" 'इसी प्रकार आत्म-साक्षात्कार के समय के आनन्द की उपमा स्त्री के आलिंगन - जन्य आनन्द से दी गई है। "यह सब ब्रह्म है"— यह सर्ववादी दृष्टि उपनिषदों की विशेषता है, इससे यह भी सिद्ध होता है कि एन्द्रिक आनन्द भी, ब्रह्मानन्द या आत्मानन्द का ही स्थूल रूप है अत: तांत्रिक इस स्थूल आनन्द की प्राप्ति में ब्रह्मानन्द की झलक देख-कर, एन्द्रिक आनन्द द्वारा अतीन्द्रिय - आनन्द प्राप्त करते हैं। वृहदारण्यक के षष्ठ अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण में मैथुन - कर्म का विस्तृत वर्णन मिलता है जो उपनिषदों की कठोर राग - विरोधी दृष्टि को देखते हुए, विचित्र लगता है।

---

१ वृहदारण्यक १—४—३ तथा १—४—१७

२ वही, १—२—४

३ वही, १—४—४

'शब्द - साधना' पर भी उपनिषदें अत्यधिक बल देती हैं। धेनुरूपा वाक् के चार स्तन बताये गए हैं, स्वाहाकार, वषट्कार, हन्तकार और स्वधाकार। इस वाक् रूपी धेनु का वृषभ प्राण बताया गया है और मन को वत्स्य अर्थात् मन, प्राण और वाक् की एकता[1], जो उपनिषदों के पूर्व योगियों में प्रचलित थी, उसे स्वीकार किया गया हैं। उपनिषदों में वाक् - उपासना, प्रणवोपासना, उद्गीथोपा - सना अथवा ओंकारोपासना के रूप में वर्णित है, तांत्रिक - धारा में शब्द - साधना या मंत्रसाधना का महत्त्व अधिक है। बीजाक्षरों की व्याख्याएँ जो तंत्रों में मिलती हैं, उपनिषदों में सुरक्षित हैं। हृ का अर्थ हृदय, 'द' का अर्थ दान, और यम् का अर्थ अक्षर किया गया है।[2] हिंकारोपासना और नादसाधना में अद्भुत सादृश्य मिलता है। पाँच प्रकार के सामगायन को ब्रह्माण्ड व्यापी बताया गया है। पिण्ड में व्याप्त नाद का भी वर्णन है। "प्राण की सहज गति ही हिंकार है, वाग् प्राण ही प्रस्ताव है, चाक्षुष प्राण ही उद्गीथ है! श्रौत्र प्राण प्रतिहार है और मानस प्राण निधन है।[3] छांदोग्य उपनिषत् के अनुसार नाद या सामगान सृष्टि - व्यापी है। सम्पूर्णपदार्थ और क्रियाएँ नादमय हैं अतः नाद - साधना की प्रेरणा भी उपनिषदों से ली गई है। मुंडक में ओउम् को धनुष, आत्मा को बाण और ब्रह्म को लक्ष्य कहा गया है। कहा गया है कि बाण के साथ तन्मय होकर अप्रमत्त होकर शब्दवेध करना चाहिए। (३–४)

साधनात्मक तांत्रिक रहस्यवाद उपनिषदों में स्वीकृत है। यह देख कर आश्चर्य होता है कि कर्मकाण्डी आचार्य उपनिषदों में रहस्वादी कैसे हो गए ? यहाँ वेद के स्थान पर वाक्, मन और प्राण, - साधना का महत्त्व अधिक हो जाता है। सम्पूर्ण पदार्थों और क्रियाओं को प्राणों में स्थित माना गया है अर्थात् ब्रह्माण्ड की पिण्ड परक व्याख्या की गई है—"सूर्य प्राण से ही उत्पन्न होता है और प्राण में ही अस्त होता है अतः प्राण और अपान का व्यापार करे। प्राण के अंतर्गत ही आकाश हैं, वे अमूर्त्त हैं।[4] शाकल्य ने जब याज्ञवल्क्य से पूछा कि रुद्र कौन है तो वह दस इन्द्रियों और मन को ही ११ रुद्रों से अभिहित करते हैं। योगियों की हिता नामक ७२ सहस्र नाड़ियों का उल्लेख भी उपनिषदों में मिलता है।[5] सम्पूर्ण देवताओं का

---

१ वृहदारण्यक—१–६–१ तथा ४–३–५

२ वही—५–३–१

३ छांदोग्य २–२–३

४ वृहदारण्यक—४–२–३

५ वही—२–१–१६

पिण्ड में निवास है यह एतरेय उपनिषद् में भलीभाँति समझाया गया है। (१-२-४)।

कठोपनिषद् में एक सौ नाड़ियों का उल्लेख है। प्रश्नोपनिषद् में कहा है कि एक नाड़ी (सुषुम्ना) द्वारा गमन करने वाला उदान वायु पुण्यकर्म के द्वारा पुण्य-लोक को और पापकर्म द्वारा पापलोक को जाता है। (३-७)। तैत्तरीय उप-निषद् में हृदय के मध्य में स्थित आकाश में पुरुष की सत्ता बतायी गई है, योगियों के लिए यह तथ्य महत्त्वपूर्ण रहा है। सुषुम्ना के विषय में कहा गया है कि सुषुम्ना, मूर्ध-प्रदेश में मस्तक के कपाल को वेधकर विदीर्ण करके निकल गई है। यही 'इन्द्रयोनि' है। तांत्रिक योग में खेचरी मुद्रा (तालु में जिह्वा की स्थापना) तथा सहस्रार-स्थिति का जो महत्व है, वह तैत्तरीय उपनिषद् में भी संकेतित है। छांदोग्य में नारद और सनत्कुमार के संवाद में अतियोग का वर्णन है, जिसमें मन, वाणी, चित्त आदि पर क्रमशः विजय प्राप्त करके पिण्ड-विजय द्वारा मुक्ति प्राप्ति का वर्णन है। चक्रों की कमल के रूपों में कल्पना यहाँ 'पुण्डरीक-गृह' के रूप में मिलती है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में यह पिण्डयोग विस्तृत रूप में मिलता है। यह उपनिषद् स्पष्टतः तांत्रिक शैव-परंपरा से सम्बद्ध है किन्तु इससे यह स्पष्ट है कि उपनिषदों में आर्येतर अथर्ववेदी तांत्रिक साधनात्मक रहस्यवादी परंपरा से प्रेरणा ली गई है और यह प्रवृत्ति सांस्कृतिक-अंतर्भुक्ति के सिद्धान्त को पुष्ट करती है।

तांत्रिक साधना में ध्यान के अगणित रूप प्रचलित हुए। उपनिषदों में ध्यान विषयक मौलिक चिन्तन मिलता है। "जब हम देखते हैं तो हमारी श्वास रुक जाती है, जब हम विचार करते हैं, तो भी श्वास रुक जाती है, जब हम किसी वस्तु के साथ तन्मय होते हैं, तो श्वास-प्रश्वास अवरुद्ध हो जाती है। अतएव ध्यान द्वारा, प्राण को वश में किया जा सकता है। इसी प्रकार चपल चित्तवृत्ति को प्राणा-नुशासन से किसी पदार्थ या भाव पर केन्द्रित करके वश में किया जा सकता है। यह 'प्रतर्दन यज्ञ' कहलाता है।[1]

यह आंतरिक देवताओं का वर्णन है किन्तु तांत्रिक-परंपरा की श्वेताश्वतर उपनिषद में भक्तिभाव का भी वर्णन मिलता है अतः 'भक्ति' का सम्बंध भी तांत्रिक परंपरा से ही घनिष्ठ दिखायी पड़ता है। शैव-परंपरा की यह उपनिषद् भक्तिभाव का सर्वप्रथम ग्रन्थ है। गीता और महाभारत में यही प्रवृत्ति आगे चल

---

१. कौशीतकी—२—५

कर विकसित हुई है। 'महाभारत' में तो शिव ही प्रमुखतम देवता है, जिनकी उपासना कृष्ण, अर्जुन अश्वत्थामा आदि सभी करते हैं। गीता में विष्णु का महत्व अधिक है किन्तु इन देवताओं में रुद्र प्राचीनतर देवता हैं, अतः श्वेताश्वतर जिस तांत्रिक शैव-परंपरा का ग्रन्थ है, उसी ने सर्वप्रथम शिव या रुद्र की भक्ति को शास्त्रीय आधार दिया और उसी आदर्श पर वैदिक देवताओं में महत्वहीन देवता विष्णु को आराध्य बनाकर सात्वतों या भागवतों द्वारा गीता की रचना हुई।

यह भी स्मरणीय है कि तत्त्वतः तांत्रिक शैव परंपरा द्वैतवादिनी थी। पाशुपत मत में द्वैतवाद स्पष्ट है। श्वेताश्वतर उपनिषद में पुरुष और प्रकृति की भिन्नता स्पष्ट है यद्यपि शंकराचार्य ने अद्वैतपरक अर्थ किया है। शैवआगमों में द्वैतवाद प्रबल रहा है, कश्मीरी अद्वैतवाद के पूर्व आगम द्वैतवादी ही मिलते हैं अतः इस दृष्टि से भी श्वेताश्वतर का महत्व स्पष्ट है। तंत्रों की काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत और पुरुष सम्बंधी धारणाएँ श्वेताश्वतर में विद्यमान हैं। पाश का विवेचन भी यहाँ मिलता है। 'जाल' शब्द का भी प्रयोग मिलता है। शंकराचार्य ने 'इंद्रजाल' अर्थ कर लिया है! तंत्रालोक में अभिनवगुप्त ने जाल और मत्स्य शब्दों का प्रयोग किया है और जाल का सम्बंध मत्स्येन्द्रनाथ से जोड़ा है। अथर्ववेद में जिस 'माया' या जादू का वर्णन है, उस माया का जाल से सम्बंध स्वयं श्वेताश्वतर उपनिषद में जोड़ा गया है। इस उपनिषद में ब्रह्म को मायावी और 'जालवान्' कहा गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अथर्ववेद में प्राप्त प्रारम्भिक तांत्रिकधारा, जो वैदिक-ब्राह्मणों के समानान्तर प्रचलित रही, प्रच्छन्न रूप में वह न केवल ब्राह्मण-ग्रन्थों में मिलती है अपितु उपनिषदों में भी वह विद्यमान है और श्वेताश्वतर में तो वह तांत्रिकधारा स्पष्ट दिखायी पड़ती है। जहाँ तक अभिव्यक्ति का प्रश्न है; अथर्ववेदी प्रतीकात्मक और विपरीत - कथन - पद्धति का प्रयोग 'आर्ष-साहित्य' में उत्तरवैदिक काल में बढ़ता दिखायी पड़ता है। बृहदारण्यक में कहा गया है कि "जहाँ द्वैतभाव रहता है, वहीं मनुष्य अन्य - अन्य को सूँघता है, अन्य-अन्य को देखता है। किन्तु जहाँ जिसके लिए सब आत्मा ही हो गया है, वहाँ किसके द्वारा किसे देखे? किसके द्वारा किसे सूँघे? किसके द्वारा किसका अभिवादन करे? जिसके द्वारा इस सबको जानता है, उसे किसके द्वारा जाने?

बाह्याचार की इस कठोर भर्त्सना की परंपरा तांत्रिको में अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है जो मध्यकाल में संतकवियों के काव्य में पुनः नये आवेश के साथ ध्वनित होती है।

प्रतीकात्मक कथन-पद्धति भी उपनिषदों में मिलती है। मुडंकोपनिषद में 'पक्षियों' का वर्णन तथा श्वेताश्वतर में 'हंस' का वर्णन, इसी प्रतीकात्मक पद्धति पर हुआ हैं। इसी तरह 'अजा' और 'अज' का वर्णन भी प्रतीकात्मक है। आंतरिक सत्यों का उद्घाटन ही इनका उद्देश्य है। उपनिषदों के बहुत से प्रतीक संत-परंपरा में प्रयुक्त हुए हैं।

यज्ञ के स्थान पर अंतरावलोकन, तप, योग आदि को आर्येतर परंपरा में अधिक महत्व प्राप्त था, उपनिषदों में अंतरावलोकन, तप, योग ही मुख्य हो गया है और यज्ञ गौण हो गया है, इससे यह सहज ही समझा जा सकता है कि 'सांस्कृतिक अंतर्भुक्ति' की कल्पना निराधार नहीं है किन्तु साथ ही यह भी स्मरणीय है कि अंतर्भुक्ति होने पर भी समाज के भीतर आर्य-परंपरा अर्थात् यज्ञयाग, स्मृतियों के नियम-कानून आदि के विरुद्ध अंतरावलोकन-परंपरा अथवा तांत्रिक-परंपरा ने सर्वदा संघर्ष जारी रखा है। अतः 'राष्ट्र' के रूप में कबीलाई-संघर्ष में जो 'समन्विति' (Synthesis) मिलती है, उसका अर्थ यह नहीं लेना चाहिए कि भारतीय समाज के भीतर शासक और शासित का अथवा उच्च वर्ग और निम्न वर्ग का संघर्ष समाप्त हो गया था। वर्गवादी समाज में यह वर्ग-संघर्ष, कभी वर्ण-संघर्ष, कभी जाति-संघर्ष, कभी सांस्कृतिक संघर्ष और कभी अन्य रूपों में दिखायी पड़ता हैं अतः तांत्रिक-परंपरा जो मूलतः कबीलाई साम्य और वर्ग-वैषम्य-रहित भावना का प्रचार करती थी, उपनिषद-युग के बाद अनेक सम्प्रदायों के रूप में विकसित हुई। वैदिक युग से उत्तर वैदिककाल तक यह धारा आदिम जातियों और कबीलों को आधार बनाकर अथर्ववेद कृष्ण-यजुर्वेद, ब्राह्मण-साहित्य और उपनिषदों को प्रभावित करती है किन्तु उपनिषद-युग के बाद अर्थात् महाकाव्य-युग में स्पष्टतः नाना साधना-सम्प्रदायों के रूप में विकसित हो जाती है। भारतीय समाज के विकास पर जिसकी दृष्टि नहीं है अथवा जो समाज के विकास में 'संघर्ष' और 'समन्वय' के सिद्धान्त को नहीं मानता, वह इन सम्प्रदायों में केवल अंतरावलोकन, योग, शब्द साधना और वाममार्ग को देखता है किन्तु समाज के विकास पर दृष्टि रखकर चलने वाले विचारक यह नहीं भूल सकते कि यह तांत्रिकधारा, ब्राह्मणवादी भारतीय समाजिक व्यवस्था अथवा

वर्ण-वर्गवादी सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध अपनी साधना और विचारों के द्वारा बराबर विद्रोह करती रही है। उपनिषदों के बाद जो तांत्रिक सम्प्रदाय विकसित हुए, उनका नेतृत्व ब्राह्मणों के हाथों में चला गया और इन उच्चवर्गीय मनोवृत्ति वाले साधकों ने तंत्रों की वैदिकता सिद्ध करने में पूरा बल लगाया किन्तु फिर भी तांत्रिक सम्प्रदायों की विद्रोही प्रवृत्ति सदा उनके साथ रही और उन्होंने सर्वदा वर्णवादी, जातिवादी मनोवृत्ति का विरोध किया। जब तक वर्ण और जाति के सिद्धान्त प्रगतिशील रहे अर्थात् कबीलाई व्यवस्था को वर्णवाद और जातिवाद ने 'राज्यवाद' में जब तक परिणत किया तब तक तांत्रिकधारा प्रच्छन्न और असंगठित रूप में आर्येतर साधनाओं के रूप में प्रचलित रही किन्तु बौद्धयुग तक भारतीय समाज का वर्णवाद, जातिवाद या वर्गवाद अंतर्विरोध ग्रस्त हो गया, इतना अधिक, कि 'आर्यवर्णवाद' के विरुद्ध तांत्रिकों, बौद्धों, जैनियों तथा अन्य सम्प्रदायों के रूप में उक्त अंतर्विरोध के विरुद्ध कठोर प्रतिक्रिया हुई। उत्पादन के साधन न बदलने से समाज में 'साम्य' स्थापित होना सम्भव नहीं था किन्तु समाज में 'संतुलन' की स्थापना में इस आर्येतर साधनात्मक या साँस्कृतिक विद्रोह ने पर्याप्त सफलता प्राप्त की, यह स्मरणीय है। अंततः यह सांस्कृतिक विद्रोह निम्न जनता के व्यावहारिक जीवन के विषमता-जन्य असंतोष का ही परिणाम था अतः उपनिषद युग के बाद बौद्धमत, जैनमत, शैवमत, शाक्तमत, वैष्णवमत तथा अन्य आर्येतर विश्वासों को लेकर चलने वाले सम्प्रदायों का अध्ययन, भारतीय समाज में स्थित अंतर्विरोधों को ध्यान में रखकर होना चाहिए और इसके साथ ही उस 'अंतर्भुक्ति' और 'समन्वय' को भी देखना चाहिए जो इन परस्पर विरोधी धाराओं के मिलन से उत्पन्न हुआ था। भारतीय संस्कृति के विकास में केवल 'समन्वय' को ही देखने वालों की यह शुभ कामना आदरणीय है कि विरोधों पर बल देने से 'वर्तमान' में संघर्ष बढ़ेगा किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि समाज के विकास में 'संघर्ष' और 'समन्वय' अथवा 'थीसिस', 'एण्टी थीसिस' और 'सिन्थैसिस' के सिद्धान्त को भुला नहीं सकती। वस्तुतः वर्तमानकाल में उक्त वैज्ञानिक दृष्टि के अभाव के कारण ही उत्तर और दक्षिण, आर्य और आर्येतर में घृणा बढ़ती है। 'सच्ची कहानी' कहने से घृणा बढ़नी नहीं चाहिए, यह भाव जब तक नहीं आयेगा और जब तक धर्म, दर्शन, काव्य आदि का समाज शास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन न होगा, तब तक भूतकाल में किसी सम्प्रदाय या कतिपय विश्वासों के साथ तादात्म्य करके लोग आपस में लड़ते ही रहेंगे। इतिहास के विकास में कोई दमनकर्त्ता और कोई

दमित बनेगा ही, क्योंकि विकास सर्वदा संघर्षात्मक होता है, 'भारतीय संस्कृति' का नारा लगाने वाले इस तथ्य को दृष्टि से सदा ओझल किये रहते हैं और 'संघर्ष' की यह कथा जितनी तांत्रिक सम्प्रदायों के अध्ययन से स्पष्ट होती है, उतनी अन्य सम्प्रदायों के अध्ययन से नहीं होती क्योंकि तांत्रिक धारा दमित वर्गों की, साधना और धर्म के माध्यम से प्रकट होने वाली, विद्रोही वाणी है !

उक्त दृष्टि उपनिषदों के बाद के विकास को समझने के लिए बहुत आवश्यक है क्योंकि उत्तर वैदिककाल में देश के विभिन्न प्रदेशों में क़बीलाई प्रभुत्व के स्थान पर, आर्यों के राज्य स्थापित होते हैं और महाकाव्य-काल में यह राज्य-व्यवस्था और भी मजबूत होती है। गणों का विकास होता है जिनमें किसी एक जाति का प्रभुत्व स्थापित होता है और गण अपना 'राजा' भी चुनते हैं जो 'एकाधिकार' के लिए कंस की तरह संघर्ष भी करते दिखायी पड़ते हैं। यहाँ विवरण का स्थान नहीं है। संक्षेप में 'महाभारत' तथा बौद्ध-साहित्य के अध्ययन से इतना स्पष्ट है कि देश में शक्तिसम्पन्न राज्यों की स्थापना हो जाती है और राजा एकाधिकार अथवा 'केन्द्रीप्रबल शासक' या 'चक्रवर्ती' बनने के लिए संघर्ष करते हैं। राज्य स्थापना का अर्थ है कि विधि और व्यवस्था का जन्म होता है, कृषि और व्यापार की उन्नति होती है, क़बीलाई मुठभेड़ें और अराजकता समाप्त हो जाती है अतः राज्य-व्यवस्था वैदिक शासन से अधिक प्रगतिशील व्यवस्था है किन्तु क़बीला-प्रथा में एक क़बीले के भीतर सदस्य को जो समता और स्नेह मिलता है, वह राज्य-व्यवस्था में सम्भव नहीं है क्योंकि इस व्यवस्था में पुरोहित, योद्धा, व्यापारी कृषक, शिल्पी, श्रमिक आदि वर्ग बन जाते हैं और रक्षा का कार्य सर्वाधिक महत्व-पूर्ण हो जाता है अतः शासक का तथा उनके पथप्रदर्शक विद्वत्वर्ग या ब्राह्मणों या पुरोहितों का आदर होता है।

इस स्थिति में स्वभावतः निम्न वर्ग असंतुष्ट रहता है अतः वह उसे व्यक्त करने के उपाय खोजता है। 'धर्म और साधना' ऐसा ही एक उपाय है। किन्तु विकसित होती हुई राज्य-व्यवस्था में, योद्धाओं के पथप्रदर्शक ब्राह्मणों के द्वारा प्रचारित सिद्धान्तों को एक विशेष गौरव और महत्व मिल जाता है। महाभारत तथा अन्य संस्कृत साहित्य अधिकतर इसी वर्ग द्वारा लिखा गया है। अतः महा-भारत में ब्राह्मण-चिंतन ही है किन्तु पुरोहित वर्ग स्पष्ट देखता है कि देश या जनपद में कई जातियों या क़बीलों के लोग रहते हैं, एक जनपद से दूसरे जनपद में व्यापार चलता है, यातायात होता है। अतः 'एकता' की ओर मन स्वतः

जाता है, अब चिन्तन क़बीलाई मनोवृत्ति में सीमित नहीं रह सकता। अब आर्येतरों को 'दस्य,' कहकर काम नहीं चल सकता क्योंकि समाज की प्रगति का भार सबसे अधिक वही ढोते हैं अतः महाभारत में तथा बाद में पुराणों और काव्यों में 'एकता' के तत्त्वों पर बहुत बल दिया गया है। एकता के लिए स्वीकृति आवश्यक है अतः आर्येतर विश्वासों को स्वीकार किया गया है। उपनिषदों के ब्रह्मवाद द्वारा सभी "भेद" स्वीकृति हो सकते हैं किन्तु फिर भी 'ब्रह्मवाद' में विराट देश के विभिन्न देवी-देवताओं और उनकी साधन-पद्धतियों को समेटने की शक्ति नहीं थी। मात्र स्वीकृति अपर्याप्त होती है, जातियों के हृदय जीतने अथवा उनके असंतोष को समाप्त करने या भावात्मक एकता के लिए नाना साधनाओं और देवी-देवताओं को शासकों की संस्कृति में ताने बाने की तरह बिना बुने हुए, 'एकता' हो नहीं सकती अतः उत्तर वैदिककाल के अंत में दूरदर्शी और समाज के विकास के अनुकूल चलकर, ब्राह्मणों ने रुद्रशिव और 'विष्णु' की उपासना का प्रचार किया। 'ब्रह्मवाद' के साथ 'अवतारवाद' को भी स्वीकार करके सभी जातियों के देवी-देवताओं को रुद्र, विष्णु, शक्ति आदि आर्य-आर्येतर देवताओं का आर्योकरण करके, इनके परिवारों में शामिल कर लिया, इस प्रकार सभी जातियों का अलगाव समाप्त करने का यह महानतम प्रयत्न था।

'महाभारत' यद्यपि ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी से ईसा पश्चात् चतुर्थ शताब्दी के मध्य में लिखा हुआ माना जाता है परन्तु महाभारत में परंपराओं का उल्लेख है अतः उत्तरवैदिक युग के अन्त से लेकर बौद्ध युग के मध्य की अवधि में होने वाली राजनैतिक और सांस्कृतिक घटनाओं का पता महाभारत से चल सकता है।

महाभारत 'वेदों का सार' कहलाता है। किन्तु, इस ग्रन्थ में समग्रतः अवैदिक अंश ही अधिक है और अवैदिक तत्वों को स्वीकृति देकर ही 'महाभारत' महान बन सका है। यहाँ यज्ञयाग की अतिशय प्रशंसा है, अर्थात् वैदिकता को मूर्धन्य स्थान दिया गया है किन्तु उसके रक्षक और प्रचारकों में आर्येतर देवता रुद्रशिव और विष्णु को स्वीकार किया गया है। इनके परिवार के देवताओं के साथ सभी तांत्रिक और गुह्य साधनाओं को सम्बद्ध कर दिया है। यही दृष्टि अन्य पुराणों में है। परिणामतः यदि तांत्रिक सम्प्रदायों का स्वतंत्र रूप से अध्ययन न किया जाय तो ऐसा लगता है कि इस देश में राजनैतिक संघर्ष को छोड़कर **'वर्ग संघर्ष'** का अस्तित्व ही नहीं था! जैसे ब्राह्मणों की राजनीति और

समाजनीति का कभी विरोध ही नही हुआ। स्मृतियों और तंत्रों की तुलना करने पर ही स्पष्ट होता है कि स्मृतियों पर आधारित शासकवर्ग की मनोवृत्ति और उसका विरोध अर्थात् राज्य-व्यवस्था और 'तीव्रवर्ग संघर्ष' भारतवर्ष के इतिहास में भी उपलब्ध हैं।

महाभारत में 'रुद्र' के गणों में सर्प, अहिबुंध्न्य और कपाली जैसे नाम मिलते हैं, स्पष्टत: ये विभिन्न अनार्य जातियों से लिये गए नाम हैं। 'मृगव्याध' 'पशुपति' भी इसी तथ्य को पुष्ट करते हैं। 'स्कन्द' के परिवार में काकी, हालिया, मालिनी, वृंहता, आर्या, पलाला, वैमिया आदि स्थानीय भयंकर देवियों को समेट लिया गया है। इनके रूप विकृत हैं और ये सब वामाचार-प्रिय हैं। द्रौणपर्व में स्पष्टत: 'रुद्र' को राक्षसों का स्वामी कहा गया है। लिंगोपासना, जिसका वेद में उपहास किया गया है, यहाँ प्रशंसित हुई है।

सौप्तिक पर्व में अश्वत्थामा भयंकर रुद्र के दर्शन करता है, यहाँ रुद्र का स्तोत्र, ध्यान, अस्त्र आदि का वर्णन शुद्ध तांत्रिक पद्धति पर है। कहा गया है कि रुद्र को व्यास और कृष्ण ही समझते थे अर्थात् उपर्युक्त महान दूरदर्शिता या सांस्कृतिक समन्वय द्वारा 'राजनैतिक एकता' के रहस्य को व्यास और कृष्ण ही समझ सकते थे। अनुशासनपर्व में कहा गया है कि प्राणियों के शरीर में न पद्म का चिह्न है, न चक्र का, न वज्र का। सभी प्रजा लिंग और भग के चिह्न से युक्त है अत: सम्पूर्ण प्रजा माहेश्वरी है।[1] महाभारत में एक ओर 'रुद्र शिव' यज्ञयाग का उपदेश देते हैं और दूसरी ओर गुह्यसाधनाओं का। रुद्र कृष्ण की प्रशंसा करते नहीं थकते और कृष्ण तो रुद्र के ही उपासक थे अत: अद्भुत अंतर्दृष्टि द्वारा आर्येतर तांत्रिक गुह्य साधनाओं को आदर देकर देश के सांस्कृतिक जीवन से 'अलगाव' को समाप्त किया गया है!

रुद्र की तरह 'कृष्ण' भी विवादास्पद हैं। महाभारत के कृष्ण जननायक हैं, राजनीति विशारद अत: देश में 'केन्द्रीय प्रबलसत्ता' की स्थापना के लिए वे भयंकर जनसंहार से भी नहीं डरते और प्रथमबार देश में प्रबल-राज्य की स्थापना करते हैं क्योंकि सुव्यवस्था के लिए बलिदान आवश्यक है और प्रान्तीयतावादी शासकों की स्वतंत्र सत्ता, देश के हित में बाधक है! शायद इसीलिए कृष्ण को भगवान् बनाकर इस देश ने अपनी कृतज्ञता व्यक्त की है। राजनीति की तरह,

---

(१) अनुशासन पर्व—१४—१७

वैदिक देवताओं और यज्ञ के स्थान पर कृष्ण ने अवैदिक 'भक्ति' और 'पूजा' की प्रथा, जो श्वेताश्वतर उपनिषद में दिखायी पड़ती है, प्रचलित की। इसी प्रकार गीता में यज्ञवाद के स्थान पर उन्होंने 'कर्मवाद' का प्रचार किया जो बौद्धों के निवृत्तिमूलक दर्शन के विरुद्ध अपनी 'सक्रियता' के कारण जनता को अधिक रुचा किन्तु उसके साथ ही 'ब्राह्मणवादी व्यवस्था' या 'वर्णवाद' को भी स्वीकार करना पड़ा।

कृष्ण के इस 'समन्वयवाद', जिसमें वर्णवाद भी शामिल था, को लेकर सात्वतों ने पांचरात्र संहिता लिखी जिसे हम 'वैष्णव तंत्र' कहते हैं। इन वैष्णवागमों पर इस पुस्तक में एक स्वतंत्र अध्याय है, इससे स्पष्ट होगा कि पांचरात्र मत मूलत: तांत्रिकमत है। उसके तत्ववाद और शैव-शाक्तों के तत्ववाद में कोई अंतर नहीं है, अंतर केवल साधना को लेकर है। पांचरात्र दक्षिणमार्गी और वर्णवादी हैं किन्तु शैव-शाक्त वाममार्गी भी हैं। इस भागवत मत को महाभारत युग में पूर्ण स्वीकृति नहीं मिल पाई थी। स्वयं कृष्ण को भीष्म और पांडव ही भगवान् मानते थे, अन्य नहीं। कृष्ण का विरोधी जरा संधशैव था। स्वबं 'विष्णु' १२ आदित्यों में से एक थे और ३३ देवताओं के अतिरिक्त उपदेवताओं में भी उनका उल्लेख होता था किन्तु 'महाभारत' में 'विष्णु' 'रुद्र' के समकक्ष प्रतीत होते हैं अत: 'विष्णु' को गौरव एकदम नहीं मिला, समाज की स्थिति के साथ देवता की स्थिति सम्बद्ध रही है।

महाभारत में शाक्त-परंपरा को भी पूर्णत: स्वीकार किया गया है। वनपर्व में भानुमती, रागा, सिनीवाली, अर्चिषमती, हविष्मती, महिष्मती, महामती और कुहू को भी देवी माना गया है। स्कन्द के परिवार में 'मातृकाओं' का उल्लेख हो चुका है। इन स्थानीय देवियों का 'आर्य देवियों'—ब्राह्मी, माहेश्वरी आदि से कम गौरव दिया गया है। जब स्कन्द से मातृकाओं ने आर्य देवियों की ही प्रतिष्ठा माँगी तो कहा गया कि अन्य जातियों के देवताओं को आर्य देवताओं जैसा गौरव नहीं दिया जा सकता! यह सम्भव है कि महाभारत में देवीपूजा के सूचक विस्तृत स्थल परवर्ती हों किन्तु देवी पूजा की स्वीकृति महाभारत की मूलदृष्टि के विरुद्ध नहीं है। अन्य पुराणों में भी यही दृष्टि मिलती है! इसके सिवा 'भीष्मपर्व' में जहाँ अर्जुन देवी की स्तुति करते हैं, वहाँ बहुत से परवर्ती नाम नहीं मिलते। उदाहरण के लिए सात देवियों में 'वाराही' और 'ललिता' के नाम नहीं हैं। नवदुर्गा के भी सभी नाम यहाँ नहीं हैं।

शाक्त-सम्प्रदाय के सभी विशेषज्ञ इस मत को मानते हैं कि स्थानीय देवियों को एक ही शक्ति के अंश के रूप में स्वीकार कर लिया गया है।

इस प्रकार महाभारत सांस्कृतिक एकता और राजनैतिक एकता के लिए तांत्रिक या आर्येतर साधनाओं को स्वीकार करता है किन्तु यह स्मरणीय है कि महाभारत में शैव-शाक्त तत्वज्ञान बहुत प्रारम्भिक अवस्था में है। 'रुद्र' की 'ब्रह्मवादी' व्याख्या अधिक की गई है जब कि 'पाशुपतमत' द्वैतवादी कहलाता है। 'पाशुपतमत' पर महाभारत से अधिक प्रकाश नहीं पड़ता परन्तु इतना स्पष्ट है कि यह आर्येतर मत था। शांतिपर्व में कहा गया है कि पाशुपतमत वर्णाश्रमधर्म के विपरीत है किन्तु कुछ अनुकूल भी है।[1]

अतः मेरा अनुमान यह है कि शैव-शाक्त तत्वज्ञान महाभारत के बाद ही 'आगमों' में विकसित हुआ है, इसके पूर्व साधनाओं और विश्वासों के रूप में तांत्रिक धारा प्रचलित थी। तत्वज्ञान सर्वप्रथम वैष्णव आगमों में मिलता है क्योंकि कालक्रम की दृष्टि से पांचरात्रसंहिताएँ, आगम साहित्य में प्राचीनतम हैं और पांचरात्र-संहिताएँ पुराणों के साथ ही वैष्णव साधकों द्वारा लिखी गई हैं। इन संहिताओं, शैव-शाक्त-आगमों और बौद्धतन्त्रों में 'साधना' की दृष्टि से अधिक सादृश्य मिलता है। बौद्धतत्वज्ञान कुछ भिन्न होता जाता है और पांचरात्र-साधना में दक्षिणपंथी तत्व अधिक हैं परन्तु फिर भी इनमें इतना अधिक सादृश्य है कि 'तांत्रिकधारा' शब्द का प्रयोग किया जा सकता है।

महाभारत के बाद इस साहित्य का विभिन्न सम्प्रदायों द्वारा बहुत अधिक प्रचार होता है। पुराण भी विभिन्न सम्प्रदायों द्वारा लिखे गए हैं, इनमें ब्राह्म, शैव, वैष्णव तथा भागवत सम्प्रदाय उल्लेखनीय हैं अर्थात् वैदिकयज्ञयाग को मानते हुए भी इनमें आर्येतर तत्वों को स्वीकार कर, 'समन्वय' की प्रवृत्तिअधिक है।

पुराण 'भावात्मक एकता' के लिए, 'द्विधार' नीति अपनाते हैं। जिस सम्प्रदाय में जो पुराण लिखा गया है, वह अपने मत को सबसे ऊपर रखता है और साथ ही अन्य मतों को भी, निम्न स्थान देकर ही सही, परन्तु स्वीकार अवश्य करता है। इस नीति से अपने मत की श्रेष्ठता भी सुरक्षित हो जाती है और अविरोध की भी स्थापना हो जाती है। अतः महाभारत और पुराणों द्वारा, 'आर्य संस्कृति' की श्रेष्ठता और प्रभुत्व भी स्थापित हो जाता है और दूसरी ओर नाना

(१) शांतिपर्व—अध्याय २८४—१८९, गीता प्रेस

मतों में उत्पन्न 'अलगाव' भी समाप्त हो जाता है। मुसलमानों के पूर्व तक आर्यों की यह नीति ही, सांस्कृतिक एकता और 'सहअस्तित्व' के लिए उत्तरदायी है। आर्य समाजी विद्वान पुराणों के इस महान और दूरदर्शी नीति का महत्व समझ नहीं पाए। वस्तुतः भारतीय एकता के सबसे बड़े प्रचारक पुराण हैं!

जब हिन्दी के आलोचक कहते हैं कि तुलसीदास ने शैव-वैष्णव एकता स्थापित की, तब इन आलोचकों पर दया उत्पन्न होती है क्योंकि तुलसीदास उक्त 'अंतर्भुक्ति-वादी' परंपरा में अपना केवल योगदान करने वाले कवि हैं। एकता का प्रचार पुराना है। सभी वैष्णव-पुराण शैव और ब्राह्म पुराणों का सम्मान करते हैं, इसी प्रकार शैव और ब्राह्म पुराण वैष्णव पुराणों को आदर देते हैं, यद्यपि इन सबमें अपने देवता को ही श्रेष्ठ बताया गया है। इसी प्रकार तुलसी पुराणों के पगचिह्नों पर चलते हुए, विष्णु को सर्वाधिक महत्व देते हुए; शिव, दुर्गा, गणेशादि को सम्मान देते हैं। इसी 'नीति' के कारण इस देश में धार्मिक युद्ध उग्र रूप धारण नहीं कर सके।

पुराणों का समय, विंटरनित्स के अनुसार, बौद्धयुग से लेकर सप्तम शताब्दी की मध्यावधि है। इसी बीच महाभारत, रामायण, धर्मसूत्र, स्मृतियों आदि का निर्माण हुआ। इसी अवधि में प्रबल केन्द्रीय राज्य सत्ता को दृढ़ता प्राप्त हुई अतः इस युग में 'संघर्ष' और 'समन्वय' के लिए घोर प्रयत्न किया जाता है।

उक्त पुराण-युग के बाद तांत्रिक-धारा प्रबल हो उठती है। फर्कुअर ने ६०० ई० के बाद के युग को 'शाक्तयुग' की संज्ञा दी है अर्थात् छठी शताब्दी के बाद निम्न जनता का असंतोष तीव्र रूप में, तंत्रों के माध्यम से, व्यक्त होता है। भारतीय समाज में 'वर्णव्यवस्था' का प्रतिक्रियावादी रूप इस युग में अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है; यद्यपि बौद्धयुग में ही 'वर्णवाद' के विरुद्ध संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। 'वर्णवाद' और जातिवाद बौद्धयुग के पूर्व ही 'जन्म' पर आधारित हो जाता है अतः निम्न जातियों को, समाज में अपना पेशा बदलने तथा विद्या प्राप्त करने के अधिकार से वंचित कर दिया जाता है। प्रायः यह कहा जाता है कि हिन्दू जाति-प्रथा पेशों पर आधारित है। शिल्पियों के सम्बंध में यह सत्य है किन्तु कृषि और व्यापार में सभी जातियाँ भाग लेती थीं किन्तु जन्म से जातिवाद के कारण समाज में ऊँच नीच की भावना समाप्त नहीं हो पाती थी—Different castes that are otherwise set apart often engage in the same type

of work, but some economic functions, such as agriculture and trading, both highly important activities in the Social life, seem to be open to the members of all caste groups.[1]

जब ब्राह्मण, क्षत्रिय भी शूद्रों की तरह कृषि और व्यापार में भाग लेते हैं, तब उच्च जातियों की श्रेष्ठता केवल जन्म के आधार पर ही सुरक्षित रह सकती थी। किन्तु जन्म से जातिवाद के कारण निम्न जातियों में असंतोष बढ़ता था क्योंकि भोजन, विवाह, आदि की दृष्टि से निम्न जातियाँ वहिष्कृत थीं अत: भारतीय समाज का सबसे बड़ा अंतर्विरोध यही जातिवाद था। पुराणों द्वारा किया गया एकता का प्रयत्न पर्याप्त नहीं प्रमाणित हो रहा था अत: छठी शताब्दी के बाद तंत्र-आगम साहित्य द्वारा उक्त प्रमुख अंतर्विरोध के विरुद्ध संघर्ष होता है। पुराण उदार और दूरदर्शी ब्राह्मणों द्वारा लिखे गए हैं किन्तु ब्राह्मण वढ़ते हुए अंतर्विरोध को देखकर केवल कुछ सुविधाएँ दे सकता था परन्तु निम्न जातियों को समानता नहीं दे सकता था अत: तांत्रिकों ने इस 'सुविधावाद' के विरुद्ध क्रान्तिकारी पथ अपनाया और सभी जातियों की समता की घोषणा की। यह घोषणा साधनाओं के माध्यम से प्रकट हुई है अत: तंत्रों में निम्न जातियों को ही अधिक पवित्र माना गया है, चंडालिनी, डोमिनी आदि की महिमा का यही कारण है। यद्यपि पुराणों ने तांत्रिकों की उपासना को स्वीकार कर लिया है परन्तु उसे वैदिक यज्ञयाग के बराबर महत्व मिल नहीं सकता था अत: स्वतंत्र रूप से इन साधनाओं का प्रचार आवश्यक था। तांत्रिकों में जातिवादी प्रवृति ही नहीं, ब्राह्मणों द्वारा प्रचारित प्रत्येक प्रकार के सिद्धांतों के विरुद्ध तीव्र घृणा मिलती है अत: प्रतिक्रिया की झौंक में, तांत्रिक, ब्राह्मणवाद के विरुद्ध सर्वथा विपरीत मार्ग ग्रहण करते हैं, यही 'वाममार्ग' है। "तुम जो कर रहे हो, उसके हम विपरीत करेंगे"—यह प्रवृत्ति तंत्रों की विशेषता है, इससे तांत्रिकों में असामाजिक घोर कृत्यों का भी विधान हुआ किन्तु इन सबको स्वीकार करने और 'वाम व्यवहार' के प्रचार का उद्देश्य ब्राह्मणवादी व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह ही था जो साधनाओं में चरम सीमा पर पहुँचकर अत्यधिक 'रहस्यवादी' और भ्रष्ट रूप भी धारण कर लेता हैं।

दक्षिणपंथी (Rightist) ब्राह्मणों के विरुद्ध वाममार्गी (Leftist) प्रतिक्रिया बड़ी कठोर दिखायी पड़ती है। समाज के विकास पर ध्यान न रखने पर

(1) Society…R. M. Maciver, London, 1959, Page 357

वाममार्गी साधनाएँ भ्रष्ट दिखायी पड़ती हैं किन्तु उनका आग्रह जातिवाद के विरोध पर रहा है, यह तथ्य सम्मुख आते ही हम उनका सामाजिक योगदान समझ सकते हैं।

इसके सिवाय तांत्रिकधाराओं की वाममार्गी साधना विभिन्न रूपों में दक्षिणपंथी ब्राह्मणवादी सम्प्रदायों को भी प्रभावित करती है। तांत्रिकों में वैष्णव तांत्रिक ब्राह्मण-परंपरा के अधिक निकट प्रतीत होते हैं। वैष्णवागमों में केवल ब्राह्मणों को ही दीक्षा देने का विधान है किन्तु 'भक्ति' का अधिकार जातियों को दिया गया है। यही कारण है कि यामुनाचार्य ने पांचरात्र आगमों को स्वीकार किया था। शैव और शाक्त तंत्रों में दक्षिणपंथ और वामपंथ दो मार्ग हैं। दक्षिणपंथी ब्राह्मणवाद के निकट हैं किन्तु वाममार्गी घोर क्रान्तिकारी हैं। वाममार्ग के बढ़ते हुए प्रभाव को परवर्ती पुराणों में प्रकारान्तर से स्वीकार कर लिया गया है। विशेष रूप से श्रीमद्‌भागवत, ब्रह्मवैवर्त्तपुराण आदि में 'कृष्ण' के साथ 'गोपी—रति-विहार' का समूचा 'पैटर्न' तांत्रिक है। वाममार्ग का मर्म 'रागसाधना' है, अर्थात् राग के माध्यम से परमतत्व की प्राप्ति होनी चाहिए जब कि षड्‌दर्शनों में सर्वत्र 'रागदमन' का उपदेश दिया गया है। वाममार्गीयोग पतंजलि के योग-शास्त्र से भिन्न है, क्योंकि तांत्रिक योग 'नाड़ी योग' अथवा 'चक्र-योग' है जब कि 'योगशास्त्र' में 'चक्रसाधना' का कहीं उल्लेख नहीं मिलता अतः छटी शताब्दी के बाद 'चक्रसाधना', 'रागसाधना', मंत्रसाधना आदि का विकास ब्राह्मणवादी सम्प्रदायों के समानान्तर होता है।

इनमें तांत्रिकयोग अर्थात् चक्रसाधना तांत्रिक बौद्धों में 'यथावत्' स्वीकृत हुई है। देवताओं की मूर्ति, कवच, वस्त्र, वाहन, अस्त्र-शस्त्र आदि का ध्यान और 'युगनद्ध' शक्ति-शक्तिमान् की आराधना सभी तांत्रिक सम्प्रदायों में समान है। शक्ति-शक्तिमान् की एकता, उनके रमण-विलास, आदि का ध्यान वैष्णव परंपराओं में, प्रकारान्तर से स्वीकृत हुआ और 'राधा' की कल्पना करके, साधकों ने 'राधा-कृष्ण' के विलास का ध्यान प्रारम्भ किया फलतः सम्पूर्ण कृष्ण सम्प्रदाय का साहित्य तांत्रिक शक्ति-शक्तिमान् सिद्धान्त का ही विशिष्ट विकसित रूप है। मध्यकालीन वैष्णवों द्वारा उक्त तांत्रिक सिद्धान्त की स्वीकृति में बाधा इसलिए नहीं पड़ी कि स्वयं पांचरात्रआगमों में शक्ति-शक्तिमान् का सिद्धान्त स्वीकृत था। केवल आवश्यक 'मधुरता' का वहाँ अभाव था, उसे वाममार्गी शाक्त-शैव मतों से ग्रहण कर लिया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक में उक्त बिन्दु को स्पष्ट करने के लिए तांत्रिक बौद्धमत तथा शैव-शाक्त मतों में प्रचलित 'वामसाधना' का विस्तृत विवरण दिया गया है। पाठक इससे राधा-कृष्ण सम्प्रदायों में प्रचलित 'रागलीला' और 'अनुरागलीला' में अद्‌भुत सादृश्य देख सकते हैं।

किन्तु सन्तकवियों, कबीर, दादू, नानक आदि के सम्प्रदायों में यह उक्त 'रागलीला' स्वीकृत नहीं हुई। इनमें तांत्रिक चक्र-साधना या तांत्रिक योग ही स्वीकृत हुआ है। हम कह चुके हैं कि 'चक्रसाधना' तांत्रिक बौद्धों में भी यथावत् स्वीकृत है अतः बौद्ध सिद्धों और नाथ सिद्धों के माध्यम से यह 'चक्रसाधना' सिद्ध-कवियों की रचनाओं में अभिव्यक्त हुई है। चूँकि बौद्धतांत्रिकों और शैव-तांत्रिकों की 'चक्रसाधना' में 'लतासाधना' प्रचलित थी और वह भ्रष्टाचार की सीमा का स्पर्श कर चुकी थी अतः गोरखपंथियों ने 'रागसाधना' को निकाल फेंका और 'रागदमन' के आधार पर 'चक्रसाधना' स्वीकार की, यही दृष्टि संत-कवियों में मिलती है फिर भी बौद्धतांत्रिकों की चक्र-साधना, शब्दसाधना, ध्यानप्रक्रिया तथा प्रतीक आदि संत-काव्य में स्वीकार किये गए हैं। संतकाव्य की कथन-पद्धति पर भी बौद्धतांत्रिकों का प्रभाव है। प्रतीकात्मक पद्धति, विपरीत कथन पद्धति का तांत्रिक रूप संत-काव्य में यथावत् सुरक्षित मिलता है। लोकभाषा में, लोकछन्दों में कहने की प्रवृत्ति संतों ने सिद्धों और नाथों से ही ग्रहण की थी। इसके सिवाय अनलंकृत अनगढ़ भाषा का प्रयोग भी तांत्रिक परंपरा में प्रचलित था जो संस्कृत काव्य के समानान्तर एक विशिष्ट लोककाव्य के आधार पर विकसित हो रहा था, यह विकास संत-काव्य में आकर पूर्ण हो जाता है।

संतों की सामाजिक दृष्टि शुद्ध तांत्रिक है। जिस प्रकार तांत्रिकों ने ब्राह्मण-वादी, जातिप्रथा, वर्णवाद, वैदिकता, ऊँच-नीच, छुआछूत, स्थूल नैतिकता, स्मृतियों के आधार पर कर्म-वितरण आदि का घोर विरोध किया है, उसी प्रकार संतकवियों ने इन प्रवृत्तियों का विरोध किया है। कबीर, तुलसी और सूर की तरह निम्न जातियों को केवल सुविधाएँ नहीं देते, पूर्ण साम्य और सम्मिलन का उपदेश करते हैं अतः संत-काव्य और संत-साधना तांत्रिक-साधना का ही ऋणी है।

संतकवियों के विपरीत कृष्णसम्प्रदाय और रामसम्प्रदाय के भक्तकवि तंत्रों की 'रागसाधना' को स्वीकार करके भी, समाज के प्रति विद्रोही दृष्टि नहीं अपनाते। छठी शताब्दी के पश्चात् भक्ति और योग आन्दोलनों के रूप में निम्न जनता का

जो असंतोष व्यक्त हो रहा था, तथा मुसलमानों के शासन के कारण जो हिन्दुओं के शिविर में 'समता' की ओर समाज उन्मुख हो रहा था, उसके कारण भक्त आचार्यों—रामानुज, रामानन्द, चैतन्य, वल्लभाचार्य आदि ने "जाति-पाँति पूछै ना कोई, हरि को भजै जो हरि को होई", का सिद्धान्त स्वीकार करके भी व्यावहारिक सामान्य जीवन में निम्न जनता के साथ 'एकता' को प्रोत्साहन नहीं दिया था। भक्तों की यह प्रवृत्ति कबीर, नानक, दादू आदि के सम्प्रदायों में पसन्द नहीं की जाती क्योंकि संत पूर्ण एकता चाहते थे जिसके लिए स्मार्त्तवैष्णव कभी प्रस्तुत नहीं हो सकते थे। भक्तकवि, तुलसी, सूर आदि कर्मकाण्डी मीमांसकों की तुलना में बहुत अधिक 'समतावादी' थे किन्तु संतकवियों की तुलना में वे केवल 'सुविधावादी' ही प्रतीत होते हैं। मुसलमानों की 'समता' का उदाहरण सम्मुख रहने पर यह स्पष्टतः प्रमाणित हो जाता है कि इतिहास संतकवियों की विचारधारा के साथ था अर्थात् तांत्रिकों ने 'समतावाद' का जो नारा लगाया था, वह इतिहास की गति में अधिक अनुरूप था। आज समाजवादी युग में तांत्रिकों का 'सामाजिक समतावाद' अत्यधिक प्रेरणाप्रद प्रतीत होता है।

प्रस्तुत पुस्तक में वर्णित तांत्रिक बौद्धमत, शाक्तमत, पांचरात्रमत तथा कश्मीरी शैवमत[1] के अनुशीलन से मध्यकालीन हिन्दी काव्य का मर्मोद्‌घाटन होगा, ऐसी आशा है। साथ ही भारतीय काव्य के विकास के साथ भारतीय समाज के विकास के 'संघर्षात्मक' और 'समन्वयात्मक' रूप की ओर ध्यान आकर्षित होगा, ऐसा विश्वास है। यदि प्रस्तुत पुस्तक में वर्णित सम्प्रदायों को, सही परिप्रेक्ष्य में परखा जायेगा तो भारतीय काव्य,- साधना और समाज पर अब तक अनुपलब्ध प्रकाश पड़ेगा, लेखक इसी विश्वास के साथ इस पुस्तक को प्रकाशित कर रहा है!

---

[1] परिशिष्ट में 'जैनतांत्रिक मत' पर भी प्रकाश डाला गया है।

तांत्रिक-बौद्धमत

सर्वचिन्तां परित्यज्य-दिनमेकं परीक्षयेत् ।
यदि न स्यात् प्रत्ययस्तत्र, तदामेतन्मृषा वचा ।

—सेकोद्देश्य टीका-नारोपा

सारी चिन्ताएँ छोड़कर, केवल एक दिन तंत्रसाधना का अभ्यास करो, यदि विश्वास न हो तो (समझना) मेरे ये वचन मिथ्या हैं !

तांत्रिक बौद्धमत

बौद्धधर्म में तांत्रिक तत्त्वों के विकास के दो कारण दिखायी पड़ते हैं; प्रथम—कठोर बौद्ध साधना के प्रति सहज जीवन की प्रतिक्रिया। द्वितीय—अलौकिक शक्तियों की प्राप्ति और प्रदर्शन का मोह। इनमें प्रथम प्रवृत्ति सिद्धान्त और साधना की व्यावहारिकता से सम्बद्ध थी जब कि द्वितीय प्रवृत्ति धर्म के प्रचार और प्रभाववृद्धि से सम्बद्ध थी।

कभी वैदिक यज्ञों को लौकिक; अलौकिक शक्तियों की प्राप्ति का उपाय समझा जाता था। उपनिषद् युग में संन्यास-धर्म द्वारा अलौकिक शक्ति प्राप्त सम्भव मान ली गई थी। यज्ञ के स्थान पर तपस्या द्वारा ही सभी असम्भव सम्भव कार्य किये जाने लगे। सृष्टि में प्रत्येक कार्य तप द्वारा सम्भव है, ऐसा विश्वास अब तक प्रचलित है। तप एवं योग के सम्प्रदाय जो वैदिक-यज्ञवाद के समानान्तर विकसित हो रहे थे, उपनिषद्-युग में प्रकाश में आये। 'शिव' ऐसे ही तपस्वी एवं योगी थे, जिनकी साधना के कारण ही यह सृष्टि चल रही है। तप तथा योग द्वारा ही सत्य की खोज हो सकती है,[1] कर्मकाण्ड, शास्त्रानुशीलन आदि क्रियाएँ केवल सहायक

---

1. Infact, the magic potency, formerly ascribed to the Sacrifice, now began to be attributed to asceticism. In the succeeding age the idea that the universe was founded and maintained throngh Sacrifice sipped into the background, in its place it was widely believed that the universe depended on the penances by the great lord Shiva, meditating for ever in the fastnesses of the Himalayas and on the Continued austerities of his human followers.—The wonder, that was India,

   A. L. Basham London 1953

हैं, ऐसा विश्वास तपस्वियों, योगियों एवं रहस्य शोधकों में प्रचलित हो गया। बौद्ध-साधकों के पूर्व जो अनेक सम्प्रदाय विकसित हो चुके थे, उनमें तप तथा योग की ही बहुलता थी, कर्मकाण्ड को तो बौद्धों के अतिरिक्त अन्य अनेक सम्प्रदाय भी अस्वीकृत कर चुके थे। कर्मकांड के स्थान पर तप और योग का बौद्ध-युग के पूर्व सर्वत्र प्रचार था।

बौद्धधर्म में भी तप एवं योग को स्वीकार किया गया, तुलनात्मक दृष्टि से यद्यपि जैनधर्म से बौद्धधर्म कहीं कम कष्टपूर्ण साधना को स्वीकार करता था, परन्तु फिर भी बौद्ध-साधना कठिन थी अतः भिक्षु-संघों के विकास के साथ संघों में गुह्य-समाजों का आंतरिक और गुप्त संगठन होने लगा जिनमें निर्वाण प्राप्ति के लिए भोगमय जीवन को स्वीकार किया गया, साथ ही जनता को आकर्षित करने एवम् व्यक्तिगत प्रभाव वृद्धि के लिए लोकोत्तर शक्तियों के प्रदर्शन भी होने लगे।

डॉ० बी० भट्टाचार्य ने तो स्वयं गौतम बुद्ध को तांत्रिक तत्त्वों का समर्थक सिद्ध किया है, उनके अनुसार बुद्ध ने 'इद्धियों' की प्राप्ति को उचित कहा था यद्यपि वह इनके प्रदर्शन पर क्रोधित होते थे।[1] 'तत्त्व-संग्रह' में शांतरक्षित तथा व्याख्याकार कमलशील ने स्पष्टतः बुद्ध को तंत्र का प्रवर्तक कहा है।[2] धर्म से अभ्युदय तथा कल्याण होता है, ऐसा सभी मानते हैं और इसीलिए मंत्र एवं योगादि से प्रज्ञा, आरोग्य, विभुत्व आदि की प्राप्ति कही गई है, जो विधेय है।

डॉ० भट्टाचार्य का विचार है कि गौतम बुद्ध एक चतुर संगठन-कर्त्ता एवं धर्म-प्रचारक थे अतः उन्होंने निम्न जनता को आकर्षित करने के लिए लोकोत्तर

---

१. इद्धियाँ चार हैं—(१) चन्द (२) वीर्य (३) चित्त (४) विमांस। चुल्लवग्ग (५-८) में बुद्ध एक चन्दन के प्याले के लिए चमत्कार दिखाने पर भारद्वाज नामक साधक पर क्रोधित होते हैं—'साधन-माला'—(पृष्ठ ६०५) द्वितीय पुस्तक—गायकवाड़ ओ० सीरीज़

२. यतोऽभ्युदय निष्पत्तिर्यतो निःश्रेयसस्य च।
स धर्म उच्यते तादृक् सर्वैरैव विचक्षणैः
तदुक्तमन्त्र योगादि नियमाद्विधिवत्कृतात्।
प्रज्ञारोग्यविभुत्वादिदृष्टधर्मोऽपि जायते।—तत्त्वसंग्रह पृष्ठ ९०५

शक्तियों की प्राप्ति एवं प्रदर्शन को स्वीकार कर लिया था[1] परन्तु डॉ० शशिभूषण दास गुप्त इस मत को स्वीकार नहीं करते, उनके अनुसार प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य में यौन-तत्त्व (Sex-element) तथा अन्य तांत्रिक तत्त्व मिल जाते हैं परन्तु इनसे यह प्रमाणित नहीं होता कि गौतम बुद्ध एक चालाक और चतुर संगठन-कर्त्ता के रूप में इन्हें स्वीकार करते थे।[2]

वस्तुस्थिति यह थी कि योग स्वयं एक रहस्यमय मार्ग है। गौतम बुद्ध योगी थे अतः उनके योग का जो विकास आगे शताब्दियों में हुआ उसमें तांत्रिक-योग को सहज ही स्थान मिल गया। सैद्धान्तिक दृष्टि से भी गौतम की विचार-पद्धति एक सीमा तक रहस्यमय थी। अनेक प्रश्नों का उत्तर गौतम मौन द्वारा दिया करते थे अतः महायानियों ने उनके मौन से प्रारम्भिक बौद्धमत (हीनयान) के सर्वथा विपरीत मतों का आविष्कार कर लिया। गौतम बुद्ध के जीवन को दो भागों में विभाजित किया गया। प्रथम—भिक्षु जीवन, जिसमें उनका उपदेष्टा रूप है। द्वितीय—प्रारम्भिक भोगमय जीवन। आगे के तांत्रिकों ने कपिलवस्तु के भोगमय जीवन की दार्शनिक व्याख्या करके उसे ही उच्चतम साधनात्मक जीवन स्वीकार किया और दूसरे भिक्षु जीवन को बाह्य तथा निम्नकोटि की जनता के लिए आदर्श माना। इस प्रकार चाहे स्वयं गौतम बुद्ध ने जान बूझकर अलौकिक शक्तियों और सिद्धियों की प्राप्ति का विरोध किया हो परन्तु उनके जीवन, विचार-पद्धति तथा साधना में अनेक रहस्यमय तत्त्व थे जिन्हें आधार बनाकार लोकोत्तरवादियों ने तांत्रिक-योग का विकास किया।

हीनयान-मत का रूपान्तरण

महायानमत के तांत्रिक-बौद्ध मत(वज्रयान, सहजयान) में रूपान्तरण को समझाने के लिए यह आवश्यक है कि संक्षेप में हीनयानमत एवं महायानमत का सम्बंध स्पष्ट कर लिया जाय। इस सम्बध को स्पष्ट करने के लिए बौद्ध-धर्म के प्रारम्भिक विकास को तीन सोपानों में विभाजित किया जा सकता है।[3]

1 An introduction to Budhist Esoterism—Page. 26-27

2 Obscure Religious cults—S. B. as Gupta—Calcutta University (introduction).

3 Mahayan Buddhism and its relaton to Hinayana, N. Dutta—London 1930

१. शुद्ध हीनयानमत—४५० ई० पूर्व से—३५० ई० पूर्व तक

२. मिश्रित हीनयानमत—३५० ई० पूर्व से—१०० ई० पूर्व तक

३. महायानमत का प्रारम्भ एवं विकास—१०० ई० पूर्व से—३०० ईसा के पश्चात् तक

प्रथम युग में बौद्धमत केवल नगरों तक ही सीमित था। भिक्षुओं के अतिरिक्त सामान्य जनता संघ से अलग थी, वह बौद्धधर्म की सहायता कर सकती थी किन्तु उसकी सहायता प्राप्त नहीं कर सकती थी। 'प्रज्ञापारमिता', जो कि महायानधर्म तथा तांत्रिक बौद्धमत की आधार थीं, अभी अस्तित्व में नहीं आयी थीं। जीवन का उद्देश्य केवल अर्हत् होना था, बुद्धत्व प्राप्त करना भिक्षुओं का उद्देश्य न था। अनात्मवाद, दुःखवाद, क्षणिकवाद तथा इच्छा का नाश ये मूल सिद्धान्त थे। चार आर्यसत्यों का प्रचार था। निर्वाण से क्लेश का नाश होता है, विश्राम एवं चित्त की शांति प्राप्त होती है, ऐसा विश्वास था।

मिश्रित हीनयान मत—(३५० ई० पूर्व—१०० ई० पूर्व) गौतम बुद्ध के १०० वर्ष पश्चात् वैशाली में बुद्ध संघ की दूसरी सभा हुई। इसमें भिक्षुओं का एक दल (सम्भवतः महासांघिक) प्राचीनतावादी भिक्षुओं से अलग हो गया। महासांघिक संघ-नियमों को सरल और सुविधाजनक बनाना चाहते थे तथा सैद्धान्तिक दृष्टि से भी ये मतभेद रखते थे। अबतक अभिधर्म, अवदान तथा जातक साहित्य का परंपरावादी (थेरावादी) भिक्षुसंघों के क्रोड़ में जन्म हो चुका था। बुद्ध के अनेक जन्मों और त्यागपूर्ण कथाओं का प्रचार हो रहा था। पारमिताओं का भी विकास हो रहा था। पारिमिताएँ १० हैं—दान, शील, प्रण, वीर्य, क्षान्ति सत्य, अधिष्ठान, मैत्री, उपेक्षा तथा निखम्मा (संन्यास लेना) प्रारम्भ में पारमिताएँ ६ थीं परन्तु स्वबं थेरावादियों ने सत्य, अधिष्ठान, मित्रता एवं निखम्भा जोड़ दीं। आगे चल कर महायानमत में इस १० पारमिताओं की महिमा बहुत अधिक बढ़ गई।

थेरावादियों की ही एक शाखा 'सर्वास्तिवादी' कहलायी। सर्वास्तिवादी एव महासांघिक (जो सर्वास्तिवादियों से भी अधिक उदारतावादी थे) पारमिताओं पर अधिक बल देते थे। यह स्मरणीय है कि उत्तरी भारत में सर्वास्तिवादियों का ही प्रभाव अधिक था, मथुरा तथा कश्मीर इनके प्रभाव-केन्द्र थे। कामरूप, मालवा तथा

तुषार कंद तक इनका प्रभाव फैल रहा था। थेरावादियों का प्रभाव मगध तथा उज्जैन तक ही सीमित रहा।

महासांधिकों का केन्द्र यद्यपि वैशाली में था, परन्तु इस का प्रचार उत्तर व दक्षिण में भी हुआ था। सबसे प्रसिद्ध महासांघिक केन्द्र 'धान्यकटक' था। गंटूर जिले में कृष्णा नदी पर यह स्थान बाद में महायानमत का मुख्य केन्द्र रहा और तांत्रिक धर्म के प्रचार का मुख्य स्रोत बना। महासांधिकों की एक शाखा लोकोत्तर बुद्ध में विश्यास करती थी और अर्हंत पद-प्राप्ति के स्थान पर 'बुद्धत्व' प्राप्ति को उच्चतर उद्देश्य मानती थी। बुद्धत्व-प्राप्ति को वह प्रेरणा भी सम्भवतः सर्वास्तिवादियों से प्राप्त हुई थी[1] क्योंकि थेरावादी एवं सर्वास्तिवादी दोनों सम्प्रदाय बुद्ध के लोकोत्तर गुणों पर इतना अधिक बल देते थे कि महासांधिकों ने बुद्ध को लोकोत्तर बुद्ध के रूप में स्वीकार किया। बुद्ध साधारण मनुष्य न हो कर अलौकिक शक्ति के रूपमें स्वीकृत हो गए। सर्वास्तिवादियों ने काया-सिद्धान्त की भी चर्चा की है, जिसका महायान एवं तांत्रिकमत में महान आदर है। सर्वास्तिवादी रूप-काया एवं धर्म-काया को मानते थे परन्तु इनके अर्थ महायानी अर्थों से भिन्न हैं। 'शून्य' शब्द का प्रयोग भी सर्वप्रथम सर्वास्तिवादियों ने ही किया है। परन्तु सिद्धान्ततः सर्वास्तिवादी बाह्यपदार्थों की सत्ता पर विश्वास करते थे और इस पर अधिक बल देने के कारण महायान मतावलम्बियों ने प्रतिक्रियावश सारे बाह्य पदार्थों को शून्य घोषित किया। बाह्य पदार्थों के अतिरिक्त आंतरिक पदार्थों को भी 'शून्य' घोषित किया, महायानमत में ब्राह्मण-भिक्षुओं ने उपनिषदों के अध्ययन के फलस्वरूप 'सत्ता' एवं आत्मा को अवाङ्मनसगोचर सिद्ध किया और बाह्यपदार्थों की सत्ता प्रमाणित नहीं होती, यह स्पष्ट स्वीकार किया अतः उन्होंने 'शून्य' शब्द का व्यवहार करना प्रारम्भ किया।

थेरावादियों एवं सर्वास्तिवादियों द्वारा स्वीकृत पंचस्कन्ध, धातु, आयतन, आर्यसत्य आदि को महायानियों ने स्वीकार किया परन्तु उन्हें व्यावहारिक सत्य (संवृत सत्य) माना और पारमार्थिक सत्य की प्राप्ति के लिए वाह्य साधना को सोपान के रूप में स्वीकार कर लिया। प्रज्ञापारमिता के विकास में सर्वास्तिवाद ने ही अधिक कार्य किया था। उड़ीसा में इनका केन्द्र था, यहीं से महायान ने

---

१ द्रष्टव्य—Mahayan Buddhism and its relation to Hinayana—N. Dutt

प्रेरणा ली, प्रज्ञापारमिता को स्वीकार कर दक्षिण में इन्होंने महायानमत का विकास किया। नागर्जुन (द्वितीय शताब्दी के लगभग) ने भी धान्यकटक में साधना की थी, जो तंत्र का सर्व-प्रथम आचार्य माना जाता है। अतः यह कहा जा सकता है कि बौद्ध तांत्रिक मत का प्रारम्भिक केन्द्र दक्षिण-प्रदेश ही था।

महायानमत में सर्वास्तिवादियों के सिद्धान्त एवं शब्दावली के भिन्न अर्थ ग्रहण किये गए। रूपकाया, निर्माणकाया तथा संभोगकाया ये सांवृतिक (व्यावहारिक) कायाओं के नाम हैं। धर्मकाया ही पारमार्थिक काया है। 'धर्मकाया' ही उपर्युक्त तीनों का आधार है। बुद्ध अनेक हैं। प्रत्येक की संभोग काया अलग-अलग होती है। परन्तु सबकी धर्मकाया एक है। धर्मता अज्ञेय तत्त्व है अतः शून्य है, उसे वाणी द्वारा कहा नहीं जा सकता। बुद्ध इसी धर्मता का प्रतिबिम्ब है। शाक्यमुनि ही बुद्ध थे—उनके अनेक नाम हैं—स्वयंभू, नायक, वृषभ, विष्णु, ईश्वर, प्रधान, कपिल, सोम, भास्कर, राम, व्यास, शून्यता, तथता, भूतकोटि, निर्वाण, सर्वज्ञ आदि। बुद्ध न दृश्य हैं न अदृश्य हैं, वह 'मनोरमधर्मकाया' हैं।[1]

सर्वास्तिवादियों द्वारा प्रयुक्त शब्दों काया, शून्य आदि शब्दों का अर्थ जिस प्रकार महायान ने बदला, उसी प्रकार 'निर्वाण' का अर्थ भी परिवर्तित होने लगा। महायानमत के अनुसार 'निर्वाण' का अर्थ हीनयानी 'उच्छेद' लेते हैं, परन्तु महायान उच्छेदवादी नहीं हैं, वे 'निर्वाण' का वर्णन भी 'अज्ञेय-स्थिति' के रूप में करते हैं। यही शून्यावस्था है। जिस 'आत्मा' का खंडन महायानी करते हैं, उसका अर्थ है 'चेतना की क्षणिक स्थिति' (Transitory Consciousness)। इसका नाश (उच्छेद) आवश्यक है। तभी निर्वाण प्राप्त हो सकता है। चूँकि बौद्धों के समय 'आत्मा' का अर्थ उपनिषदों के प्रभाव के कारण इतना अधिक सामान्य हो गया था कि उसका खंडन आवश्यक था, परन्तु

---

(१) नागार्जुन 'धर्मकाया' का वर्णन अज्ञेयवादी के समान करते हैं, निषेधवादी की तरह नहीं, वह पदार्थों के अस्तित्व का निषेध करके अज्ञेय सत्ता की ओर संकेत करते हैं, वज्रयानियों ने आगे चलकर स्पष्टतः 'सत्ता' को स्वीकार किया—

It is by denial of the existence of unreal things, including the so called . Tathagata, that he (Nagarjun) points out towards the reality-the real Tathagata—the Dharm Kaya.

इस खंडन के द्वारा महायानी चेतना के उच्छेद में विश्वास नहीं करते, केवल चेतना के सम्बंध में सामान्य जनता के भ्रम का निराकरण करते हैं, इस प्रकार महायानमत द्वारा प्रतिपापित 'निर्वाण' और वेदान्तियों की जीवन्मुक्ति अवस्था एक हो जाती हैं।

बुद्धत्वप्राप्ति के लिए काया सिद्धान्त एवं निर्वाण सिद्धान्त का उपयुक्त विशेषरूप ३०० ई० पूर्व से १०० ई० पूर्व तक विकसित हुआ। 'प्रज्ञापारमिता' को इनका आधार बनाया गया, साधना के क्षेत्र में पंचध्यानी बौद्धों एवं बोधिसत्वों का आविष्कार भी इसी युग में हुआ। किन्तु महायान के इन सिद्धांतों का निश्चित रूप आगे के युग में प्राप्त होता है।

तृतीययुग—(१०० ई० पूर्व से ३०० ई० के पश्चात् तक)

महायानमत में बोधिचित्त, दशभूमि, बुद्धत्व, त्रिकाया, बोधिसत्व तथा धर्म-शून्यता या तथता इन तत्त्वों को आधार माना जाता है।

महायानमतानुसार आवरण दो हैं, I क्लेषावरण II ज्ञेयावरण। पुद्गल-शून्यता एवं धर्म-शून्यता से इनका नाश सम्भव है। हीनयानी केवल क्लेषावरण का ही नाश करते हैं। वे ज्ञेयावरण का नाश नहीं कर सके। अतः वे हीन हैं। ज्ञेयावरण का नाश प्रज्ञापारमिताओं के ज्ञान से होता है।[1]

---

१ प्रज्ञापारमिता साहित्य विशाल है। इसी पर महायान आधारित है। इनमें असृष्टसहस्रिका प्रज्ञापारमिता प्रारम्भिक है। तत्पश्चात् पंचविंशतिसहस्त्रिका प्रज्ञापारमिता तथा शतसहस्रिका-प्रज्ञापारमिता का विकास हुआ। कनिष्क के के समय बौद्ध-सभा में सम्भवतः प्रज्ञापारमिता को स्वीकृति मिली, यद्यपि प्रज्ञा-पारमितासाहित्य की सत्ता ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में मिलती है। चीनीभाषा में पंचविंशति प्रज्ञापारमिता का अनुवाद २८६ ई० में हुआ।

यद्यपि पारमिताओं में आर्यसत्य, त्रयरत्नशरण, ५ प्रकार के ध्यान (Vision) ६ अभिज्ञान एवं १६७ दर्शनमार्गों का उल्लेख है परन्तु ये सब बाह्य-साधनाएँ और विश्वास व्यावहारिक सत्य माने जाते हैं। तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए ये आवश्यक शर्तें नहीं हैं। ज्ञाता एवं ज्ञेय का भेद जबतक रहेगा तब तक तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता अतः ज्ञेयआवरण भी नष्ट करना होगा। प्रज्ञा-पारमिता साहित्य का मुख्य संदेश यह है कि हीन यानियों में प्रचलित विधि-निषेध (नीति शास्त्र), ध्यान-प्रक्रियाएँ, शास्त्रानुशीलन, आदि सत्ताहीन (Non-existent) हैं, ये आकाश-कुसुम के समान है, बाह्य धार्मिक क्रियाओं तथा

'प्रज्ञापारमिता' पर आधारित महायानमत में एक और क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। महायान में 'बोधिसत्त्व' का सिद्धांत स्वीकार कर लिया गया। आदि बुद्ध से पंचध्यानी बुद्ध और पंचध्यानी बुद्धों से अनेक बोधिसत्त्वों का जन्म होता है। बोधिसत्त्व केवल अपनी मुक्ति का प्रयत्न नहीं करते, वे सारे जगत को मुक्त करके मुक्त होना चाहते हैं।

हीनयानमत में दो यान (सम्प्रदाय) थे। (१) श्रावकयान (२) प्रत्येकयान। श्रावक बुद्ध के उपदेश सुन सकते थे परन्तु उन्हें बिना किसी 'बुद्ध' की सहायता के निर्वाण नहीं मिल सकता था। अत: श्रावक बुद्ध की प्रतीक्षा-काल में उपदेश देते थे, त्यागमय जीवन व्यतीत करते थे परन्तु अन्य लोगों को मुक्ति-प्राप्ति में कोई सहायता न दे सकते थे क्योंकि वे स्वयं बुद्ध पर अवलम्बित थे। 'प्रत्येक-बुद्ध-यान' में प्रत्येक बुद्ध बिना गौतम बुद्ध की सहायता के ही मुक्ति प्राप्त कर सकते थे। परन्तु वे दूसरों को मुक्ति दिलाने में असमर्थ थे। परन्तु महायान ने बोधिसत्त्वों की कल्पना

विश्वासों के अभ्यास के समय यह तथ्य यदि ध्यान में न रखा जाएगा तो तत्त्वज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। प्रज्ञाप्राप्ति ही मुख्य है, वह सर्वदा बाह्य उपायों से प्राप्त होती हो, यह आवश्यक नहीं। हीनयानी आचारों की नश्वरता में विश्वास नहीं करते अत: वे हीन हैं। महायानी दृश्य एवं द्रष्टा के भ्रम से ऊपर उठते हैं। केवल चित्त शुद्धि के लिए ही आचारों को आवश्यक मानते हैं। बाह्य आचारों से चित्तोत्पादन होता है, चित्त शुद्धि होती है, बोधि प्राप्त नहीं होती। (द्रष्टव्य—पंचविंशति प्रज्ञापारमिता—सम्पादक नलिनाक्षदत्त—भूमिका भाग १९३४-कलकत्ता)।

प्रज्ञापारमितासाहित्य में सूत्र, कारिका एवं टीका ये तीन भाग हैं। कारिका का लेखक मैत्रेयनाथ था, जिसका समय निर्धारित नहीं है। तारानाथ के अनुसार तुषित स्वर्ग में असंग ने मैत्रेय से प्रज्ञापारमिता सूत्र पढ़े थे और असंग ने उनका मनुष्यों में प्रचार किया। सिंहभद्र की साक्षी पर नलिनाक्षदत्त ने लिखा है कि मैत्रेय ने प्रज्ञापारमिता सूत्रों पर कारिकाएँ लिखीं थीं, सूत्र उसके भी पूर्व विद्यमान थे। असंग, वसुबंधु, विमुक्तसेन आदि ने टीकाएँ लिखीं। ८ वीं ९ वीं शताब्दी (तांत्रिक-युग) में प्रज्ञापारमिता साहित्य का अपरिमित प्रचार हुआ, क्योंकि इसमें तत्वज्ञान मुख्य था, बाह्य आचार-अनुशीलन आदि गौण। पंचविंशति प्रज्ञापारमिता में मैत्रेयनाथ की कारिकाओं पर टीका भी है।

की और बताया कि बोधिसत्त्व स्वयं मुक्त हो सकते हैं और दूसरों को भी मुक्त कर सकते हैं। बोधिसत्त्व करुणा एवं कृपा भाव के कारण सारे जगत की मुक्ति में लवलीन रहते हैं, वे इतने कृपालु हैं कि जगत का उद्धार किये बिना वे स्वयं अपनी मुक्ति नहीं चाहते। यह आदर्श महान था। तृतीय शताब्दी (ई० के पश्चात्) तक इस बोधिसत्त्वयान का विकास हो चुका था अतः इस समय तक हमें श्रावकयान, प्रत्येक बुद्धयान एवं बोधिसत्त्वयान (महायान) इन तीन धाराओं की प्रमुखता मिलती है।

इस प्रकार व्यक्तिगत मुक्ति के प्रयत्न में लीन हीनयान समष्टिगत मुक्ति की चेष्टा में तत्पर हो गया। जीवों पर अखिलकरुणा एवं ज्ञान (प्रज्ञा-प्रज्ञापारमिताओं के अनुशीलन से प्राप्त) ये तत्त्व महायान की अपनी विशेषताएँ हैं, हीनयान इस प्रकार महायान में रूपान्तरित हुआ। सिद्धान्ततः इस रूपान्तरण को इस प्रकार विभाजित किया जाता है—१ सर्वास्तिवाद २ वैभाषिक ३ योगाचार या विज्ञानवाद ४ माध्यमिकमत या शून्यवाद। अद्वयवज्र के अनुसार वैभाषिकमत का श्रावकयान एवं प्रत्येक-बुद्ध-यान मानता था। महायान दो प्रकार का है १ पारमितानय (प्रज्ञापारमिता पर आधारित) २ मंत्रानय (मंत्र को महत्व देने वाला)। पारमिता को योगाचार, सौत्रांतिक, माध्यमिक सभी मानते हैं परन्तु मंत्रयान को योगाचार तथा माध्यमिकमत ही मानते हैं। उपर्युक्त चार सिद्धान्तों में तांत्रिक बौद्धमत विज्ञानवाद एवं माध्यमिकमत या शून्यवाद से प्रभावित हुआ है। सौत्रांतिक और वैभाषिकों मत तांत्रिक को स्वीकृत नहीं हैं। अतएव दार्शनिक दृष्टि से तांत्रिक बौद्धमत विज्ञानवादी तथा शून्यवादी है तथा महायानमत की मंत्रयान शाखा के रूप में स्वीकृत है। यह स्मरणीय है कि तांत्रिकों की साधनाओं ने उनके सिद्धान्तों को भी प्रभावित किया है, जिन्हें हम यथास्थान देखेंगे।

तांत्रिक बौद्धमत का विकास—यद्यपि तांत्रिक बौद्धमत का निश्चित स्वरूप मंत्रयान की परंपरा में विकसित 'वज्रयान और सहजयान' में मिलता है परन्तु इसका प्रारम्भ सम्भवतः गौतमबुद्ध के पश्चात् शीघ्र ही हुआ होगा क्योंकि रहस्यमय तत्त्व गौतम बुद्ध के सिद्धान्तों में अनेक थे। फिर भी यत्रतत्र विकीर्ण प्रमाणों को छोड़कर वज्रयान के पूर्व तंत्र की कोई निश्चित रूपरेखा बौद्ध साहित्य में नहीं प्राप्त होती। किन्तु ईसा के आसपास बौद्ध साहित्य में तांत्रिक तत्त्व प्राप्त होने लगते हैं।

डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य के अनुसार 'विद्याधर पिटक' नामक महायानी ग्रन्थ में सर्वप्रथम तांत्रिक तत्त्व मिलते हैं। परन्तु यह अप्राप्य है।[1] 'सुखावती-

---

१ साधनमाला—पुस्तक २

व्यूह' या 'अमितायुससूत्र' में[1] अमिताभ तथा अवलोकितेश्वर की चर्चा है। इस ग्रन्थ पर तांत्रिक प्रभाव स्पष्ट है।

'मंजुश्रीमूलकल्प'[2] में यद्यपि पीछे से बहुत मिश्रण प्रतीत होता है परन्तु मूल-रूप में यह निश्चित रूप से ईसा के आसपास की ही रचना है। आचार्य विनयतोष इसे २०० ई० की रचना मानते हैं। इस ग्रन्थ में तंत्र का प्रारम्भिक रूप मिलता है। इसमें शाक्यमुनि एवं मंजुश्री से संवाद रूप में मंत्र-साधना का विस्तृत वर्णन है। यक्ष, यक्षिणी आदि की साधनाओं के वर्णन हैं, स्त्री को साधना में उपकारी बताया गया है। मुद्रा, मंडल, अभिषेक अभिचार आदि सभी कुछ यहाँ वर्णित है।[3] तारा, सुतारा, मामकी, पिशाच, गुह्यक, गणपति का उल्लेख है।

मंडल-निर्माण में तथागतों एवं वज्रसत्त्वों की अनेक मूर्तियों के निर्माण, कलश, धूपदीप, आलेखन, वलि, पटह-ध्वनि, मुद्रा-प्रदर्शन, पात्र आदि सभी तत्त्वों का विधान है।[4] एकादश पटल में स्पष्ट कहा गया है कि स्त्री के सहचार से साधना होती है। यह भी कहा गया है कि दुराचार के लिए तंत्र-साधना नहीं है, न मूर्खों के लिए है, ज्ञानमंत्र तथा संयम से ही सिद्धि मिलती है।[5]

---

१ सुखावती व्यूह का चीनी भाषा में (४८ ई० पश्चात्) अनुवाद हो चुका था अतः यह निश्चित रूप से प्रथम शताब्दी के प्रारम्भ में लिखी गई होगी।

२ आर्यमंजुश्रीमूल कल्प—त्रिवेन्द्रम् सीरीज, गणपति शास्त्री, १९२०

३ मंजुश्री मूलकल्प का प्रारम्भ द्रष्टव्य है :— स्वागतं ते मंजु श्रीः। महा-सत्व चर्यासिवं बुद्ध अधिष्ठित निर्हार सर्वं बोधि सत्त्वार्थसप्रापक सर्वमंत्रपद सरहस्या-भिषेक मुद्रामण्डल कल्याभिषेक आयुरारोग्यैश्वर्यं सर्वाशापरिपूरकः सर्वसाधनौपयिक-तन्त्रज्ञान श्रेय कालान्तराधान...............अन्तर्द्धानाकाशगमन पादप्रचारिक मेधावी-करण आकर्षण पातालप्रवेशन आभिचारिक सर्वकामावाप्तिसङ्कुल यक्षयक्षिणी किङ्करपिशाच सर्वभूताकर्षण.........सर्वमनोरथपरिपूरक आभिचारक शान्तिकपौष्टि-केषु प्रकुर्वाणः (प्रथम परिवर्तः) प्रथम पुस्तक

४ आर्यमंजु श्री मूलकल्प—तृतीय पटल, (प्रथम पुस्तक)

५ संयता ब्रह्मसत्यज्ञा, गुरुदेवतपूजकाः, मातृपितृभक्तानां स्त्रीषु दुःखं न विद्यते।
दुःशीलस्य मुनीन्द्रेण, मन्त्रसिद्धिर्न चोदिता!
कुतः सिध्यन्ति मन्त्रा वै, वालिशस्येह कुत्सिते। एकादशपटल (प्रथम पुस्तक)।

मंजुश्री मूलकल्प से स्पष्ट है कि बौद्ध-तंत्र पर शैव प्रभाव था। विष्णु एवं रुद्र दोनों को बौद्ध तांत्रिक देवों के रूप में स्वीकार करते हैं।[१] शैव-तंत्र को अनुत्तर योग कहते हैं, मंजुश्री मूलकल्प में भी 'अनुत्तर' शब्द का प्रयोग प्राप्त है।[२] शाक्य-मुनि का स्पष्ट कथन है कि पूर्व कल्पों में शिव ने जिस मार्ग का उपदेश दिया है, उसी का उपदेश मैं कर रहा हूँ। मैंने पहले भी इसी मार्ग का उपदेश किया है [३] अन्यत्र कहा है कि शैवतंत्र में भी वस्तुतः मेरा ही उपदेश वर्णित है।[४]

उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि प्रारम्भिक तांत्रिक बौद्धमत गुह्य-शैव-सम्प्रदायों से प्रभावित रहा होगा अतः पीछे के बौद्ध-तांत्रिक शैवों से अपनी एकता घोषित करते हैं।

मंजुश्री मूलकल्प के सदृश सद्धर्मपुंडरीक में भी तांत्रिकतत्त्व प्राप्त होते हैं। इस ग्रन्थ का रचनाकाल निश्चित नहीं हैं परन्तु यह ईसा के आस-पास लिखा गया होगा, ऐसा विद्वानों ने स्वीकार किया है। इसमें भी मंजुश्री मूलकल्प की तरह मिश्रण मिलता है, बाद की शताब्दियों की अनेक बातें मिलती हैं, तथापि मूल रूप में यह ग्रन्थ प्राचीन है। कृष्ण के गीता का इस पर स्पष्ट प्रभाव है।

अशोक के पश्चात् ही ब्राह्मणधर्म एवं बौद्धधर्म परस्पर प्रभावित होने लगे थे। शुंगों के समय तक ब्राह्मण प्रबल हो गए थे, ब्राह्मण पौरोहित्य और बौद्ध पौरोहित्य जो मंदिरों, संघों तथा राज दरबारों पर अधिकार प्राप्त करने में परस्पर स्पर्धा में

---

१ रुद्रेणभाषिता ये मन्त्रा, विष्णुना ब्रह्मणा स्वयम्—मंजु श्री—द्वितीय पुस्तक। पृष्ठ ४४२

२ अनुत्तरं शब्दमित्याहुः, महाबोधिपथं पथम्—वही, पृष्ठ ४४२।

३ सर्वं शैवमिति ख्यातं, सर्वैर्भूतल वासिभिः।
मयैव निगदितं पूर्वं, कल्पेमस्मि सविस्तरे—मंजुश्री—द्वितीय पुस्तक पृष्ठ ५२३।

४ विविधा गुण विस्तारा:, शैवतन्त्रे मयोदिता:—प्रथम पुस्तक—पृष्ठ ३४
प्रो० कर्न के अनुसार मंजु श्री पर वैदिक अग्नि, श्री, क्षत्र श्री का प्रभाव रहा होगा—,
द्रष्टव्य — Manual of Indian Buddhism—Part I Page (101-134)

संलग्न था, अब अपने-अपने धर्मों को अधिक आकर्षित करने में दत्तचित्त हो गया था अतः इसी काल में ब्राह्मण-बौद्धों ने महायान बौद्धधर्म में गीता का अवतारवाद स्वीकार कर लिया, बोधिसत्त्वों के रूप में इस कल्पना को विस्तार मिला, उपनिषदों के 'ब्रह्म' की तरह 'बोधि', बुद्धत्व एवं निर्वाण का वर्णन होने लगा। कनिष्क के समय में जो चतुर्थ बौद्ध सभा हुई थी, उसमें महायान एक लघु सम्प्रदाय था परन्तु ईसा की द्वितीय शताब्दी के नागार्जुन तथा आर्यदेव ने माध्यमिकमत तथा तृतीय और चतुर्थ शताब्दी में असंग, वसुबंध आदि ने योगाचार मत के रूप में महायान का विकास किया और साधना के क्षेत्र में अवतारवाद, भक्तिवाद मंत्र, पूजा, मूर्ति-निर्माण आदि सभी तत्त्वों को स्वीकार कर लिया।[1] सद्धर्म-पुण्डरीक में हमें ब्राह्मण-धर्म के इसी प्रभाव का प्रारम्भिक रूप दिखायी पड़ता है।

'सद्धर्म पुंडरीक' में स्पष्ट कहा गया है कि जिनेन्द्र जीवों के सुखार्थ अवतार लेते हैं, नीच, उच्च सभी के उद्धार के लिए उनका अवतार होता है।[2] इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने से अनेक देवताओं व बोधि सत्त्वों आदि की अवतारणा भी सहज हो गई और नाना देवताओं के ध्यान, मुद्रा, स्तोत्र, आदि की परम्परा के लिए मार्ग खुल गया।

---

१ प्रो० कर्न ने लिखा है कि नागार्जुन राहुलभद्र महायानी ब्राह्मण का शिष्य बतलाया गया है। यह ब्राह्मण कृष्ण व गणेश का ऋणी था। कर्न के अनुसार इस परंपरा से यह प्रमाणित होता है कि महायान मत गीता एवं शैवधर्म से प्रभावित हुआ था :—This quasi-historical notice reduced to its less allegorical expression, means that Mohayanism is much indebted to the Bhagvat gita and more even to Shaivism. Manual of Indian Buddhism, Page 122, Strassberg 1896.
सर चार्ल्स इलियट ने भी महायान सम्प्रदाय के सद्धर्मपुंडरीक पर गीता का स्पष्ट प्रभाव स्वीकार किया है—
Japanie's Buddhism—Page 29 London—1935.

२ (अ) अहं पि चैतर्हि जिनेन्द्र नायको उत्पन्न सत्त्वान सुखापनार्थम्।
संदर्शयामि इम बुद्ध बोधिं, नानाभिनिर्हार सहस्र कोटिभिः।
(ब) तथागतोऽहं भगवान नामिभूः, संतारणार्थं इहं लोकि ज्ञातः!

जिस प्रकार गीता में समन्वय की प्रवृत्ति मिलती है, उसी प्रकार सद्धर्मपुंडरीक में उदारता, समता एवं परधर्मसहिष्णुता लक्षित होती है। साधना में सम्यक ज्ञान की आवश्यकता है, सिद्धान्तों के द्वन्द्वों और प्रपंचों में ही मूलरूप में धर्म का सार प्रतिष्ठित है, सभी धर्मों में यह सार रूप में तत्त्वज्ञान प्राप्त है।[1] इसी सारग्राहिता की प्रवृत्ति के कारण आगे के तंत्र-साहित्य में बौद्ध-साहित्य का श्रेष्ठतम अंश चुन लिया गया है।

सद्धर्मपुंडरीक में सुखावती स्वर्ग का भी वर्णन है।[2] अन्य स्वर्गों या लोकों में स्थित देवता मंत्र से वश में किए जा सकते हैं, यह विश्वास भी यहाँ प्राप्त होता है। मंत्र यहाँ धारणी के रूप में प्राप्त होते हैं। भक्तों ने पूछा कि हे भगवन्! इस सद्धर्मपुंडरीक को कायगत एवं पुस्तकगत कैसे करें? तो उत्तर मिला कि रक्षावरण-गुप्ति के लिए धारणीमंत्रों में यह शास्त्र सुरक्षित रहेगा[3] अतः धारणीमंत्र-पाठ से, लेखन से, स्मरण से, जाप से पूर्ण पुस्तक के पाठ का लाभ प्राप्त होगा। परन्तु धारणी मंत्र पदों की रचना बड़ी विचित्र है। और रहस्यमय है।[4] जनता में यह

(स) संतर्पयामि इमु सर्वलोकं मेघो व वारि सम मुञ्चमानः।
आर्येषु नीचेषु च तुल्यबुद्धिर्दुःशीलभूतेष्वथ शीलवत्सुः।

सद्धर्मपुंडरीक—सम्पादक प्रोफेसर कर्न तथा
बी० नंजियो।
सेंटपीटर्सबर्ग—१९१२ ई०
(पृष्ठ ५४, १२८, १३७ क्रमशः)

सद्धर्म० का अनुवाद चीनी भाषा में ३०० ई० तक हो चुका था।

१ सर्वधर्माः समाः सर्वे, समाः समसमाः सदा।
एवं ज्ञात्वा विज्ञानाति, निर्वाणममृतं शिवम्—सद्धर्म० पृष्ठ १४३

२ दिशि पश्चिम यत्र सुखकरा, लोकधातु विरजा सुखावती—पृष्ठ ४५५ (वही)

३ दास्यामो वयं भगवंस्तेषां कुलपुत्राणां कुलदुहितृणां वा येषामयं सद्धर्मपुंडरीको धर्मपर्यायः कायगतो वा स्यात्पुस्तकगतो वा रक्षावरणगुप्तये धारणीमन्त्र-पदानि। पृष्ठ ३९६ (वही)

४ एक धारणी द्रष्टव्य—ज्वले महाज्वले उक्के तुक्के मुक्के अडे अडावति नृत्ये नृत्यावति इट्टिनि विट्टिनि चिट्टिनि नृत्यनि नृत्यावति स्वाहा—पृष्ठ ३९८ (वही)

विश्वास उत्पन्न कर दिया गया कि केवल इनके जाप यज्ञादि से वह सभी फल मिलते हैं, जो तप एवं योग से मिलते हैं, बौद्धधर्म की कठोर साधना को इस प्रकार सरल किया जाने लगा।

सद्धर्मपुंडरीक में गौतम बुद्ध 'भैषज्यराज' के रूप में भी स्वीकृत हैं। आगे के तंत्रों में—शैवों—शाक्तों, बौद्धों सभी में तंत्रसाधना का सम्बंध औषधि-विज्ञान से भी रहा है। रसायन सम्प्रदाय का विकास सर्वप्रसिद्ध है। सद्धर्मपुंडरीक में इसके प्रारम्भिक रूप के दर्शन होते हैं।[1]

भूत-प्रेत, राक्षस, राक्षसी, यक्षादि की साधना पर भी बल दिया गया है। महाराज 'विडूडक' (प्रसेनजित का पुत्र) की सभा में आकर भगवान कहते हैं—"अगणे गणे, गौरि, गन्धारि, चण्डालि, मातङ्गि पुक्कसि मंकुले वृसलि सिसि स्वाहा"[2]

अथर्ववेद के कई राक्षस-राक्षसियों का उल्लेख सद्धर्मपुंडरीक में मिलता है, उनको वश में करने का भी विधान है।[3] इसे देखकर स्पष्ट हो जाता है कि अथर्ववेद में प्रागैतिहासिककाल से प्राप्त तथा स्वीकृत लोक-साधना एवं विश्वासों को अथर्ववेद के पश्चात् तंत्रों ने अपने में समेट लिया, इसका अर्थ यह नहीं है कि तंत्रों के अतिरिक्त अन्य शास्त्रों पर इनका प्रभाव नहीं पड़ा।

जिस प्रकार शैव-शाक्त तंत्रों का जन्म शिव-उमा के संवाद के रूप में प्राप्त होता है उसी प्रकार बौद्धतंत्र देव-यक्ष-राक्षस, बोधिसत्त्वों आदि की सभा (संगीति) में भगवान बुद्ध के उपदेशों से होता है। इन सभाओं में भगवान

---

१ साधु साधु भैषज्यराज सत्वानामर्थः कृतो धारणीपदानि भाषितानि ··· पृष्ठ ३९७—३९८ (वही)

२ पृष्ठ ४०० (वही)

३ अत्र खलु १ च नाम राक्षसी विलम्बा २ च नाम राक्षसी कूटदन्ती ३ च नाम राक्षसी पुष्पदन्ती ४ च नाम मकुटदन्ती ५ च नाम राक्षसी केशिनी.... (केशिनी अथर्ववेद की राक्षसी है)

इनको वश में करने का मंत्र देखिए :—इति मे इति मे इति मे इति मे इति मे। निमे निमे निमे निमे निमे। स्तुहे स्तुहे स्तुहे स्तुहे स्तुहे स्वाहा—पृष्ठ ४०२ (वही)

बुद्ध दुर्बोध 'संध्याभाषा' का प्रयोग करते हैं,[1] ताकि केवल मर्मज्ञ साधक ही उसका अर्थ समझ सकें, अन्य साधारण लोग धर्म को भ्रष्ट न कर सकें। अधिकारी भेद से अनेक उपायों का वर्णन शाक्यमुनि ने किया है, इनमें एक उपाय यह संध्या-भाषा द्वारा भी प्राप्त है।

सद्धर्मपुंडरीक के अतिरिक्त 'अमृतायुसध्यानसूत्र' में सम्मोहनजन्यध्यान (Hypnotic Vision) के द्वारा सुखावती स्वर्ग के दर्शन कराने की पद्धति का वर्णन है। वसुबंधु (चतुर्थ शताब्दी) के 'अमृतायुस सूत्र शास्त्र' में सुखावती स्वर्ग का वर्णन है इसमें तांत्रिक तत्त्व प्राप्त होते हैं।[2] 'करण्य व्यूह' में भी इसी परंपरा का विकास मिलता है। अवीचि नरक एवं सुखावती स्वर्ग का वर्णन यहाँ विस्तार से मिलता है। नारायण तथा रावण के नाम यहाँ प्राप्त होते हैं[3] गीता का इस ग्रन्थ पर भी प्रभाव है। अवलोकितेश्वर का विराट रूप में वर्णन किया गया है। अवलोकितेश्वर के अंग प्रत्यंग से ही सारे ब्रह्माण्ड का जन्म हुआ है।[4]

शैव-प्रभाव भी इस ग्रन्थ पर दृष्टिगोचर होता है। आकाश को लिङ्ग कहा गया है, पृथ्वी को उस लिङ्ग की पीठिका बताया गया है। लीला के कारण

---

१ दुर्बोध्यं शारिपुत्र तथागतस्य संधाभाष्यम् । तत्कस्यहेतोः । नानानिरुक्ति निर्देशाभिलापनिर्देशनैर्मया शारिपुत्र विविधैरुपाय कौशल्य शत सहस्रै-धर्मः संप्रकाशितः (सद्धर्म० पृष्ठ ३९)।

(2) The Religious quest of India--J. N. Frarquhar. 1920 Page. 158

(३) करण्य व्यूह—सत्यव्रत समश्रयी

प्रकाशक—जीवानन्द भट्टाचार्य १८७३ ई०

पृष्ठ—१०, द्वितीय अध्याय

(४) चक्षुर्षोश्चन्द्रादित्यावुतपन्नौ ललान्महेश्वरः, स्कन्धेभ्यो ब्रह्मादयो, हृदयान्ना-रायणो, दंष्ट्राभ्यां सरस्वती, मुखतो वायवो जाताः, धरणी पादाभ्याम्, वरुणश्चोदरात् ।—वही

ही लिङ्ग कहलाता है।[1] भगवान की लीला के लिए ही सृष्टि का निर्माण होता है। यह वैष्णवभाव भी यहाँ विद्यमान है[2] शैव, वैष्णव आदि धर्मों में जिस प्रकार अधिकारी भेद मिलता है, जिसके आधार पर प्रत्येक प्रकार की उत्कृष्ट निकृष्ट साधना-पद्धतियों को स्वीकार किया गया है, वह करण्य व्यूह में प्राप्त होता है। यहाँ स्पष्टत: कहा गया है कि जीव अनेक प्रकार के हैं अत: धर्म भी अनेक प्रकार के हैं। प्रत्येक बुद्ध प्रवृत्तिप्रधान जीवों के लिए भगवान प्रत्येक बुद्ध होकर उपदेश करते हैं, अर्हंत—प्राप्ति कर्त्ताओं के लिए अर्हंत होकर। शैव-भाव प्राप्ति-कर्त्ताओं के लिए महेश बनकर भगवान उपदेश देते हैं और नारायणभाव प्राप्ति-कर्त्ताओं के लिए भगवान विष्णु बनकर अवतरित होते हैं। इसी प्रकार ब्रह्मवादियों के लिए ब्रह्म एवं गणपति उपासकों के लिए भगवान गणेश का उपदेश करते हैं। सर्वत्र एक ही तत्त्व है जो अनेक अवतार और साधना-पद्धतियों को अधिकारी भेद से निश्चित करता है—

येन येन रूपेण वैंनेयाः सत्वाः तेन तेनःरूपेण धर्म्मंन्देशयति। तथागत वैनेयानां तथागतरूपेणधर्म्मंन्देशयति। प्रत्येकबुद्धवैनेयानां सत्त्वानां प्रत्येक बुद्ध-रूपेण धर्म्मंन्देशयति। अर्हत्व वैनेयानां सत्वानामर्हंत्रूपेण धर्म्मंन्देशयति········ महेश्वरवैनेयानां सत्वानां महेश्वररूपेण धर्म्मन्देशयति नारायण वैनेयानां सत्त्वानां नारायणरूपेण धर्म्मन्देशयति। ब्रह्म वैनेयानां सत्त्वानां ब्रह्मरूपेण······विघ्नपति वैनेयानां विघ्नपतिरूपेणधर्म्मन्देशयति (पृष्ठ २२)।

'करण्यव्यूह' में स्पष्ट स्वीकार किया गया है कि असुर प्रवृत्ति प्रधान जीवों का उद्धार आसुरी-साधनो से ही सम्भव है। कथा इस प्रकार है कि वज्रकुक्षि नामक गुहा में असुरों का निवास था। अवलोकितेश्वर ने असुर रूप धारण किया और उपदेश दिया।[3] उपदेश में देवताओं का ही ज्ञान था परन्तु वह दिया गया असुर बनकर अत: आसुरी-साधना अधिकारी भेद से गृहणीय है क्योंकि उसमें भी देव-साधना ही प्रच्छन्न रूप से वर्णित है। संध्याभाषा का भी यही उद्देश्य है।

---

(१) आकाशं लिङ्गमित्याहुः पृथिवी तस्य पीठिका।
आलयः सर्वभूतानां, लीलया लिङ्गमुच्यते—वही

(२) एष कुलपुत्रावलोकितेश्वरः सुखावत्या लोकधातो रागच्छति, तस्यागच्छ भावस्येदं मया ईदृशं निमित्तं प्रादुर्भूतं दर्शितम्—वही पृष्ठ १७

(३) करण्य-व्यूह—पृष्ठ २३

करण्यव्यूह मे अवलोकितेश्वर की प्राप्ति षडक्षरीमहाविद्या द्वारा बतायी गई है।[1] षडक्षरी महाविद्या के साथ भावनायोग अनिवार्य है अन्यथा मन्त्र व्यर्थ है। मन्त्र के साथ मडल का भी वर्णन है। जप, मुद्रा, समाधि आदि का विस्तृत वर्णन है। धारणी मन्त्रो का भी विस्तार है।

'करण्यव्यूह' मे कहा गया है कि सामान्य जीवो के उद्धार के लिए यह मार्ग भगवान द्वारा निर्देशित है। दुष्टो, पापियो (असुरो) का भी इस साधना से उद्धार होगा।[2] इस प्रकार बौद्ध तान्त्रिकमत भी शैव, वैष्णव एव शाक्तमतो की तरह भगवान (अवलोकितेश्वर) के नाम के जप, करण्य व्यूहादि को पढ़कर, नरक यातना से बच सकता है और अन्त मे अवलोकितेश्वर के लोक (सुखावती) को प्राप्त कर सकता है।

गडव्यूह मे भी मजुश्री आदि देवताओ का वर्णन है। स्वर्णप्रभा तथा समाधिराज मे देवियो, देवताओ को मन्त्र साधना द्वारा प्राप्त करना सम्भव बताया गया है। ये स्पष्टत तन्त्र ग्रन्थ है।[3]

सद्धर्मपुडरीक, सुखावतीव्यूह, करण्यव्यूह आदि ग्रन्थो मे तान्त्रिक साधना का जो प्रारम्भिक रूप मिलता है उसको सैद्धांतिक आधार नागार्जुन (द्वितीय शताब्दी) एव आर्यदेव (तृतीय शताब्दी) असग तथा वसुबधु (चतुर्थ शताब्दी) से मिला T माध्यमिक (शून्यवाद) मत मे प्रज्ञापारमिता—हृदयसूत्र, वज्रच्छेदिका—प्रज्ञापारमिता का विशेष महत्त्व है। अश्वघोष (महायान श्रद्धोत्पादसूत्र) तथा नागार्जुन (माध्यमिक कारिका) के सिद्धान्त प्रज्ञापारमिता सूत्रो पर ही आधारित है।

विज्ञानवाद तृतीय शताब्दी मे मैत्रेयनाथ द्वारा प्रवर्तित हुआ। परन्तु इस सिद्धान्त का विकास असग के 'महायानसूत्रालकार', योगाचार भूमिशास्त्र तथा वसुबधु के परमार्थसप्तशती 'बोधिसत्त्वभूमि' आदि ग्रन्थो से हुआ।

(१) ओ मणिपद्मे हू —यही षडक्षरी महाविद्या है।

(२) ये परदारप्रसक्ता औरम्भिक कर्म्मोद्युक्ता ये मातापितृघातका अर्हघात स्तूप भेदकास्तथागतस्यान्तिके दुष्टचित्तरुधिरोत्पादका। ईदृशाना पापरताना सत्त्वाना तदपि कारण्य व्यूहो महायान सूत्ररत्नराज सर्वपापपरिमोक्षणकुरुते।

(3) Tne Relıgıous quest of Indıa—J N Frarquhar

(४) असग के 'महायान सूत्रालकार' मे यौन-योग (Sexo yogıc) के तत्त्व मिलते है। डा० शशिभूषण दास गुप्त के अनुसार तत्र का प्रारम्भ नगार्जुन व असग द्वारा हुआ—
An ıntroductıon to Tantrıc Buddhısm—Calcutta 1950

शू यवद एव विज्ञानवाद की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि पर तान्त्रिक बौद्धमत का निश्चित स्वरूप 'तथागतगुह्यक नामक तत्र मे मिलता है। आचाय विनयतोष भट्टाचाय क अनुसार इनका निर्माण तृतीय शताब्दी मे हुआ। इस तन्त्र का प्रथमाध प्राचीन एव उत्तराध नवान हे। उत्तराध मे 'प्रज्ञ पायविनिश्चय सिद्धि' को मिला दिया गया है जिनका लेखक अनगवज्र है (७ वी शताब्दी)। तथागतगुह्य समाज का आगे के तान्त्रिको म अत्यधिक महत्त्व रहा है। इस पर नागाजुन द्वितीय (६१५ ई०) शानि देव (६९५ इ०) कृष्णाचाय (७१७ ई०) लीलावज्र (८४१ ई०) रत्नाकर ता ति (९८८ इ०) की टीकाएँ है। इन्द्रभूति, अद्वयवज्रादि ने इसका उल्लेख किया है। विनयतोष जी के अनुसार गुह्यसमाज से 'असग' प्रभावित था क्योकि उसने 'मा ान न नक्त्र थ मे पचध्यानी बुद्धो का शक्ति सहित उल्लेख किया है, मडलो एव मत्रो का भी उसने उल्लेख किया है अत गुह्यसमाज असग से पूव का तत्र होगा और मजुश्री मूलकल्प के पश्चात् इसकी रचना हुई होगी। विनयतोष जी असग का समय तृतीय शताब्दी मानते हैं और मजुश्री मूलकल्प का समय निश्चित नहीं है क्योकि उसमे मिश्रण बहुत है अत तथागत गुह्यक (गुह्यसमाज) का निर्माण चतुथ शताब्दी तक हो चुका होगा, केवल यही निश्चित रूप से कहा जा सकता है।[2]

(१) तथागतगुह्यक—विनयतोष भट्टाचाय, गायकवाड ओ० सारीज, बडौदा श्री विंटरनित्स गुह्यसमाज व "तथागतगुह्यसूत्र" इन दो तत्रो को अलग-अलग मानते है। उनके अनुसार गुह्यसमाज प्रारम्भिक तत्र नही है और चतुथ शताब्दी से वहुत बाद का है।

(२) असग व वसुबधु का समय की विवादास्पद है। प्रो० कन के अनुसार वसुबधु का समय ५ वी शताब्दी है। उनके अनुसार वसुबधु नालन्दा मे अध्यापक भी था। Manual of Indian Buddhism Part I, Page 130)

प्रो० शर्वात्स्की भी वसुबधु को ५ वी शताब्दी का मानते है। इलियट असग व वसुबधु का २८०—३६० ई०—यह समय निर्धारित करते हैं।

Jappanie's Buddhism—Page 71

विनयतोष असग का समय तृतीय शताब्दी मानते है—(तथागतगुह्यक, पृष्ठ १) वसुबधु असग का छोटा भाई था, अत उसका समय कुछ वष बाद माना जायगा। असग व वसुबधु का समय चतुथ शताब्दी मध्यभाग से पाचवी शता० के पूवभाग तक मान सकते है।

'तथागत गुह्यक' एक सगीति है अर्थात बुद्ध ने इसमे तथागतो, ध्यानीबुद्धो, शक्तियो आदि के बीच उपदेश दिया है। हीनयान एव महायानमतो मे भी सगीतियो का उल्लेख है, परन्तु उनमे केवल भिक्षु तथा बोधिसत्त्व ही सभासद बनते है। तान्त्रिक स गीतियो मे ध्यानी बुद्ध एव शक्तिया (स्त्रिया) भी रहती है अतएव गुह्यसमाज एक 'तान्त्रिक सगीति' है। तान्त्रिक सगीति को बुद्ध वचन भी कहा जाता है।

बौद्ध तन्त्र का उद्देश्य शैव शाक्त तन्त्रो की तरह शीघ्र ही बुद्धत्व की प्राप्ति है। सिद्धि सहज और सरलता से प्राप्त हो सके, इसलिए गुह्यसमाज मे 'शक्ति आराधना' का भी उल्लेख मिलता है। साधना के लिए स्त्री प्राप्ति को यहा 'विद्या व्रत' कहा गया है। आशु सिद्धि के लिए विधि निषेध की पूण अवहेलना अन्य तन्त्रो की ही तरह इस तन्त्र मे भी पायी जाती है। हठयोग को भी स्वीकार कर लिया गया है, शक्ति-साधना के पूव हठयोग करना पडता है। यदि शक्ति साधना से सिद्धि प्राप्त न हो तो समझना चाहिए कि हठयोग मे कही अशुद्धि रह गई है।

तथागतगुह्यक—दर्शन एवम् साधना—गुह्य-समाज सन्ध्याभाषा मे लिखा गया हे। अत इसमे गुह्य ज्ञान प्रधान है। आरम्भ मे ही कहा गया है कि तथागत काय, वाक चित्त, हृदय, तथा वज्र स्त्री एव भग मे विहार करते हैं।[1] इन्द्रभूति ने ज्ञानसिद्धि मे इसका अथ यह किया है कि हृदय का अथ ज्ञान है, इसे वज्रयोषित भी कहा गया है क्योकि वह अभेद्य प्रज्ञास्वभावा है, इसी को भग कहा है क्योकि यह सारे क्लेश का भञ्जन करती है।[2]

परन्तु सवत्र यह शैली नहीं है। जब तथागत तथा बोधिसत्व भगवान से प्रश्न पूछते है कि तत्त्व ज्ञान क्या है तो भगवान स्पष्ट शैली अपनाते है कि सासारिक पदाथ एव धम अनुत्पन्न है, उनकी सत्ता नही है। बोधि (चेतना) आकाश के समान है, यही नैरात्म्य है। बाधि के स युक्त होने से पदाथ प्रकाशित होते है।[3] स्पष्ट है

(१) एव मया श्रुतम्, एकस्मिन समये भगवान सव तथागत कायवाक् चित्त हृदय वज्रयोषिद्भगेषु विजहार।

(२) हृदय = ज्ञान तदेववज्रयोषित् अभेद्यप्रज्ञास्वभावात्।
तदेव भग सवक्लेशभञ्जनात् – ज्ञानसिद्धि – इन्द्रभूति

(३) अनुत्पन्ना इमे भावा, न धर्मा न च धर्मता।
आकाशमिव नैरात्म्यमिद बोधिनय दृढम्
अनुत्पन्नेष धर्मेषु न भावो न च भावना
आकाशपद योगेन, इति भाव प्रगीयते—गुह्यसमाज तन्त्र, द्वितीयपटल

यह सिद्धान्त विज्ञानवाद से प्रभावित है। विज्ञानवाद केवल चेतना को मानत बाह्य पदार्थों का नही। क्षण क्षण मे प्रवाहित चेतना ही प्रमाणित है, पदाथ इसी चे म स्थित ह जो बाहर प्रतिबिम्बित होते है। साधना के द्वारा जब भाव, अ ग्राह्य, ग्राहक वेद्य, वेद्यक का स्थिति का नाश हा जाता है और योगी स्वरूप हा जाता है, ता इसे 'शून्यता' की स्थिति कहते है, इस अवस्था मे चेतना के आव का नाश हो जाता है। कि तु यह शू यता की अवस्था ही केवल प्राप्य नही है, ब साथ 'करुणा' को भी स युक्त करना पडता है।

शू यता और करुणा की अद्वय अवस्था ही 'बोधिचित्' कहलाती है तथागत गुह्यक मे इसी बोधिचित का स्तवन है। यही प्राप्य है।

ज्ञान के द्वारा ही यह अवस्था प्राप्त हो सकती है। भक्ति एव कम से नह क्लश तथा आवरण दोनो का नाश ज्ञान द्वारा ही होता है। स्वय 'ज्ञेयाव जिसके नाश का विधान हीनयानमत मे नही है, ज्ञान द्वारा ही नष्ट होता इसीलिए ज्ञान को ही साधन व 'विघ्नान्तकृत्' कहा गया है [2]। ज्ञान का ही दू नाम 'प्रज्ञा है, शू यता भी इसी का नाम है। शास्त्र श्रवण, गुरुकृपा एव योग प्रज्ञा प्राप्ति सम्भव है परन्तु इसको करुणा या उपाय से सम्बद्ध करना पडता बिना उपाय के प्रज्ञा नि सहाय है, बिना प्रज्ञा उपाय अन्धा है। अत प्रज्ञा त उपाय, शू यता एव करुणा की एकता को ही आगे चलकर 'युगनद्ध' कहा गया ह तथागतगुह्यक मे प्रज्ञा और उपाय की एकता को ही योग कहा गया है,[3] जिस इस प्रारम्भिक तत्र मे विस्तार से वणन है।[4]

(१) शून्यता करुणाभिन्न बोधिचित्तमिति स्मृतम्—अष्टादश पटल।

(२) सवक्लेश क्षय यत्तत्सवकम क्षयस्तथा।
सर्वावरण क्षय ज्ञान, विघ्नान्तकृदिति स्मृतम्—वही

(३) प्रज्ञोपाय समापत्तिर्योग इत्यभिधीयते।
प्रज्ञाज्ञानात्मक योग वज्ररत्या समन्वितम्
नि सेकात ज्ञानधाराभि प्रज्ञाज्ञान स्वय भवेत्—वही

(४) काया, वाक् व चित्त की एकता ही योग है, गुह्यसमाज का यही तात्प है, इस योग से ही "बोधिचित्" की प्राप्ति होती है —

त्रिविध कायवाक्चित्त, गुह्यमित्यभिधीयते।
समाज मालन प्रोक्त, सवबुद्धाभिधानकम्—अष्टादश पटल
गुह्य का अर्थ है—काय, वाक् और चित्त।
समाज का अर्थ है—इनकी एकता

सव-भाव असिद्ध है, इस पर गुह्यसमाज म बहुत बल दिया गया है। स्वम भगवान, पच स्कन्ध, धातु, आकाश, सघ आदि किसी की सत्ता प्रमाणित नहीं होती। इसी प्रकार जप, तप, मत्र, काय, वाक्, चित्त, साधन, समाधि सब असिद्ध है, नि स्वभाव हैं। सत्य इनसे भी परे है। यह ज्ञान निम्नलिखित वार्तालाप द्वारा स्पष्ट किया गया है—तब भगवान से पूछा गया—हे भगवन् ! आप कहा स्थित है ? कहा से उत्पन्न होते है ? उत्तर—भगवान् साधक के काय, वाक् और चित्तादि मे स्थित है—

प्रश्न—स्वकाय, वाक्, चित्त स्थित वज्र (भगवान) कहा स्थित है ?

उत्तर—आकाश मे स्थित है ।

प्रश्न—आकाश कहा स्थित है ?

उत्तर—कही नही ।

यह उत्तर सुनकर सभी बोधिसत्व आश्चय मूढ होकर, सारे पदार्थ स्वचित्त मे ही स्थित है, ऐसा ध्यानकर मौन हो गए। इस प्रकार गुह्यक-समाज चेतना को ही स्वीकार करता है, अन्य धर्मो की सत्ता को उसी का प्रतिबिम्ब मानता है।

इसका अर्थ यह नही है कि व्यावहारिक (सावृतिक सत्य) दृष्टि से पदार्थो की सत्ता नहीं है।[1] पारमार्थिक दृष्टिकोण से पदार्थ की सत्ता नही है, यही तथा—

१ न च भगवन्त सवतथागता सवमन्त्रसिद्धीनि सवमन्त्रकायवाक् चित्त वज्र स्थितानि। तत्कस्य हेतो । परमार्थत कायवाक् चित्त मन्त्र सिद्धीनामसम्भवात् ।

अथ ते सव तथागता सवतथागत काय वाक् चित्त वज्र तथागतमेवमाहु । सवतथागतधर्मा भगवन कुत्र स्थिता क्व व सम्भूता । वज्रसत्त्व आह। स्वकाय वाक चित्त सस्थिता , स्वकाय वाक् चित्त सम्भूता । भगवन्त सवतथागत आहु । स्वकाय वाक् चित्त वज्र कुत्र स्थितम् ?

आकाश स्थितम्

आकाश कुत्र स्थितम्

न क्वचित्

अथते सवबुद्ध बोधिसत्त्वा आश्चयप्राप्ता अद्भुतप्राप्ता स्वचित्तधर्मताविहार ध्यायस्तूष्णी स्थिता अभूवन्निति । पचदशपटल

गनगुह्यक का निणय है, और यह सिद्धान्त माध्यमिक एव योगाचार दोनो के अनुकूल है।

साधना—भगवान का यह वचन हे कि दुष्ट, कामी, परद्रव्यहारी आदि पापी विशेष रूप से साधना के लिए उपयुक्त है। साधना मे सभी पाप पुण्य बन जाते ह। साधक को चाहिए कि वह माता, भगिनी, पुत्री की कामना करे, इससे आशुसिद्धि हानी है। परतु लिप्सारहित होकर यह साधना करनी पडती है।[1]

यह विचित्र साधना सुनकर श्रोता हे तथागन! "मत कहिए" "ऐसा मत कहिए" चिल्लाते हुए व्याकुल होकर मूर्च्छित हो गए।[2] तब भगवान ने बताया कि यही ज्ञान का सार है। यही शुद्ध 'बोधिचरिपद' है। यही धमता है।[3]

ध्यानयोग—तथागत गुह्यक मे सवप्रथम ध्यान-योग का वणन है। चक्र, रत्न, पद्म, रश्मिमडल आदि का ६ माह तक ध्यान करना बताया गया है। यह स्मरणीय है कि चक्र, रत्न आदि शब्द प्रतीक रूप मे भी प्रयुक्त हुए है, इनके अर्थ कुछ और भी हो सकते है। उदाहरणत रत्न का वास्तविक अर्थ चित्त है।[4] परन्तु सम्भवत साधन के प्रारम्भिक सोपानो मे इनका अभिधेयार्थ ही ग्रहण किया जाता है। नासा के आगे सरसो का ध्यान करे अथवा सूय मडलादि का। यहा इन शब्दो का अभिधेयार्थ ही ग्रहणीय है।[5] ध्यान के पूव स्नान, न्यासादि का भी विधान है, अभिषेक का भी वणन है।

---

(१) ये परद्रव्याभिरता नित्य कामरताश्च ये।
विरामुत्राहारकृत्या, ये भव्यास्ते खलुसाधने
मातृभगिनी पुत्रीश्च, कामयेद्यस्तु साधक ।
स सिद्धि विपुला गच्छेत्, महायानग्रधमताम्
मातर बुद्धस्य विभो कामयन्न च लिप्यते—पचम पटल

(२) किमम भगवान् सवतथागत स्वामी सवतथागत पष्न्मण्डल मध्ये—
दुभाषित वचनोदाहार भाषते। (वही)
बोधिसत्त्वा भीता सन्त्रस्ता मूर्च्छिता अभूवन—वही

(३) इय सा धर्मता शुद्धा, बुद्धाना सार ज्ञानिनाम्।
सारधर्मार्थ सम्भूता, एषा बोधिचरिपदम्—वही

(४) अष्टादश पटल

(५) नासाग्रे सषप चिन्तेत सषपे सचराचरम्
आकाशधातुमध्यस्थ भावयेत् सूयमण्डलम्—वही

अभिषेक—अभिषेक तीन प्रकार का है, कलशाभिषेक, गुह्या भिषेक, प्रज्ञाज्ञानाभिषेक । द्वितीय अभिषेक मे स्त्री की आवश्यकता होनी हे ।

न्यास—स्नान के अनन्तर शिखा से पैर तक प्रत्येक अग मे न्यास का विधान है ।

आहार—भयकर आहार का भी विधान है। प्रत्येक पशु का मास भक्ष णीय है । वीय, विष्टादि का भक्षण भी विधेय कहा गया है । यदि मासादि उप लब्ध न हो तो शैव तान्त्रिको के अनुसार यह विधान किया गया है कि ध्यान द्वारा ही मास भक्षण करे ।

स्थान—साधना के लिए शिवालय, (एक लिङ्ग का मदिर) चौराहे पर, वृक्ष के नीचे अथवा निजन स्थान (श्मशानादि) मे साधना करे ।

जप—बोधिचित्त की प्राप्ति तथा सिद्धियो की प्राप्ति के लिए 'जप' का महत्त्व अधिक है । तथागत गुह्यक मे १० प्रकार के जप का उल्लेख है । काय, वाक, चित्त, रत्न, अमोघ, क्रोध, मोह, राग, द्वेष, तथा नपुसक जप ये १० प्रकार के जप हैं । भाव एव अभाव का विचार करते हुए उच्चस्वर से जप करना काय जप है । शब्द तथा अशब्द का विचार करते हुए जप करना वाग्जप ह । चित्तजप मे चित्तानु सधान होता है । 'बुद्ध' पर ध्यान केद्रित करते हुए रत्नजाप किया जाता है । तत्व मे बार बार गमन आगमन अमोघ जप कहलाता है । क्रोध के समय ज्ञानद्वारा जाप क्रोध जाप हे । सर्वजीवो के हित के लिए व्याकुल होने की अवस्या मे मोह से युक्त होने पर ज्ञानपूवक जप मोहजाप है । काया, वाक् चित्त के स्थिर होने पर रागपद मे स्थित होकर जप करना रागजाप है । इसी प्रकार द्वेष की स्थिति मे जप द्वेषजाप है । उपयुक्त सव तत्वो का एक साथ जप नपुसकजप कहलाता है ।[1] जप के समय चेतना की उच्च अवस्था ही फल देती है ।

मत्रो का स्वरूप—'तयागतगुह्यक' मे पूर्ववर्ती धारणी मत्रो के समान ही अनेक मत्र मिलते है । मृतसजीवनी, रक्षामत्र, वशीकरण, आकषण, उच्चाटन, मारण, स्तम्भन सबके मत्र दिये है ।[2] सप-दशन के लिए भी मत्र दिये गए हैं ।

(१) द्रष्टव्य—त्रयोदश पटल ।

(२) **मृतसजीविनी** ओ रु रु स्फुरु ज्वल तिष्ठ सिड्वो चने सर्वाथ साधनि स्वाहा—**रक्षाचक्रमत्र**, ओ शङ्करे शान्तिकरे घुट्टघुट्ट घुट्टनि घातय घातय घुट्टनि स्वाहा । चतुदशपटल
वशीकरण—ओतारे तुत्तारे तुरे स्वाहा

मन्त्र चर्या का महत्व—मन्त्र चर्या मे बाह्य प्रयत्न आवश्यक नही है। चित्तानुसधान ही फल देता है। शुद्ध तत्व (चित्त) मे चित्त का समाहित होना ही मन्त्र-चर्या है।[१] तत्व का मनन ही मन्त्र है।[२] लोकाचार मन्त्र चर्या मे गृहणीय नही है।

शक्तियोग—शक्ति साधना (लता साधना) के पूर्व हठयोग द्वारा चित्त शुद्धि आवश्यक है। सभी प्रकार की शुद्धि के पश्चात १२ वर्ष की कन्या लेकर विजन म साधना करे। विष्टा, मूत्र आदि का मडल बनाय। उस मडल पर किसी भी जाति की स्त्री को अक म आसीनकर साधना करे। [३] काय, वाक्, चित्त भेद, अभेद से परे होकर यह साधना का जाती है। इसी को 'विद्यापौरुष' कहा जाता है। बिना विद्या (स्त्री प्रज्ञा) के साधना असम्भव है। [४]

तान्त्रिक साधना का महत्व—क्या इस साधना से अध पतन नही होगा ? इसका उत्तर यह है कि जिससे बन्धन होना है, उससे ही मुक्ति मिल सकती है। अन्यतन्त्रो की तरह यहा भी यह सिद्धान्त स्वीकृत हे। ससार मे मोह, द्वेष, राग, क्रोध आदि पर विजय के अनेक उपाय अन्य साधनाओ मे बताये गए है परन्तु तन्त्र-साधना मे राग पर राग द्वारा, क्रोध पर क्रोध द्वारा, मोह पर मोह द्वारा और द्वष पर द्वष द्वारा विजय स्वीकृत है, इसीलिए यह सबसे सरल और सबसे कठिन मार्ग है। ज्ञान के बिना पग पग पर भय है परन्तु भय तो ससार मे वैसे

(१) मारण—ओ ह्री ष्ट्री विकृतानन सर्व शत्रूनाशाय स्तम्भय
हू हू फट् फट स्वाहा।

(२) असमाहित योगेन नित्यमेवसमाहित सर्वचित्तेषु या चर्या मन्त्र चर्या इति कथ्यते।
मन्य मन्त्रमिति प्रोक्त, तत्त्व चोदन भाषणम्।—अष्टादश पटल

(३) द्वादशाब्दिका कन्या ता चण्डालस्य महात्मन।
साधयेत साधको नित्य, चतुरस्र विधानत।
विण्मूत्रममयाद्येन, चतुरस्र विधानत
मण्डल कारयेत तत्र वज्रमडल साधने।
सर्व लक्षणसशुद्धा, चारुवक्त्रा सुशोभनम्।
सर्वालङ्कार सम्पूर्णामङ्क—स्थाप्य विभावयेत्—पचदश पटल

(४) नान्योपायेन बुद्धत्व तस्माद्विद्यामिमा वराम्—अष्टदश पटल

भी है अत निभय होकर तथा वज्राचाय साधना करने को कहते है। तथागत गुह्यक की घोषणा है कि पदार्थों मे स्वय नाश करने की शक्ति नही है क्योकि उनकी सत्ता है, यह प्रमाणित नहीं होता, उनकी यदि कही सत्ता है तो चित्त मे ही है अत चित्त को वश मे लेने से ही मुक्ति सम्भव है और चित्त मे जिन पदार्थो से भ्रम उत्पन्न होता है, उनके द्वारा ही शाति भी उत्पन्न की जा सकती है। अतएव मोह के द्वारा ही मोह का नाश हो सकता है। यही 'वज्रयान' की विशेषता है।[1]

गूढार्थ—तथागत गुह्यक मे प्रतीको के द्वारा सत्य की ओर सकेत किया गया है। मण्डल शब्द के लिए भग, बोधिचित् एव शरीर ये तीन प्रतीक है।[2] पुष्प शब्द नवीन स्त्री के लिए आता है।[3] चक्र का अथ है, ज्ञान से जिसकी सृष्टि हुई हो।[4] विद्या शब्द भी स्त्री के लिए प्रयुक्त होता है। पचामृत का अथ है, पाच प्रकार का ज्ञान।[5] बन्धन का अथ है आतरिक रश्मि से तत्वपद मे काय, वाक् चित्तादि को आकर्षित करना और अतमुख होना।[6] 'गुह्य' शब्द का अथ है काय

---

(१) मोहोद्वेषस्तथा राग सदा वज्रे रति स्थिता।
उपायस्तेन बुद्धाना, वज्रयानमिति स्मृतम्
अविनाशात्मका धर्मा अनुत्पादस्वभावत ।
समय सव भावना तेनैवा तककृद्यम ।
मोहो मोहोपयोगेन, क्षयमोह यमान्तकृत ।
रागो रागोपभोगेन क्षयराग पद्मान्तकृत
दोषो दोषोयभोगेन क्षयदोष प्रज्ञान्तकृत—अष्टादशपटल

(२) भग मण्डल माख्यात, बोधिच्चित्त च मण्डलम्।
देह मण्डलमिति युक्त त्रिषु मण्डल कल्पना। अष्टादश पटल।

(३) पुष्प मित्यभिधीयन्ते नवयोषितखधातव । वही

(४) ज्ञानसत्वेन यत् सृष्ट, ज्ञानचक्रमिति स्मृतम्—वही

(५) ज्वालन तापन चैवोद्योतन रूप दर्शिनम्
मन्त्रमूर्ति प्रयोगेण, भक्षेत्पञ्चामृतामृतम्—वही

(६) रश्मिना सववज्राणा सववज्राणि तत्पदे।
सहृत्य पिण्डरूपेण बधो, ब धनमुच्यते—वही

वाक् एव चित्त और 'समाज' शब्द का अथ है इन तीनो का सघट्ट = एकता ।[१] र शब्द का अथ है चित्त ।[२] 'सेवा' शब्द का अथ है साध्य साधन का सयोग ।[३]

गुह्य समाज की उपर्युक्त साधना से स्पष्ट है कि यह मूलत मनोवैज्ञानिक साध है (Psychic) हठयोग मे 'साइकी' का विकास लक्ष्य नही होता, अपितु प्रा शक्ति, नाडी तथा शरीरावयवो को अनुशासन मे लाया जाता है अत हठयो को सोपान के रूप मे तत्र अपनाते है। हठयोग से सामान्य सिद्धियो मारण मोहनादि की प्राप्ति हो सकती है परन्तु उत्तम सिद्धि—बुद्धत्व की प्राप्ति तत्रयोग से ही सम्भव है,

देवमडल—'गुह्य समाज' मे भगवान से उपदेश की प्राथना करने पर वह अनेक मुद्राए धारण करते है, तथा अनेक मत्र पढते है, इनका रहस्य समझ लेने से देव मडल का रहस्य स्पष्ट हो जाता है । मत्र और मुद्रा के अनुसार एक ही शक्ति अनेक रूप धारण करती है । बौद्धो का देवमण्डल इसीलिए अत्यधिक व्यवस्थित है ।

	ध्यान का नाम	मत्र	कुल + शक्ति	देवता
(१)	नानप्रदीपवज्र	वज्रधृक	द्वेष द्वेषरति	बोधिचितवज्र (भगवान आदिसत्ता, हिन्दुओ के परब्रह्म या शिव)
(२)	समयसम्भववज्र	जिनजिक	महो (मोहरति)	वैरोचन
(३)	रत्नसम्भववज्रश्री,	रत्नधृक	चिंतामणि (ईर्ष्यारति)	रत्नकेतु
(४)	महारागसम्भववज्र,	आरोलिक्	वज्रराग (राग रति)	अमिताभ
(५)	अमोघसमयसम्भववज्र,	प्रज्ञाधृक	समयाकषण वज्ररति	अमोघवज्र

इसके पश्चात् भगवान ने लोचना, मामकी तारा, पाण्डरा तथा आमतारा आदि देवियो को व्यक्त किया । पुन भगवान ने अपने को चार प्रहरियो मे परिवर्तित किया—Guardian gods—

---

(१) त्रिविध कायवाक्चित्त, गुह्यमित्यभिधीयते ।
समाज मीलन प्रोक्त, सव बुद्धाभिधामकम्—वही

(२) चित्तम् रत्नमिति ख्यातमर्थे सर्वे समुद्भवम्—वही

(३) साध्य साधनसयोग यत्तत् सैवेति भण्यते—वही

	पूव	दक्षिण	पश्चिम	उत्तर
प्रहरी—	यमनान्तक	प्रज्ञा तक	पद्मान्तक	विघ्ना तक
मन्त्र—	यमनान्तकृत	प्रज्ञा तकृत	पद्मा तकृत	विघ्ना तकृत

प्रहरी + मन्त्र + कुल + देवता + शक्ति + ध्यान—इनके योग से ही समाधि प्राप्त होती है। इस विभाजन से यह स्पष्ट है कि पचध्यानी बुद्ध एक ही सत्ता के व्यक्त रूप है।[1]

यह व्यवस्थित देवमण्डल सवप्रथम गुह्य-समाज मे ही मिलता है। ध्यानी बुद्धो के नाम पूव ग्रन्थो मे अवश्य मिलते है, परन्तु उनमे व्यवस्था नही मिलती अत इस 'गुह्य-समाज' को ही प्रथम व्यवस्थित तन्त्र-ग्रन्थ माना जाता है।

वज्रयान का विकास—'तथागत गुह्यक' मे सवप्रथम प्रारम्भिक तान्त्रिक बौद्धमत का निश्चित रूप देख लेने के पश्चात् आगे की शताब्दियो मे इसका विकास सरलता से समझ मे आ जाता है। 'गुह्यसमाज' के बाद ध्यानी-बुद्ध, देव-कुल (The families of god) शक्ति सहित देवो (युगनद्ध) की उपासना, महासुख आदि सिद्धान्त जब तान्त्रिक-बौद्धमत मे प्रधान होते गए तो इसका नाम 'वज्रयान' पडा।

तारानाथ के अनुसार अस ग से धमकीर्ति के समय तक (चतुथ शता० से सप्तम् शता० तक) इसका विकास मिलता है। सरहपाद, नागाजु न (द्वितीय) लुईपाद, पद्मवज्र, अनग वज्र, इन्द्रभूति और लक्ष्मीकरा देवी आदि ने इस धम के प्रचार मे अधिक योग दिया है। सरह का समय सप्तम शताब्दी है और सरह तन्त्र के प्रथम आचाय माने जाते है। सरह नाल दा मे आचाय रह चुके थे, और वसुबधु भी नालन्दा मे आचाय रहा था अत नालन्दा विश्वविद्यालय मे, जहाँ विज्ञानवाद एव शून्यवाद का अध्ययन होता था, वज्रयान का विकास हुआ है।

वज्रयान के विकास को समझने के लिए गुरु परपरा का उल्लेख आवश्यक है। कार्डियर के अनुसार आचाय परपरा इस प्रकार है—

१ पद्मवज्र—६९३ ई०
२ अनगवज्र—७०५ ई०
३ इन्द्रभूति—७१७ ई०

(१) द्रष्टव्य—तथागतगुह्यक की भूमिका—विनयतोष भट्टाचाय

४ लक्ष्मीकरा देवी—७२९ ई०
५ लीलावज्र—७४१ ई०
६ दारिकपाद—७५३ ई०
७ सहजयागिनी चित्रा—७६५ ई०
८ डोम्बी हेरुक—७७७ ई०

'तजौर कैटालाग'[1] मे कार्डियर ने यह परम्परा दी है। विनयतोष जी ने 'माधनमाला' मे इन्द्रभूति के समय को आधारमानकर उपर्युक्त तिथिया निश्चित की है किन्तु विनयतोष गुरपरपरा द्वारा जो सूची प्राप्त हुई है, उसे अधिक विश्वमनीय मानते है। गुरुपरपरा इस प्रकार है—

१ सरहपाद—६३३ ई०
२ नागार्जुन द्वितीय—६४५ ई०
३ शबरिपा—६५७ ई०
४ लुइपा—६६९ ई०
५ वज्रघण्ट—६८१ ई०
६ कच्छप—६९३ ई०
७ जालन्धरीपाद—७०५ ई०
८ कृष्णाचार्य—७१७ ई०
९ गुह्य—७२९ ई०
१० विजयपाद—७४१ ई०
११ तैलोपाद—९७८ ई०
१२ नारोपा—९९० ई०

सरहपाद के 'बुद्धकपालतत्र का उल्लेख मिलता है। तारानाथ के अनुसार सरह ने अनक ग्रन्थ सस्कृत मे लिखे है। सरहधमकीर्ति के समसामयिक थे। धमकीर्ति का सम्य विनयतोष के अनुसार ६०० ६५० ई० है।

नागार्जुन द्वितीय विनयतोष के अनुसार ऐतिहासिक व्यक्ति था यद्यपि कनिपय विद्वान इसे ऐतिहासिक व्यक्ति नहो मानते।[2] सस्कृत मे इसके कई ग्रन्थ है।

1 Tanjvur Catalogue—P Cordier

2 The Stories of Nagarjvn from Tibetan and Chinese Sources-Walleser,

पद्मवज्र—गुह्य सिद्धि के लेखक पद्मवज्र है।[1] तिब्बत मे १८वी शताब्दी तक इसका महान आदर रहा। यह सध्याभाषा मे लिखित है। गुह्यसिद्धि भी गौतम बुद्ध को ही तत्र का प्रवतक मानती है। 'गुह्यसिद्धि' मे तत्र का पूण-विकसित रूप मिलता है। तारानाथ के अनुसार 'हेवज्रतत्र' के लेखक भी पद्मवज्र ही थे।

जालन्धरीपा या हाडीपा—कहा जाता है कि चितगाग (बगाल) के राजा गोपीचन्द के साथ इसी सिद्ध का सम्बध था परन्तु यह निश्चित नही है। 'हेवज्रतत्र' पर इनके एक ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है।

अनगवज्र—'प्रज्ञोपाय विनिश्चयसिद्धि' की रचना अनगवज्र ने की है। 'हेवज्रतत्र' पर भी लिखा है।

इन्द्रभूति—सहजयान सम्प्रदाय का प्रवतक इन्द्रभूति को माना जाता है। आचाय पद्मसम्भव के यह पिता थे। पद्मसम्भव (पद्मवज्र से भिन्न) तथा शातरक्षित ने ७४९ ई० मे तिब्बत मे जाकर प्रथम बौद्ध बिहार की स्थापना की थी। इन्द्रभूति 'ज्ञान सिद्धि के लेखक थे।

कृष्णाचार्य—कृष्णाचाय अनेक हुए है। किन्तु ८ वी शताब्दी का यह कृष्णाचाय सिद्ध था। जालधरीपा इनके गुरु थे। यह 'सम्पूततिलक' आदि अनेक ग्रन्थो के लेखक थे।

लक्ष्मीकरादेवी—यह 'इन्द्रभूति' की बहिन थी। अद्वयसिद्धि' नामक ग्रन्थ लिखा है।[2] सहजयान के प्रचार का सबसे अधिक श्रेय इसी नारी को है। लक्ष्मीकरा की देखरेख मे वज्रयान के समानान्तर सहजयान का भी प्रचार होने लगा। लीलावज्र इसका शिष्य था, जिसने इस परपरा मे अनेक ग्रन्थ लिखे है।

दारिकपाद—इनके ग्रन्थ तजौर मे सुरक्षित है।

सहजयोगिनी चिन्ता—'व्यक्तभावानुगत-तत्त्व सिद्धि'[3] इन की प्रसिद्ध रचना है। यह दारिकपाद की शिष्या थी। विज्ञानवाद से प्रभावित था। तिब्बती भाषा मे इसका ग्रन्थ सुरक्षित है।

(१) हस्तलिखित रूप मे गायकवाड पुस्तकालय बडौदा मे प्राप्त।

(२) **हस्तलिखित प्रति**—बडौदा पुस्तकालय मे तथा हरप्रसाद शास्त्री के निजी पुस्तकालय मे प्राप्त।

(३) **हस्तलिखितप्रति**—बडौदा पुस्तकालय

डोम्बी हेरुक—यह सहजयोगिनी का शिष्य था, मगध का राजा था मस्कृत म कइ ग्रन्थ लिखे है। इसकी 'सहजसिद्धि' प्राप्त है।[1]

इन आचार्यो के अतिरिक्त वज्रयान एव सहजयान के अन्य आचार्यो व उल्लेख भी आवश्यक है। सरहपाद के अतिरिक्त नालन्दा के आचाय शानिदेव 'शिक्षासमुच्चय' नामकग्रन्थ लिखा है। (सप्तम शताब्दी) इसमे भी तान्त्रि बौद्धमत के सिद्धान्त एव उपासनाएँ ह।

नालदा के अतिरिक्त पालवश (बगाल) के राजाओ के समय इस मत क विशेष उन्नति हुइ। विक्रमशिला तथा ओदन्तपुरी मे तान्त्रिक बौद्धमत के विश्वविद्यालय स्थापित हुए। इनमे तान्त्रिक सिद्धान्त एव उपासना पर बहुत अधिक काय हुआ पालवश के महाराज महीपाल के समय (९७८—१०३०) के समय यह मत उन्नति के चरम शिखर पर पहुच गया।[2] कुछ आचार्यो के नाम उल्लेखनीय है— कुक्कुरापाद ६९३ ई० शबर—६५७ ई० वैरोचनरक्षित—७२८ ७६४, करुणाचाय ७५३, श्रीकृष्ण—७१७ ई०।

दीपकर (९५०-१०५३) अद्वयवज्र (९७८ १०३०) अद्वयवज्र सग्रह म रचनाएँ सगृहीत ललितगुप्त, (१०५०), मुकुट (११००) प्रभाकर कीर्ति (११००) रत्नाकर शाति (९७८ १०३०) रत्नाकर (११००) कुलाचाय (११००) रत्नाकर गुप्त (११००) सघदत्त (१०७५) शाश्वनराज (११००) सवज्ञमित्र (१०५०) श्रीघर (११००), सुजनभद्र (११००) अभयकर गुप्त (१०८४ ११३०)।[3]

अन्य प्रसिद्ध आचार्यो मे आयदेव (चित्तविशुद्धि प्रकरण)[4] शातिरक्षित (तत्वसग्रह)[5], नारोपा (सेकोद्दश्यटीका)[6] के नाम उल्लेखनीय है।

(१) हस्तलिखितप्रति—बडौदा पुस्तकालय

(२) पालवश—इतिहास मे अति प्रसिद्ध है।

(३) द्रष्टव्य–साधनमाला–इस तत्र मे उपयुक्त आचार्यों के नाम से साधनाएँ दी गइ है।

(४) Journal of Asiatic society of Bengal मे प्रकाशित— आयदेव नागार्जुन द्वितीय का समसामायिक आचाय होगा, ऐसा अनुमान है।

(५) G O Series

(६) Oriental Institute Baroda

उपयुक्त आचाय परपरा के विहगावलोकन से स्पष्ट है कि तथागतगुह्यक के पश्चात् सप्तम शताब्दी मे नालदा विश्वविद्यालय के आचाय सरह से वज्रयान का प्रचार प्रारम्भ होता है। अत बौद्ध तान्त्रिक-युग ७वी शताब्दी से १३वी शताब्दी तक माना जाता है। बगाल पर मुहम्मदबिन अख्तियार के आक्रमण काल के पश्चात्[1] तान्त्रिक बौद्धमत विशृखलित हो गया और हिदू धर्म मे सम्मिलित हो गया। फकुअर ने इस मत का नाम 'शाक्त बौद्धमत' दिया है। क्योकि इस युग मे बौद्धमत मे शक्तिसयुक्त देवताओ की उपासना शाक्तो की तरह मत्र, मुद्रा, मडल तथा पचमकार द्वारा प्रचलित हुई। फकुअर का कहना है कि गौतम बुद्ध ही इस तान्त्रिक मत के लिए उत्तरदायी थे, क्योकि उन्होने देव, यक्ष, पिशाच आदि की सत्ता का खडन कभी नही किया था यद्यपि आत्मा एव ईश्वर के वह विरोधी थे। सन्यास तथा योग द्वारा प्राप्त लोकोत्तर शक्तियो के भी वह विश्वासी थे। यद्यपि इन तत्त्वो को गौतम बुद्ध ने पृष्ठभूमि मे रखा था परन्तु इनका खडन कभी नही किया अत महायानमत मे उनका विकास होने लगा। स्वग स्थित बोधिसत्त्वो को हिदू देवतावाद के आधार पर कल्पित कर लिया गया। देवताओ के अनेक कुलो से, असख्य देवताओ का जन्म कल्पित हुआ—इस प्रकार बौद्धमत, जो प्रारम्भ मे अध विश्वासो का विरोधी था, स्वय हिन्दू अन्ध विश्वास का केन्द्र बन गया। प्रत्येक देवता की एक स्त्री कल्पित की गई और शैव शाक्तो की चक्र पूजा के आधार पर तान्त्रिक बौद्धमत ने कौल कापालिक साधना को स्वीकार कर लिया। यशोधरा एव उसकी सखियो तथा दासियो के साथ गौतम बुद्ध ने जो भोगमय जीवन व्यतीत किया था, उसे ही तान्त्रिको ने आदश मान लिया और यशोधरा को भगवती (शक्ति, उमा) का रूप प्राप्त हो गया। सम्मोहन (Hypnotism) जादू

(I) The main conceptions of polytheistic paganism had never been repudiated and Condemned All Buddhists believed in the Hindu Gods and demons, the need of honouring them, the supernatural power of Saint hood, the occult potency of yoga practices both physical and mental and the power of magic spells Although these things were kept in the backgronnd in early Buddhism, they were not killed and in the Mahayan they got the opportunity to grow and spread

The Religious quest of India–Page (210)

डोम्बी - हेरुक—यह सहजयोगिनी का शिष्य था, मगध का राजा था। मस्कृत म कइ ग्रन्थ लिखे है। इसकी 'सहजसिद्धि' प्राप्त है।[१]

इन आचार्यो के अतिरिक्त वज्रयान एव सहजयान के अन्य आचार्यो का उल्लेख भी आवश्यक है। मरहपाद के अतिरिक्त नालन्दा के आचाय शातिदेव ने 'शिक्षासमुच्चय' नामकग्रन्थ लिखा है। (सप्तम शताब्दी) इसमे भी तान्त्रिक बौद्धमत के सिद्धान्त एव उपासनाए है।

नालन्दा के अतिरिक्त पालवश (बगाल) के राजाओ के समय इस मत की विशेष उन्नति हुइ। विक्रमशिला तथा आदन्तपुरी मे तान्त्रिक बौद्धमत के विश्वविद्यालय स्थापित हुए। इनम तान्त्रिक सिद्धान्त एव उपासना पर बहुत अधिक काय हुआ। पालवश के महाराज महीपाल के समय (९७८—१०३०) के समय यह मत उन्नति के चरम शिखर पर पहुच गया।[२] कुछ आचार्यो के नाम उल्लेखनीय है—कुक्कुरीपाद ६९३ ई० शबर—६५७ ई० वैरोचनरक्षित—७२८ ७६४, करुणाचाय ७५३, श्रीकृष्ण—७१७ ई०।

दीपकर (९५०-१०५३) अद्वयवज्र (९७८ १०३०) अद्वयवज्र सग्रह म रचनाएँ सगृहीत ललितगुप्त, (१०५०), मुकुट (११००) प्रभाकर कीर्ति (११००) रत्नाकर शान्ति (९७८ १०३०) रत्नाकर (११००) कुलाचाय (११००) रत्नाकर गुप्त (११००) सघदत्त (१०७५) शाश्वतराज (११००) सवज्ञमित्र (१०५०) श्रीधर (११००), सुजनभद्र (११००) अभयकर गुप्त (१०८४ ११३०)।[३]

अन्य प्रसिद्ध आचार्यो मे आयदेव (चित्तविशुद्धि प्रकरण)[४] शातिरक्षित (तत्वसग्रह)[५], नारोपा (सेकोद्देश्यटीका)[६] के नाम उल्लेखनीय है।

(१) हस्तलिखितप्रति—बडौदा पुस्तकालय

(२) पालवश—इतिहास मे अति प्रसिद्ध है।

(३) द्रष्टव्य–साधनमाला–इस तत्र मे उपयुक्त आचार्यो के नाम से साधनाएँ दी गइ है।

(४) Journal of Asiatic society of Bengal मे प्रकाशित—आयदेव नागाजुन द्वितीय का समसामायिक आचाय होगा, ऐसा अनुमान है।

(५) G O Series

(६) Oriental Institute Baroda

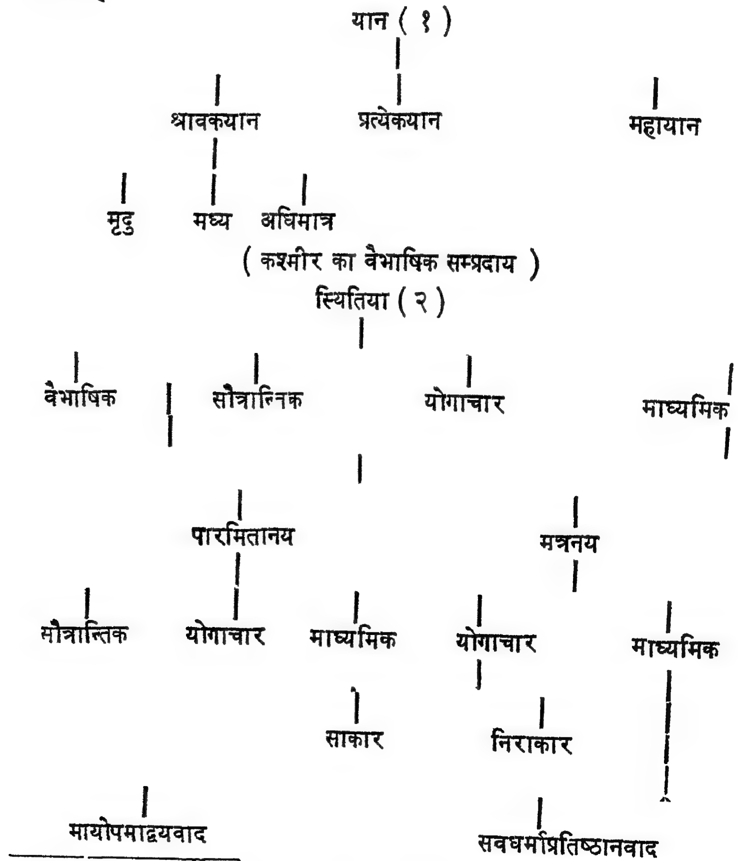
उपयुक्त आचाय परपरा के विहगावलोकन से स्पष्ट हे कि तथागतगुह्यक के पश्चात् सप्तम शताब्दी मे नालदा विश्वविद्यालय के आचाय सरह से वज्रयान का प्रचार प्रारम्भ होता है। अत बौद्ध तान्त्रिक-युग ७वी शताब्दी से १३वी शताब्दी तक माना जाता है। बगाल पर मुहम्मदबिन अख्तियार के आक्रमण काल के पश्चात्[1] तान्त्रिक बौद्धमत विशृ खलित हो गया और हिंदू धर्म मे सम्मिलित हो गया। फकुअर ने इस मत का नाम 'शाक्त बौद्धमत' दिया है। क्योकि इस युग मे बौद्धमत मे शक्तिसयुक्त देवताओ की उपासना शाक्तो की तरह मत्र, मुद्रा, मडल तथा पचमकार द्वारा प्रचलित हुई। फकुअर का कहना है कि गौतम बुद्ध ही इस तान्त्रिक मत के लिए उत्तरदायी थे, क्योकि उन्होने देव, यक्ष, पिशाच आदि की सत्ता का खडन कभी नही किया था यद्यपि आत्मा एव ईश्वर के वह विरोधी थे। सन्यास तथा योग द्वारा प्राप्त लोकोत्तर शक्तियो के भी वह विश्वासी थे। यद्यपि इन तत्त्वो को गौतम बुद्ध ने पृष्ठभूमि मे रखा था परन्तु इनका खडन कभी नही किया अत महायानमत मे उनका विकास होने लगा। स्वग स्थित बोधिसत्त्वो को हिन्दू देवतावाद के आधार पर कल्पित कर लिया गया। देवताओ के अनेक कुलो से, असख्य देवताओ का जन्म कल्पित हुआ—इस प्रकार बौद्धमत, जो प्रारम्भ मे अन्ध विश्वासो का विरोधी था, स्वय हिन्दू अन्ध विश्वास का केन्द्र बन गया। प्रत्येक देवता की एक स्त्री कल्पित की गई और शैव शाक्तो की चक्र पूजा के आधार पर तान्त्रिक बौद्धमत ने कौल कापालिक साधना को स्वीकार कर लिया। यशोधरा एव उसकी सखियो तथा दासियो के साथ गौतम बुद्ध ने जो भोगमय जीवन व्यतीत किया था, उसे ही तान्त्रिको ने आदश मान लिया और यशोधरा को भगवती (शक्ति, उमा) का रूप प्राप्त हो गया। सम्मोहन (Hypnotism) जादू

(I) The main conceptions of polytheistic paganism had never been repudiated and Condemned All Buddhists believed in the Hindu Gods and demons, the need of hono uring them, the supernatural power of Saint hood, the occult potency of yoga practices both physical and mental and the power of magic spells Although these things were kept in the backgronnd in early Buddhism, they were not killed and in the Mahayan they got the opportunity to grow and spread

The Religious quest of India–Page (210)

(Magic) अभिचार, शब्द-साधना, चक्र-साधना, ऋद्धि सिद्धि प्राप्ति का प्रचार हुआ। गुरु एव बुद्ध की एकता घोषित की गई। एक विस्तृत साधना-पद्धति का विकास हुआ। शून्यवाद, विज्ञानवाद तथा औपनिषदिक ब्रह्मवाद के मिश्रित सिद्धान्त द्वारा इस तान्त्रिकमत की दार्शनिक पृष्ठभूमि को पुष्ट कर दिया गया, आगे हम ७वीं शताब्दी से १३वी शताब्दी तक के बौद्धतान्त्रिक मत के दार्शनिक और साधनात्मक पक्षों को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे।

अद्वयवज्र ने तान्त्रिक बौद्धमत का दार्शनिक दृष्टि से इस प्रकार विभाजन[1] किया है।



(१) द्रष्टव्य-अद्वयवज्रसंग्रह मे 'तत्व रत्नावली'—G O Series

उक्त विभाजन से 'वज्रयान' या 'मन्त्रयान' की स्थिति तथा दृष्टि स्पष्ट है। किन्तु यहा यह स्मरणीय है कि अद्वयवज्र माध्यमिक थे अत उन्होने 'मन्त्रयान' को योगाचार से अलग कर लिया है, वस्तुत तान्त्रिक-बौद्धमत मे योगाचारी और माध्यमिक दोनो दृष्टिया स्वीकृत है, उदाहरणत शातिरक्षित के 'तत्वसग्रह' मे विज्ञानवाद स्वीकृत है जबकि अनगवज्र एव इन्द्रभूति माध्यमिक है। 'अद्वयवज्र' विज्ञानवाद से माध्यमिकमत को श्रेष्ठ सिद्ध करते है।

विज्ञानवादी जगत के पदार्थो को परमाणुओ का सघात नही मानते। पदार्थो के रूप मे वस्तुत हमारा चित्त (विज्ञान) ही प्रकाशित होता है। पदार्थो की सत्ता इसलिए चित्त के भीतर है। क्योकि चित्त बाहर के पदार्थो के रूप मे बदल जाता है इसे ही 'साकार विज्ञानवाद' कहते है, इसमे चित्त पदाथ का रूपधारण करता है।[1]

निराकारवादी विज्ञानवादी चित्त को निष्प्रपञ्च मानते हैं, इनके अनुसार चित्त पदाथ का रूपधारण नही करता क्योकि चित्त का आकार नही है। चित्त स्वत आकार के बिना भी पूवजन्म की वासना के कारण पदाथ के दशन करता है, वस्तुत पदाथ बाहर विद्यमान नही हैं। विज्ञान आकाश के समान निर्मल और निष्प्रपच है, इसी भित्ति पर अज्ञान के कारण नाना रूप प्रतीत हो रहे है अत पदार्थो की सत्ता प्रतीयमान है और यह माया का काय है, चित्त का नही, चित्त अविकृत ओर निष्प्रपच है। अद्वयवज्र के अनुसार यह निराकारवादी विज्ञानवाद हिन्दू वेदान्त मत के निकट आ जाता है, क्योकि वेदान्ती भी नाम, रूप रहित विशुद्ध, अविकृत चेतना को मानते हैं, जिसकी भित्ति पर माया के कारण जगत प्रतीत होता है।[2]

---

(१) न चित्तेषु बहिर्भूता इन्द्रियार्था स्वभावत ।
रूपादि प्रतिभासेन, चित्तमेव हि भासते—अद्वयवज्रसग्रह

(२) बाह्ये न विद्यते अर्थो, यथा बालैर्विकल्प्यते ।
वासनालुठित चित्तमर्थाभास प्रवर्त्तते ।
यावदाभासते यच्च, तन्मायैव च भासते ।
तत्वतो हि निराभास, शुद्धानन्तनभोनिभ ।
निष्प्रपञ्चो निराभासी, धम्मकायो महामुने ।
रूपकायौ तदुद्भूतौ, पृष्ठे मायैव तिष्ठते—वही

अद्वयवज्र माध्यमिकमत का यह विशेषता बतलाते है कि यह मन नागाजुन की तरह अपनी कोई दृष्टि नही रखता, अन्य सारी विचार की कोटियो का यह मन खडन करता है। सत्य सब मतो से परे है, उसे न उपनिषदो की तरह भावात्मक रूप से कहा जा सकना हे न अभावात्मक रूप से, उसे केवल 'शून्य' कहा जा सकता है, माध्यमिक मत मे मत्र, मुद्रा, मण्डल, देवता आदि का योग होने से यह मत 'मत्रयान' कहलाता है, तान्त्रिक बौद्धमत यही हे।

वस्तुत विज्ञानवाद एव माध्यमिक मत मे केवल अतर यह है कि विज्ञानवादी वदान्तियो की तरह 'विज्ञान', यह नाम सूक्ष्म चेतना (Consciousness) को देते हैं जबकि माध्यमिक मत सत्ता (Reality) या चेतना को कोई नाम नहीं देता, यह मत 'सत्ता' को केवल अनुभव का विषय मानता है, कथन का नही परन्तु यह स्मरणाय है कि माध्यमिक मत उच्छेवाद नही है, वह 'सत्ता' मे विश्वास करता है, वह निषेधवाद (Nihilism) नही है। उपनिषद की परपरा के सयासियो तथा वेदाती विचारको ने यद्यपि 'सत्ता' को नेति नेति कहा है तथापि वे प्राय आत्मा या चेतना का भावात्मक या अभावात्मक रूप मे वणन करते थे। इससे भ्रम के प्रवेश की आशका थी अत माध्यमिकमत सत्ता को शून्य कहता है और शून्य का अथ है, भाव अभाव आदि सभी कोटियो से अतीत होना। तान्त्रिक बौद्ध मत इस प्रकार शून्यवादी दशन पर आधारित है जो उपनिषदो के 'नेतिनेतिवाद' से किंचित भी भिन्न नही है।

तान्त्रिक बौद्धमत सवास्तिवादी होने पर भी पारमार्थिक एव व्यावहारिक सत्ताआ को अलग-अलग मानता है अत व्यावहारिक दृष्टि से वह मत्र, मण्डल, पूजा उपासना, देवता तथा सभी प्रकार के विश्वासो व साधनाओ को स्वीकार कर लेता है। यद्यपि यह मत 'ज्ञान' की कोटियो मे विश्वास नही करता तथापि तान्त्रिको ने बोधिचित्, त्रिकाया, अभिसम्बोधि आदि तत्वो पर विचार किया है, जिससे तान्त्रिक मत स्पष्ट हो जाता है, हम क्रमश इन पर विचार करेंगे।

तान्त्रिक-बौद्ध-दर्शन एव साधना (वज्रयान-सहजयान)

बोधिचित्—सत्य भाव और अभाव आदि से अतीत है, ऐसा ज्ञान प्रज्ञा

कहलाता है,[1] दु खो से दूसरो को मुक्त करने की वृत्ति का नाम 'करुणा' है, यही 'उपाय' है । 'प्रज्ञा' और 'उपाय' का सयोग ही 'प्रज्ञोपाय' है, यही 'बोधिचित्' है, महासुख इसी से उत्पन्न होता है। यही 'समन्तभद्र' है क्योकि चारो ओर से सुख देने वाला है। 'प्रज्ञोपाय' की स्थिति का वणन असम्भव है, तभी गौतम बुद्ध सत्ता के सम्बध मे प्रश्न पूछने पर मौन रह जाते थे। अत आत्म-अनुभूति ही सत्य है[2] । प्रश्न यह है कि भाव क्या है ?

भाव (existence) जगत के प्रतीयमान पदार्थों को सत्य मान लेने पर उत्पन्न होता है, अत दु ख का कारण है। प्रतीयमान को परमाथ स्वीकार करना ही दु ख का कारण है। प्रतीति का भान अवश्य होता है, अत ज्ञान के पूव भाव का अभाव नही है। परन्तु ज्ञान होने के पश्चात् भाव का नाश हो जाता है, अत पारमार्थिक दृष्टि से सत्य भाव एव अभाव से परे है। अनगवज्र भाव को सकल्पात्मक मानते है। पदाथ की सत्ता सकल्प के कारण हैं और सत्य ज्ञान के

(१) 'अद्वयवज्र सग्रह' मे 'प्रज्ञा' का अथ इस प्रकार किया गया है—शान्त, शुद्ध, आभास से रहित, निरालम्ब, अनुत्तर, चित्त के अपगत हो जाने पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वही 'प्रज्ञा' है—

विज्ञायापगत चित्त, निरालम्बमनुत्तरम् ।
शान्त, शुद्ध, निराभास, वित्ति प्रज्ञेतिकीर्तिता ।

अन्यत्र कहा गया है कि वस्तुसत्ता से रहित, निरालम्ब, सवशून्य, प्रपञ्चो से अतीत, आश्रय रहित स्थिति का नाम ही बोधिचित् है ।

निवस्तुक, निरालम्ब, सवशून्म, निराश्रयम् ।
समातीत प्रपञ्चेभ्यो, बोधिचित्तस्य लक्षणम्—

'नैरात्म्यपरिपृच्छा—'
सम्पा०—सुजीतकुमार मुखोपाध्याय
विश्वभारती पुस्तक भडार
२१० कानवालिस स्ट्रीट, कलकत्ता
१९३०

(२) इद तदिति तद्वक्तु नैव शक्म जिनैरपि ।
प्रत्यात्मवेद्यरूपत्वाद् बाह्यार्थे न च गृह्यते—प्रज्ञोपाय०—
अनगवज्र

कारण है। भाव से ही भव (ससार) की सत्ता है अन्यथा ससार की सत्ता नहीं है। भाव से ही क्लेश उत्पन्न होते है।[१]

भाव का नाश प्रज्ञा से होना है, प्रज्ञा के अभाव मे न स्वहित होना है, न परहित।[२] जगत के पदार्थो को सत्य समझना भाव है और असत्य समझना भी भाव है। अभाव की कल्पना से तो भाव की कल्पना ही श्रेष्ठ है। क्योकि ज्वलित दीपक (भाव) की निवृत्ततो सम्भव है परन्तु बुझा हुआ दीपक होने से उपाय के अभाव मे निवृत्ति असम्भव है अत भाव अभाव से श्रेष्ठ है[३] यद्यपि दोनो कल्पना मात्र हैं। दोनो से मुक्ति आवश्यक है। यही प्रज्ञा है। यह प्रज्ञा ज्ञाता एव ज्ञय दो प्रकार की होनी है और अपने अशुद्ध रूप मे यह पदाथ है, मैं ज्ञाता हूँ, ऐसा भ्रम उत्पन्न करती है, किन्तु शुद्ध होने पर भाव एव अभाव, ज्ञाता तथा ज्ञेय के सकल्प दीपक की ज्योति के समान निवृत्त हो जाते हैं। शुद्ध दपण के समान ज्ञान मे भाव तथा अभाव से परे की स्थिति स्वत प्रनिबिम्बत होती है।[४]

कहा जा सकता है कि प्रज्ञोपाय की स्थिति वास्तविक स्थिति नही है, काल्पनिक स्थिति है, जिस प्रकार मनुष्य भावात्मक सकल्प करता है, अभावा—त्मक सकल्प करता है, उसी प्रकार भाव एव अभाव से परे की स्थिति भी एक सकल्प मात्र है, इस स्थिति की कल्पना द्वारा ससार पर विजय होनी है, यह एक बात है परन्तु भावाभाव से परे की स्थिनि सत्य भी हो, यह सवथा दूसरी

(१) अभूतकल्प सम्भूतो भावसकल्पनात्मक ।
भव स एव चाख्यातो, बालव्यामोहको बुधै —प्रज्ञोपायवि निश्चय सिद्धि (प्रथम परिच्छेद)

(२) यावद्भाव महाग्राहो भवचारकवर्तिनाम् ।
प्रज्ञाहीनतया तावत्, स्वहित परहित न च। वही

(३) भावग्राह परित्यज्य नाभाव कल्पयेत्बुध ।
यदिनामानयोर्भेद, कल्पना नैवभिद्यते ।
वर हि भाव सकल्पो, न त्वभावकल्पना ।
निर्वाति ज्वलितो दीपो, निवृत्त का गतिं व्रजेत् । वही

(४) प्रतिबिम्ब यथादर्शे स्वकीम दृश्यतेध्रुवम् ।
धर्मकायस्तथा ज्ञाने दृश्येतादशसस्थिते—ज्ञानसिद्धि इन्द्रभूति

बात है। किसी विशेष मानसिक स्थिति बना लेने से यह सिद्ध नही होना कि केवल वही स्थिनि सत्य है, अन्य मानसिक स्थितिया असत्य है।

इस शका का उत्तर इन्द्रभूति ने दिया है कि कल्पना और प्रज्ञा मे अन्तर है। सकल्प या कल्पना से कुछ भी प्राप्त नही हो सकता यथा "मैं राजा हू" ऐसी भावना करने पर जैसे कोई राजा नही बनता, उसी प्रकार मिथ्या भावना से मुक्ति नही मिलती।[1] अत 'प्रज्ञा' मिथ्या मानसिक स्थिति नही, वह सारी मानसिक सृष्टि का आधार है (Substratum)। वह नाना भावो, कल्पनाओ को जन्म देती है और उनके बिना भी अपने निमल रूप मे रह सकती है।

ज्ञान —साकार-निराकार—केवल बोधिचित् की ही सत्ता है, अन्य सब कुछ सकल्पात्मक है, यह कहा जा चुका है। प्रश्न यह है कि जब जगत के पदार्थ केवल सकल्पात्मक है, तब देवतादि भी क्या केवल सकल्पात्मक है ? क्या उनके आकार, रूप, रग आदि भावात्मक ही है ? अथवा उनकी कोई विशिष्ट सत्ता है ?

इन्द्रभूनि के अनुसार देवता का यथार्थ रूप वणन असम्भव है,[2] वस्तुत देवता की सत्ता 'प्रज्ञा' से भिन्न नही है। देवता का आकार, रूप, वाहन आदि कल्पित है, अत वह मिथ्या है। घट का सस्कार मिट्टी से होता है अत उसका वणन सम्भव है, परन्तु देवता का वणन इसलिए असम्भव है क्योकि उसका सस्कार नही हो सकता। सस्कृत वस्तु का विनाश भी होना है, यदि देवना का निर्माण होता है तो उसका विनाश भी मानना पडता है अत देवना का ययाथ रूप अवणनीय है, स्वानुभव पर आधारित है। देवना का अयथार्थ रूप वाहन, आकार आदि मन व चित्त से उत्पन्न है अत उस रूप का नाश भी हो जाता है। मन से कल्पित देवता अविनाशी नही होता।[3] और कल्पिन वस्तु के ध्यान से शुद्ध बोध

(१) यद्यनाथो जन कश्चित् राजाऽहमिनि भावयत्।
कल्पकोटि शतेनापि नासौ राज्यमवानुप्यात्।
मिथ्याकल्पनया यस्माद्, राज्य तस्य न विद्यते।
मिथ्याभावनया तस्माद् बुद्धत्व न भविष्यनि—ज्ञानसिद्धि

(२) स्वभावाद् देवताकाय तस्माद् वक्तु न युज्यते।

(३) चित्तस्य कल्पना ह्येषा, सापि सस्कृतलक्षणा।
मनसा कल्पिन यत् तदविनाश कथ भवेत्—ज्ञानसिद्धि

कैसे होगा ? ध्यान के समय यदि देवता की कल्पना की जाती है, तो उस कल्पना से ज्ञान कैसे होगा ?[१] शुद्ध ज्ञान मे उपास्य, उपासक की भावना नही रहती, अत देवता विकल्पित पदार्थ है। केवल मूर्खो के लए देवता की कल्पना का उपयोग अवश्य है।[२] बुद्ध का वास्तविक रूप देश, काल, जाति से परे था, भौतिक रूप उसी वास्तविक धमधातु का प्रतिबिम्बमात्र था। अत बुद्ध के रूप का ध्यान केवल मूढ जनो के लिए है।[3] अत यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान की आकारता असिद्ध है।[४]

ज्ञान की निराकारता का खडन—ज्ञान मे जिस प्रकार आकारता नहीं है, उसी प्रकार निराकारता भी नही है। यदि कहो कि ज्ञान मे आकार नहीं है, तो आकार से रहित होकर जानने की क्रिया कैसे होती है ? मायादि के दृष्टान्तो को देखकर 'अभाव' की कल्पना नहीं करनी चाहिए।[६] यहा 'निराकार' शब्द का अथ 'अभाव' प्रतीत होता है। सवथा अभाव तान्त्रिको को इष्ट नहीं है। यदि रूपादि का सवथा अभाव हो तो गौतम बुद्ध को 'दिव्य चक्षु' क्यो कहा गया ? अभाव मानने पर योग नहीं हो सकता, अत ज्ञान साकार-निराकार के परे स्वमसवेद्य है, वह अनुभूति द्वारा सबके लिए प्रत्यक्ष है, वह 'तथता (thatness) रूप' वाला है। तभी 'तथता' को प्राप्त करनें वाला 'तथागत' कहलाता है। सर्वप्रथम

(१) एव चेत् नास्ति ते सम्यक्, तद् ध्यानेनागत भवेत्।
त्वया निष्पादित रूप कृतक किं न बुध्यसे—वहीं।

(२) ज्ञानसिद्धि—पृष्ठ २८

(३) तस्मात्मूढतरोलोको, योरूप ध्यातुमिच्छति—वही
रूपभावनयातावत् वज्रसत्वो न सिद्धयति—
साकारकल्पनाऽप्येव, वज्रसत्त्व न साधयेत्—वही

(४) ज्ञानस्य आकारता नहि।
यथाकाशो घटो न स्यात्। नैवाकाशो घटोभवेत्—वही

(५) निराकारमपि ज्ञान भवेद् यदि विकल्पितम्।
आकारैर्विगतत्त्वात्, किमसौ वेत्ति सर्ववित—ज्ञानसिद्धि।

(६) मायादयो हि दृष्टान्ता निर्दिष्टा ससुतैर्जिनै।
अभाव कल्पनामात्र सवथा नहि सिध्यति—वही

'अश्वघोष' ने यह 'तथता' का सिद्धान्त प्रवर्तित किया था। 'सत्य' क्या है? 'तथता' है—ज्ञान क्या है, 'तथता है'—निर्वाण क्या है? 'तथता है'—बुद्ध क्या है, 'तथ्ता है'—इनका वणन भाव या अभाव मे नही हो सकना, अनुभूतिगम्य होने

(१) 'महायानश्रद्धोत्पाद सूत्र' मे अश्वघोष ने 'तथता' का सिद्धान्त विस्तार से समझाया है।

'महायान श्रद्धोत्पाद शास्त्र' मे 'अश्वघोष' ने चेतना (आत्मा) को दो रूपो मे स्वीकार किया है। १—भूत तथता (the Soul as suchness) (२) ससार (the Soul as birth and death) इनमे प्रत्येक एक दूसरे से सम्बद्ध है, इन्हे अलग-अलग नही किया जा सकता। भूततथता का अथ है वह चेतना, जो सभी पदार्थो को अपने मे समेट लेती है (Soul is the oneness of the totality of things) इसी को धमधातु कहा जाता है। (The great all including whole)।

बाह्य पदाथ स्मृति के कारण प्रतीत होते है। अत स्मृति विजय ही मुक्ति है। सासारिक पदाथ की सत्ता क्या है, यह नहीं कहा जा सकता—सारे पदाथ एक चेतन तत्त्व से भिन्न नही है अत उनकी शब्दो द्वारा व्याख्या नही हो सकनी। क्योकि शब्द तथा अभिव्यतिया सत्य नही है, उनको सत्ता हमारी अस्पष्ट चेतना पर निभर है अत उनके द्वारा पदार्थो की सत्ता का वणन नही हो सकना।

भूत तथता के दो रूप हैं—प्रथम शून्यता, शून्यता का अथ है सत्य, जो निषेध के रूप मे कहा जाय, अर्थात सत्य अपने विशेषणो (Attributes) से भिन्न और स्वतन्त्र है, गुण व पदाथ से सवथा भिन्न चेतना की शुद्ध स्थिति शून्य है। द्वितीय—अशून्यता—इसका अथ है सत्य को भावात्मक रूप मे कहना, अर्थात् इसमे अनन्त गुण हैं (Merits) और यह सवथा स्वतन्त्र है (self existant)। चूकि 'तथता' को व्यष्टि चेतना नही समझ पाती, अत उसे हम 'शून्यता' कहते हैं।

हम चेतना को शाश्वत, अविनाशी, शुद्ध, बुद्ध रूप मे जब देखते हैं तब हम उसे 'अशून्यता' कहते हैं, तथापि चेतना को भावात्मक मान बैठना गलत होगा, क्योकि यह अस्पष्ट स्मृति (Confused subjectivity) के द्वारा उत्पन्न नही होती, अत चेनना के वास्तविक रूप को हम केवल स्मृति से सवथा अतात होकर (by transcending subjectivity) ही समझ सकते हैं।

से उसे 'शून्य' या 'तथता' कहा जा सकता है। यही ज्ञान महासुख रूप है।[२] यह महासुख नित्य महासुख है, अनित्यमहासुख इन्द्रियजन्य है, नित्य महासुख प्रज्ञात्मक है। इन्द्रिय-जन्य आनन्द तो खुजली से उत्पन्न आनन्द के समान है।[3]

संसार—(The soul as birth and death) जगत तथागत गर्भ से उत्पन्न होता है। अमरत्वपूर्ण 'तथता' तथा क्षणिक जगत एक साथ रह सकते है क्योकि सर्वातिशय आत्मा सापेक्ष रूप धारण करती है तब उसे 'आलय विज्ञान' कहते है। विज्ञान के भी दो रूप है १ शासक २ अनेक पदार्थों को उत्पन्न करने वाला। विद्या एव अविद्या भी विज्ञान के रूप है। विज्ञान शुद्ध आकाशवत् है, सर्व व्यापक है, धर्मधातु है। धर्म का अर्थ नियम (law) नही, अपितु विचार (idea) आधार (substance) है। धातु या काया का अर्थ है—अवयवी—जिसमे अवयव मिलते है (Unified whole) अत जगत के आधार को जिसमे रूप बनते बिगडते रहते है, धर्मधातु या तथागतगर्भ कहते हैं।

मानसिक दशाएँ अज्ञान से उत्पन्न होती है, यथा समुद्र मे लहरें। सभी पदार्थ चेतना के प्रकाश मे प्रतिबिम्बित हो रहे है, अत उन्हे सत् भी कह सकते हैं और चूकि उनकी चेतना से भिन्न सत्ता नही है अत उन्हे असत् भी कह सकते हैं। बोधि प्राप्त हो जाने पर मानसिक दशाएँ क्षोभ उत्पन्न नही करती और क्लेश। वरण तथा ज्ञेयावरण का नाश हो जाता है।[१] विज्ञान का भी नाश हो जाता है। यह स्थिति 'तथागत' कहलाती है, शुद्ध प्रकाशमय चिन्मय रूप यही है, इसी स्थिति मे करुणा के कारण अन्य जीवो के उद्धार का उपाय होता है, अत 'करुणा' को सामान्य राग नही माना जा सकता। प्रज्ञोपाय की स्थिति मे अहकार का पूर्ण विनाश हो जाता है। यही जगत की उत्पत्ति का स्रोत है अत 'तथता' की स्थिति मे अहकार से मिश्रित 'करुणा' नामक लोक प्रसिद्ध भाव नहीं रहता, शुद्ध करुणा का ही प्रज्ञा से सयोग हो सकता है, जिस करुणा से अह की तुष्टि होती है, वह करुणा अशुद्ध करुणा है।

द्रष्टव्य—महायान श्रद्धोत्पाद शास्त्र का Awakening of faith नाम से चीनी भाषा से अनुवाद—T Suzuki—chicago—1900

(२) सर्वंताथागत ज्ञान स्वसवेद्यस्वभावकम्।
सर्वसौख्याग्रभूतत्वात् महासुखमिति स्मृतम्—ज्ञानसिद्धि।

(३) अनित्य महासुख नैव नित्य महासुखम्।
कच्छ कण्डूयनोत्पन्न कथ महासुख नहि—वही

यहा विधि निषेध, पाप पुण्य, पवित्र-अपवित्र आदि द्वन्द्व शात हो जाते हैं, परन्तु प्रारम्भ मे वे आवश्यक है। इन्द्रभूति ने स्पष्ट कहा है कि सामान्य साधको को लोकसग्रह का पूणपालन करना चाहिए।[1] बोधिचित् उत्पन्न हो जाने के पश्चात् विधि निषेष व्यथ हो जाते है।

करुणा—करुणा या कृपा को 'राग' माना गया है। यह 'राग' अशेष दु खो का नाश करना है।[2] इसी को 'उपाय' कहा जाता है।[3] क्षीर एव नीर की तरह प्रज्ञा के साथ इसका मेलन आवश्यक है, यही धर्म है। जब तक ग्राह्य ग्राहक, सत्, असत्, लक्ष्य लक्षक की भावना है, तब तक समझना चाहिए कि प्रज्ञा निर्मल नही है, प्रज्ञा निर्मल होने पर ही शान्ति मिलती है।[4] इसी स्थिति को 'धर्मधातु' प्रज्ञापारमिता, स्वाधिष्टानपद कहा गया है। इसी स्थिति से असख्य मत्र, मुद्रा, मडल आदि उत्पन्न होते है, देव, दैत्य, प्रेत, पिशाच, यक्ष, रक्ष सभी इसी से उत्पन्न होते है। यह स्थिति चिंतामणि के समान है, मुक्ति तथा भुक्ति दोनो इसी स्थिति से प्राप्त होती है।[5] कोई भी क्रिया, व्यापार, साधन, प्रज्ञोपाय के बिना फल नही दे सकता, तन्त्र का यह अटल सिद्धान्त है।

क्या करुणा सामान्य मनुष्य का एक भाव है? राग है अथवा इस 'राग' का कोई विशेष रूप है? तान्त्रिक-बौद्धमत मे 'करुणा' बोधि का एक रूप (Aspect) है, जो प्रज्ञा की तरह सर्वातीत है। प्रज्ञा (शून्यता) और करुणा (कृपा, उपाय) दोनो सामान्य जन के ज्ञान तथा राग से सम्बद्ध नही हैं, अपितु

(१) प्राणिनश्च न ते घात्या, अदत्त नैव चाहरेत्।
नाचरेत् काममिथ्या व मृषा नैव हि भाषयेत—वही
सर्वानर्थस्य मूलत्वात मद्यपान विवर्जयेत्
पैशुन्यमथ पारुष्य सम्भिन्नालापभाषणम्—वही

(२) रञ्जयति अशेष दु खौघानुत्थास्तु दु खहेतुत ।
सर्वसत्त्वान् यतस्तस्मात् कृपा राग प्रगीयते—प्रज्ञोपाय० अनगवज्र

(३) सैवोपाय प्रकीर्तित

(४) न द्वय, नाद्वय शान्त शिव सर्वत्र सस्थितम्।
प्रत्यात्मवेद्य मचल, प्रज्ञोपायमनाकुलम्—वही

(५) चिन्तामणिरिवाशेष जगत सर्वदास्थित ।
भुक्ति मुक्तिप्रद सम्यक्, प्रज्ञोपायस्वरूपत —वही

शुद्ध बुद्ध व्यक्ति के निर्मल बोधिचित् के अग है। प्रज्ञारहित करुणा बन्धन है और करुणा रहित प्रज्ञा बन्धन है। दोनो का तादात्म्य ही मोक्ष हैं।[१] प्रदीप और आलोक के समान दोनो का एक्य है।[२] व्यक्तिगत साधक की दृष्टि से 'प्रज्ञा' क्रियाहीन स्थिति है अत करुणा प्रज्ञा का क्रियात्मक रूप है। वस्तु या काय विशेष की ओर प्रज्ञावान् करुणा या उपाय द्वारा ही झुकता है। प्रज्ञा से मनुष्य कर्म बन्धन मे नही पड सकता। और करुणा से वह जगत की सेवा का और आकर्षित होता है। डा० शशिभूषण दास गुप्त को उपाय एव करुणा मे कुछ अन्तर प्रतीत होता है परन्तु वह अन्तर क्या है, यह स्पष्ट नही हो सका। वस्तुत करुणा द्वारा उपकार के प्रति उन्मुखता के कारण 'करुणा' को 'उपाय' कहा गया है। निश्चित रूप से 'उपाय' शब्द मे काय करने की विधि, प्रयत्न आदि सम्मिलित नही है।[३]

बौद्ध-तन्त्रो मे प्रज्ञा को स्त्री तथा 'उपाय' या करुणा को पुरुष माना गया है। वाराही को प्रज्ञा एव हेरुक को उपाय कहा गया है। तात्पय यह कि प्रज्ञा चेतना का शुद्ध भावात्मक तथा अभावात्मक रूप है जबकि उपाय भावात्मक एव क्रियात्मक रूप है। प्रज्ञा स्त्री है, उपाय पुरुष है।[४] शैव-दशन मे पुरुष क्रिया रहित माना गया है, शक्ति क्रियायुक्त, बौद्धमत मे इसके विपरीत है। परन्तु यह शब्दो का अतर मात्र है, शक्ति एव शक्तिमान का सिद्धान्त शैवतन्त्रो की तरह अपनी पद्धतिपर बौद्धतन्त्रों मे भी स्वीकृत है। यही महत्त्वपूण तथ्य है। इससे तन्त्रो की एकता का पता चलता है। गुह्यसिद्धि मे नैरात्म्य शून्यता तथा प्रज्ञा को स्त्री तथा बोधिचित् को पुरुष कहा गया है। कही-कही 'महासुख' को स्त्री एव बोधिचित् को पुरुष कहा गया है। ज्ञान को

(१) प्रज्ञारहितो उपायो बन्ध, उपायरहिता प्रज्ञा बन्ध । प्रज्ञासहित उपायो मोक्ष, उपायसहित प्रज्ञा मोक्ष । तादात्म्य चानयो सद्गुरूपदेशात प्रदीपलोकयोरिव सहजसिद्धिमेवाधिगम्यते — कुदृष्टि निर्घातनम् — अद्वयवज्र

(२) शून्यता कृपयोर्भेद प्रदीपालोकयोरिव ।
शून्यता कृपयोरैक्य प्रदीपलोकयोरिव ॥—अद्वयवज्रसग्रह

(3) An introduction to tantric Buddhism S B Das Gupta Calcutta-150

(4) An Introdction to Tantric Buddhism S B Das gupts

ज्ञानमुद्रा, महामुद्रा, सहजवधू कहा गया है जिससे योगी (पुरुष) रातदिन सयुक्त रहता है।[१] प्रज्ञा को योनि व उपाय को लिंग भी कहा गया है।

जगत—वज्रयान ने जगत के सम्बध मे माध्यमिक एव योगाचार मत को ही स्वीकार किया है, जगत के पदार्थों की सत्ता निश्चित नही हो सकती, यह कहा जा चुका है। 'साधनमाला' मे योगाचारमतानुसार जगत को आभासवत्, मायास्वप्नवत् कहा गया है।[२]

काया सिद्धान्त—तान्त्रिक-बौद्धमत मे महायान के काया सिद्धान्त का विकास मिलता है।[3] महायान के पूव हीनयान मे काया सिद्धान्त मिलता है। हीनयानी गौतम बुद्ध को एक वास्तविक मनुष्य मानते थे, यद्यपि वे महान साधक और सिद्ध पुरुष थे। सर्वास्तिवाद मे रूप काया एव धर्मकाया को स्वीकार किया गया है, प्रथम बाह्य काया है, धर्मकाया गुणो का शरीर है। परन्तु महायान ने गुणो को भी शून्य घोषित किया और धर्म-शून्यता का सिद्धान्त प्रचारित किया। शरीर गुण आदि सब साँवृतिक सत्य है, पारमार्थिक सत्य नहीं। अत माध्यमिको के अनुसार वास्तविक धर्मकाया अवणनीय, अवाङ्मनसगोचर, सवव्यापक, सर्वाधार तत्त्व है, वह अन्य रूपकाया, निर्माण काया एव सम्भोग काया का आधार है—तथागत बुद्ध का वास्तविक रूप 'धर्मकाया' है, इन्हे 'धर्मता' के रूप मे देखना चाहिए धमता अज्ञेय तत्त्व है। अत महायान के अनुसार काया विभाजन प्रारम्भिक रूप मे इस प्रकार है—१ रूपकाया, इसे 'निर्माणकाया' भी कहा गया है। यह 'काया' भ सूक्ष्म एव स्थूल दो प्रकार की है, यह भौतिक शरीर का विभाजन हुआ। २—धमकाया—धर्मों का शरीर (The body of merits) इसका प्रथम रूप है आध्यात्मिक-काया (वास्तविक काया) या metaphyisical principl underlying the universe—the reality या 'तथता'।

(१) वही

(२) यदेतत् घटपट शकट लयनदेवकुल पवतादि चराचर तत् सव प्रतिभास मात्र विचारेण प्रतिभासोपम मायास्वप्नसदृशम्, अहमपि नि स्वभाव स्वप्नोपम इत्थ शून्यता भावयन् साधनमाला, पुस्तक द्वितीय पृष्ठ १३९

(३) द्रष्टव्य—Mahayan Buddhism and its relation to Hii ayan–N Dutta Page 100 122

योगाचार सम्प्रदाय रूपकाया के दो भेद करता है—रूपकाया—स्थूल। सम्भोगकाया—सूक्ष्म शरीर। 'लकावतार सूत्र' मे 'सम्भोगकाया' को 'निष्यन्दकाया' कहा गया है। इसे 'निष्यन्द बुद्ध' भी कहा गगा है । योगाचारमत मे 'धमकाया' भी स्वीकृत है, इसे 'स्वाभाविक काया' कहा गया है। 'पचविंशतिसहस्रिका' मे 'सम्भोगकाया' को 'सूक्ष्मशरीर' के अथ मे गृहीत किया गया है। इसी 'सूक्ष्मकाया' से बुद्ध बोधिसत्त्वो को आतरिक (गुह्य) उपदेश देते है। धर्मकाया पवित्र शरीर है। माध्यमिक मत जिसे 'तथता' या 'धमकाया' कहता है, योगाचार उसे 'स्वाभाविक काया' कहता हैं। योगाचार मत मे 'धर्मकाया' को गुणो का समूह माना गया है। गुणो मे क्षयज्ञान (दु ख नाशक ज्ञान), अनुत्पाद ज्ञान, तथा सम्यक दृष्टि की गणना की गई है। अत 'धर्मकाया' के अथ मे महायान एव योगाचार मत मे मतभेद है। योगाचार मत मे धमकाया एक पवित्र व्यक्तित्त्व के अथ मे (Purified Personality) गृहीत है जबकि माध्यमिक मत मे उसे 'अज्ञेय ब्रह्म' के समान वर्णित किया गया है 'बसुब धु के 'अभिधर्म कोश' मे धर्मकाया के दो अथ है (१) गुण (२) पवित्र व्यक्तित्व।बसुबधु के अनुसार बुद्ध की रूपकाया (भौतिक शरीर) की शरण व्यथ है क्योकि वह अपवित्र है। 'धर्मकाया' की शरण इष्ट होनी चाहिए ।

सद्धमपुडरीक मे कहा है कि बुद्ध ने बुद्धत्व युगो पूव प्राप्त कर लिया था। दीपकर आदि पूव तथागतो को भी बुद्ध ने उपदेश दिया था। उनका निर्वाण बुद्ध की ही सृष्टि थी।

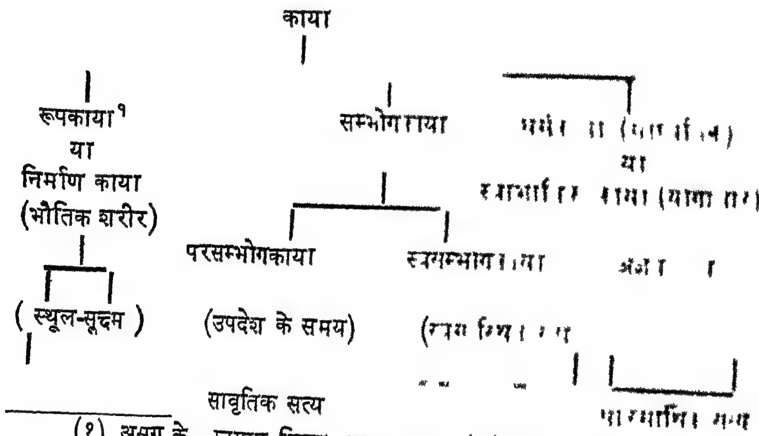
बुद्ध ने जो यह कहा है कि वह उत्पन्न हुए, सन्यास लिया, ज्ञान प्राप्त किया, ये सब वणन जनता मे विश्वास उत्पन्न करने के लिए हैं। वस्तुत तथागत अशरीरी हैं, जगत को 'निर्मित (निमाण) काया' ही दिखायी पडती है। उनका वास्तविक स्वरूप 'धम काया' है। यह माध्यमिकमत है। इस मत के अनुसार बुद्ध की लीला एक आभास (phantom) मात्र है। लीला का तात्पय यह है कि लोग विश्वास करें कि बुद्धत्व-प्राप्ति असम्भव नही है। बुद्ध लीला के लिए कोई भी रूप धारण कर लेते हैं, यही रूप काया या निर्माण काया है।

ऊपर कहा गया है कि 'सम्भोगकाया' धारण कर भगवान भक्तो को आतरिक उपदेश देते है, 'महायानमत' का उपदेश गृद्धकूट पवत पर इसी काया द्वारा हुआ। इस काया को 'प्रकाशमय' कहा गया है और इसका कवित्वपूण वणन किया गया है। श्री नलिनाक्ष दत्त के अनुसार नागाजुन के समय तक सम्भोग काया,

रूप या निर्माणकाया से अलग न हो पाई थी परन्तु [illegible] काया' अलग मान ली गई और इसी से 'वास्त[illegible]' ([illegible]) [illegible] उपदेश हुआ, ऐसा स्वीकार कर लिया गया।

सिद्धि के अनुसार 'सम्भोग काया' के दो [illegible] या परसम्भोग काया—यह बोधिसत्वों को दिखायी [illegible] लक्षण रहते है द्वितीय—इसे 'स्वसम्भोग काया' [illegible] के निवासी बौद्धो को दिखायी पडती है, सुखावती [illegible]

स्पष्ट है कि 'सम्भोग काया' उपनिषद् [illegible] काया' 'ब्रह्म' के समान बौद्धो मे सर्वगत है। [illegible] कृष्ण से 'सम्भोग काया' का सादृश्य स्पष्ट है।



---

(१) असग के अनुसार शिल्प, जन्म, [illegible] शिक्षा देने के लिए भगवान 'निमाण काया' धारण करते है, [illegible] उत्पन्न नही होती, अधर्म के नाश व सद्धर्म के [illegible] काया धारण कर लेते है—यही भौतिक काया 'निर्माण काया' है, [illegible] द्वारा श्रावकयान, प्रत्येकयान तथा बोधिसत्वा ([illegible]) [illegible] देते है। जिस प्रकार 'राम' ने अधर्म के नाश के लिए [illegible] रूप धारण किया, वैसे ही भगवान ने शाक्यमुनि [illegible] धारण किया [illegible] 'निर्माणकाया' से भगवान बुद्ध बाह्य नैतिक उपदेश देते है, सम्भोग काया से गृद्धकूट पर उन्होने महायान का उपदेश दिया और इसी सम्भोग काया से धान्यकूट पर्वत पर तन्त्रमार्ग का उपदेश दिया। धर्मकाया पारमार्थिक रूप है, जो अज्ञेय है।

योगाचार सम्प्रदाय रूपकाया के दो भेद करता है—रूपकाया—स्थूल। सम्भोगकाया—सूक्ष्म शरीर। 'लकावतार सूत्र' मे 'सम्भोगकाया' को 'निष्यन्दकाया' कहा गया है। इसे 'निष्यन्द-बुद्ध' भी कहा गगा है। योगाचारमत मे 'धमकाया' भी स्वीकृत है, इसे 'स्वाभाविक काया' कहा गया है। 'पचविंशतिसहस्त्रिका' मे 'सम्भोगकाया' को 'सूक्ष्मशरार' के अथ मे गृहीत किया गया है। इसी 'सूक्ष्मकाया' से बुद्ध बोधिसत्त्वो को आतरिक (गुह्य) उपदेश देते है। धर्मकाया पवित्र शरीर है। माध्यमिक मत जिसे 'तथना' या 'धमकाया' कहता है, योगाचार उसे 'स्वाभाविक काया' कहता है। योगाचार मत मे 'धर्मकाया' को गुणो का समूह माना गया है। गुणो मे क्षयज्ञान (दु ख नाशक ज्ञान), अनुत्पाद ज्ञान, तथा सम्यक दृष्टि की गणना की गई है। अत 'वमकाया' के अथ मे महायान एव योगाचार मत मे मतभेद है। योगाचार मत मे धर्मकाया एक पवित्र व्यक्तित्त्व के अथ मे (Purified Personality) गृहीव है जबकि माध्यमिक मत मे उसे 'अज्ञेय ब्रह्म' के समान वर्णित किया गया है 'बसुव धु के 'अभिधर्म कोश' मे धर्मकाया के दो अर्थ है (१) गुण (२) पवित्र व्यक्तित्त्व।बसुवधु के अनुसार बुद्ध की रूपकाया (भौतिक शरीर) की शरण व्यथ है क्योकि वह अपवित्र है। 'धर्मकाया' की शरण इष्ट होनी चाहिए।

सद्धमपुडरीक मे कहा है कि बुद्ध ने बुद्धत्व युगो-पूव प्राप्त कर लिया था। दीपकर आदि पूव तथागतो को भी बुद्ध ने उपदेश दिया था। उनका निर्वाण बुद्ध की ही सृष्टि थी।

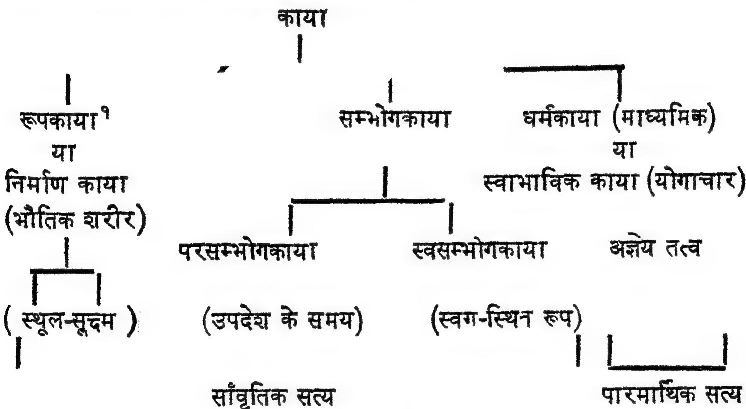
बुद्ध ने जो यह कहा है कि वह उत्पन्न हुए, सन्यास लिया, ज्ञान प्राप्त किया, ये सब वणन जनता मे विश्वास उत्पन्न करने के लिए हैं। वस्तुत तथागत अशरीरी है, जगत को 'निर्मित (निमाण) काया' ही दिखायी पडती है। उनका वास्तविक स्वरूप 'धम काया' है। यह माध्यमिकमत है। इस मत के अनुसार बुद्ध की लीला एक आभास (phantom) मात्र है। लीला का तात्पय यह है कि लोग विश्वास करें कि बुद्धत्व प्राप्ति असम्भव नही है। बुद्ध लीला के लिए कोई भी रूप धारण कर लेते हैं, यही रूप काया या निर्माण काया है।

ऊपर कहा गया है कि 'सम्भोगकाया' धारण कर भगवान भक्तो को आतरिक उपदेश देते हैं, 'महायानमत' का उपदेश गृद्ध्रकूट पवत पर इसी काया द्वारा हुआ। इस काया को 'प्रकाशमय' कहा गया है और इसका कवित्वपूण वणन किया गया है। श्री नलिनाक्ष दत्त के अनुसार नागाजुन के समय तक सम्भोग काया,

रूप या निर्माणकाया से अलग न हो पाई थी परन्तु आगे के साहित्य मे 'सम्भोग काया' अ-ग मान ली गई और इसी से 'वास्तविक बुद्ध बचन' (महायान) का उपदेश हुआ, ऐसा स्वीकार कर लिया गया।

सिद्धि के अनुसार 'सम्भोग काया' के दो रूप माने गए हैं प्रथम सम्भोगकाया या परसम्भोग काया—यह बोधिसत्वो को दिखायी पडती है, इसमे महापुरुषो के लक्षण रहते है द्वितीय—इसे 'स्वसम्भोग काया' भी कहते है, यह अ-य लोका के निवासी बौद्धो को दिखायी पडती है, सुखावती व्यूह मे ही इसके दशन सम्भव हैं।

स्पष्ट है कि 'सम्भोग काया' उपनिषदो के 'ईश्वर' के समान तथा 'धम काया' 'ब्रह्म' के समान बौद्धो मे स्वीकृत है। वेष्णवो के गोलोकविहारी आनन्दी कृष्ण से 'सम्भोग काया' का सादृश्य स्पष्ट है।



(१) असग के अनुसार शिल्प, जन्म, ज्ञान (अभिसबोधि) तथा निर्वाण की शिक्षा देने के लिए भगवान 'निर्माण काया' धारण करते है, यह 'काया' कर्मो द्वारा उत्पन्न नही होनी, अधर्म के नाश व सद्धर्म के लिए भगवान इच्छानुसार कोई भी काया धारण कर लेते हैं—यही भौतिक काया 'निर्माण काया' है, इस काया के द्वारा श्रावकयान, प्रत्येकयान तथा बोधिसत्वो (अन्य लोकवासी) के लिए उपदेश देते हैं। जिस प्रकार 'राम' ने अधर्म के नाश के लिए दशरथपुत्र बनकर भौतिक रूप धारण किया, वैसे ही भगवान ने शाक्यमुनि का रूपधारण किया अत 'निर्माणकाया' से भगवान बुद्ध बाह्य नैतिक उपदेश देते हैं, सम्भोग काया से गृद्धकूट पर उन्होने महायान का उपदेश दिया और इसी सम्भोग काया से धान्यकूट पवत पर तन्त्रमाग का उपदेश दिया। धर्मकाया पारमार्थिक रूप है, जो अज्ञेय है

वज्रयान (मन्त्रयान) तीन कायाओ के अतिरिक्त एक चतुथ काया भी स्वीकार करता है। रहस्यमय अनुभूति के लिए इन चार कायाओ को मानसिक-सोपानो के रूप मे स्वीकार किया गया है। यह चतुथकाया विज्ञानवादियो की 'स्वाभाविक काया' का ही विकसित रूप है, इसे तन्त्र 'सहजकाया' कहता है, यह तन्त्रो की अन्तिम साधनात्मक स्थिति है, यही प्राप्य है। उपनिषद् भी जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति व तुरीय—इन चार अवस्थाओ को मानती है, परन्तु वज्रयान अपनी चार कायाओ को उपनिषद की अवस्थाओ से उच्चतर सिद्ध करता है, 'सहजकाया,' तुरीयावस्था से उच्चतर है, धर्मकाया सुषुप्ति से, सम्भोग स्वप्न से तथा निर्माण जागृत अवस्था से उच्चतर स्थिति है।[1]

चूकि तात्त्रिक ज्ञान की कोटियो को केवल व्यावहारिक दृष्टि से मानते हैं, अत निर्माण, सम्भोग, धम तथा सहज यह कायाओ का क्रम व्यावहारिक दृष्टि से ही है। अत निमाण प्रथम स्थिति भी है और अन्तिम भी, इसी प्रकार यद्यपि 'सहज-काया को 'पूण योग' कहा गया है, परन्तु साथ ही उसे प्रारम्भिक सोपान के रूप मे स्वीकार किया गया है। उपनिषदो की अवस्थाओ मे क्रम है, कोटिया है, अत भेद है, ज्ञान एव ज्ञेयता है इसीलिए उपनिषदो की अद्वय अवस्था मे भी 'मल' रहता है, तुरीय मे अवशेष इस 'मल' के क्षय से इस सहजकायावस्था की प्राप्ति होती है। यह प्रज्ञोपायात्मक है—प्रज्ञा एव करुणा की अद्वैतावस्था। इसी को पूण योग कहा गया है। इसी स्थिति का प्राप्ति 'मुक्ति प्राप्ति' कहलाती है। उपनिषदो की 'तुरीयावस्था' मे 'उपाय' का अभाव रहता है, इसलिए भी वह हीन अवस्था है।

दूसरी काया 'धर्मकाया' है। सुषुप्ति के क्षय से नित्य, अनित्य आदि भेदों से रहित, मैत्री से पूण, चित्त की निर्विकल्प अवस्था को 'चित्तवज्र' या 'धर्मकाया' कहते हैं। प्रज्ञा व उपाय की एकता से इसे 'धर्मात्मा-योग' कहा जाता है। इस स्थिति मे तक का अभाव है "मैं सम्यक-सम्बुद्ध हूंगा" ऐसा अनुभव नही रह जाता। यह स्थिति उपनिषदो की सुषुप्ति से उच्चतर है,

(१) सेकोद्देश टीका—नारोपा—G O Series

इस ग्रन्थ को 'कालचक्रयान' सम्प्रदाय का ग्रन्थ माना जाता है, जो वज्रयान सम्प्र० का एक रूप है, साधना की विशिष्टिता के कारण ही इसका यह नाम पड़ा। 'काल' (Time) पर योग द्वारा अनुशासन इस कालचक्र यान की विशेषता है। अन्यतन्त्रो मे भी 'काल' विजय का वणन है—'कालचक्र' को देवता के रूप मे भी स्वीकार किया गया है।

सम्भोगकाया तृतीयकाया है, इसे 'वाग्वज्र' कहा गया है। सारे प्राणियो का मोदन तथा त्राण इसी अवस्था से होता है, बुद्ध ने इसी अवस्था मे तन्त्र का उपदेश दिया था। इसी को 'मन्त्रयोग' भी कहा गया है। 'प्रज्ञोपाय' की यहाँ भी एकता है। यह स्थिति सभी सस्कारो के नष्ट होने पर प्राप्त होती है, 'उपनिषदो की स्वप्नावस्था' से यह स्थिति महानतर है।[1]

चतुर्थ काया 'निर्माणकाया' है, जागृत अवस्था के क्षय से यह अवस्था उत्पन्न होती है, इसी से अनन्त रूपो व कायाओ की सृष्टि होती है, सभी क्लेशो की नाशक तथा रौद्र, राग, रस, शान्त आदि की सकीणता से रहित, उपेक्षात्मक अवस्था यही है, इसे 'कायावज्र' कहा गया है। यद्यपि निर्माणकाया को प्रारम्भिक स्थिति कहा जाता है परन्तु इसे अतिम अवस्था भी माना जाता है। नारोपा का कथन है कि 'विमल प्रभा' नामकतन्त्र के प्रथम श्लोक मे स्पष्ट कहा गया है कि निर्माणकाया ही सहजकाया है, यही शून्यता है, ज्ञानवज्र और शुद्ध योग यही है।[2] तुरीयावस्था जिसमे 'राग' शेष रहता है, सुषुप्ति जिसमे तमस् अवशिष्ट रहता है, स्वप्नावस्था, जिसमे विकल्प रहते हैं तथा जाग्रतावस्था, जिसमे सज्ञात्मक ज्ञान

(१) सम्भोगकाया की स्थिति मे तक व इच्छाएँ शान्त हो जाती हैं। इस विशेष स्थिति मे 'स्वप्न' होने का भ्रम न हो अत इसे स्वप्न से उच्चतर कहा गय है, इसी अवस्था मे 'ध्वनि' का जन्म होता है जो ज्ञान से एकाकार है, बीजमन्त्रो क जन्म होता है, इन मन्त्रो मे सृष्टि एव विनाश की शक्ति रहती है, आनन्द भी बी रूप मे इन मन्त्रो मे सुरक्षित रहता है। इनसे मन की रक्षा होती है, अत मन्त्र व त्राणात्मक कहा गया है। सम्भोगकाया की इसी स्थिति मे अवस्थित होकर बु भगवान ने गृध्रकूट पवत के पास 'मन्त्रयान' का उपदेश दिया था। मन्त्रयान भाव ए अभाव' के पिण्डगत रूप, श्वास प्रश्वास को वश मे लाकर 'शक्ति' के 'ऊध्व-सचरण मे विश्वास करता है, मन्त्रो के द्वारा ही शक्ति को जाग्रत किया जाता है अ उसके ऊध्व-सचरण द्वारा अनन्त शक्ति तथा अपरिमित आनन्द की प्राप्ति की जा है। सम्भोगकायावस्था के बिना मन्त्र निर्वीय हो जाते हैं।—द्रष्टव्य-सेकोद्देश टीका की भूमिका-पृष्ठ १२-१३

(२) स एव सहजकाय, शून्यताविमोक्ष-विशुद्धो ज्ञानवज्र, सवज्ञ प्रज्ञोपायात्म शुद्धयोग इति। स एव धर्मकायो स एव सम्भोगकायो ' "स एव निर्माण कायो "
सेकोद्देशटीका—पृष्ठ ६

(discriminative consciousness) रहता है, इन सभी अवस्थाओ से उच्चतर स्थिति की प्राप्ति निर्माण या सहजावस्था मे होती है ।[1] यह स्थिति ही 'महासुख' दातृ है । प्रथम और अतिम स्थिति को एक मानने का कारण यह है कि 'सहजावस्था' प्रथम अथ मे आत्यतिक स्थिति है, सृष्टि के पूव यह सहजावस्था (उपनिषद् का ब्रह्म या आत्मा) ही अपने को विषय और विषयी के रूप मे विभाजित करती है और विषय एव विषयी के नाश के बाद साधक शुद्ध स्वरूप मे स्थित होकर 'सहज' हो जाता है । अत इस दृष्टि से 'सहजावस्था' या 'सहज-काया' अतिम स्थिति हुई = चतुथकाया ।

द्वितीय अथ मे सहजकाया ही निर्माणकाया है, 'कायावज्र' की प्राप्ति सहजसाधना द्वारा ही होती है, अत साधक साधना के प्रारम्भ मे किसी स्त्री (प्रज्ञा) के साथ योग प्रारम्भ करता है । इस साधना मे मस्तक मे स्थित बिन्दु = वीय = बोधिचित् = पुरुष शक्ति को प्रज्ञा के मिलन द्वारा (रति—क्रिया) द्रवित किया जाता है, साधक का बोधिचित् (वीय) द्रवित होकर वज्रमणि (लिङ्ग) तक आता है और प्रज्ञा (योनि) मे गिर कर न केवल बाह्य सृष्टि करता है अपितु साधक द्वारा बोधिचित् एव प्रज्ञा के मिलन का यह आध्यात्मिक लक्ष्य समझ लेने पर, बाह्य रति क्रिया आतरिक शक्ति को जाग्रत कर देती है और इस शक्ति द्वारा मस्तक से स्खलित बिन्दु (वीय-बोधिचित्) को पुन मस्तक पर ही पहुचा दिया जाता है (ऊध्व-रेतस्-योग) और योगी इस प्रकार 'सहज' (सम्भोग) साधना द्वारा शरीर स्थित शक्ति का ऊध्व-सचरित करता है और अतिम स्थिति (सहज काया—चतुथ अवस्था) को प्राप्त कर नित्य निद्वन्द्व हो जाता है । यही सहजानन्द है, प्रथम एव अतिम काया का एक्य यही है, स्खलन तथा ऊध्व-सचरण, अधोमुख विकास (involution) तथा विकास (evolution) की एक साथ अनुभूति ही तान्त्रिक बौद्धमत की विशेषता है । बाह्य और आतरिक की एकता 'सहजयोग' के बिना असम्भव है, तन्त्रो की यह घोषणा है, शैव एव शाक्ततन्त्र भी इसे स्वीकार करते हैं ।

वज्रयोग—वज्रयान मे 'वज्र' शब्द की बडी महिमा है । हिब्रू-ग्रीक रहस्यवाद मे भी 'आदम' Adam शब्द का प्रयोग मिलता है । इसके दो

(१) दुर्वाररागमलावलिप्तोभयेन्द्रियात्मकतुर्यानिभोऽभिभूतसुषुप्तप्राणोत्पादितसद-सत्स्वप्नानेकविकल्प भावससज्ञात्मक जाग्रदवस्थाध्वसके वही—पृष्ठ ५

(discriminative consciousness) रहता है, इन सभ
से उच्चतर स्थिति की प्राप्ति निर्माण या सहजावस्था मे होती है।[1] व
'महासुख' दातृ है। प्रथम और अतिम स्थिति को एक मानने का व
कि 'सहजावस्था' प्रथम अर्थ मे आत्यतिक स्थिति है, सृष्टि के पूर्व यह
(उपनिषद् का ब्रह्म या आत्मा) ही अपने को विषय और विषय
विभाजित करती है और विषय एव विषयी के नाश के बाद साधक श
स्थित होकर 'सहज हो जाता है। अत इस दृष्टि से 'सहजावस्थ
काया' अन्तिम स्थिति हुई = चतुर्थकाया।

द्वितीय अर्थ मे सहजकाया ही निर्माणकाया है, 'कायावज्र
सहजसाधना द्वारा ही होती है, अत साधक साधना के प्रारम्भ मे किसी
के साथ योग प्रारम्भ करता है। इस साधना मे मस्तक मे स्थित बि
बोधिचित् = पुरुष शक्ति को प्रज्ञा के मिलन द्वारा (रति—क्रिया)
जाता है, साधक का बोधिचित् (वीर्य) द्रवित होकर वज्रमणि (लिङ्ग
है और प्रज्ञा (योनि) मे गिर कर न केवल बाह्य सृष्टि करता है
द्वारा बोधिचित् एव प्रज्ञा के मिलन का यह आध्यात्मिक लक्ष्य सा
बाह्य रति क्रिया आतरिक शक्ति को जाग्रत कर देती है और इस शक्ति
से स्खलित बिन्दु (वीर्य-बोधिचित्) को पुन मस्तक पर ही पहुचा
है (ऊर्ध्व रेतस्-योग) और योगी इस प्रकार 'सहज' (सम्भो
द्वारा शरीर स्थित शक्ति को ऊर्ध्व-सचरित करता है और अतिम
काया—चतुर्थ अवस्था) को प्राप्त कर नित्य निर्द्वन्द्व हो जाता है। यह
है, प्रथम एव अतिम काया का ऐक्य यही है, स्खलन तथा ऊर्ध्व-सच
विकास (involution) तथा विकास (evolution) की एक
ही तान्त्रिक बौद्धमत की विशेषता है। बाह्य और आतरिक की एकता
के बिना असम्भव है, तन्त्रो की यह घोषणा है, शैव एव शाक्ततन्त्र भी
करते हैं।

वज्रयोग—वज्रयान मे 'वज्र' शब्द की बडी महिमा है
रहस्यवाद मे भी 'आदम' Adam शब्द का प्रयोग मिलता है

(१) दुर्वाररागमलावलिप्तोभयेन्द्रियात्मकतुर्यानमोऽभिभूतसुषुप्तप्राप
सत्स्वप्नानेकविकल्प भावससज्ञात्मक जाग्रदवस्थाध्वसके वही—

१ एकक्षणाभिसम्बोधि—सहज काया

२ पचकार सम्बोधि-धमकाया

३ विशत्याकार सम्बोधि—सम्भोगकाया

४ मायाजालाभिसम्बोधि—निर्माणकाया

प्रथम अभिसम्बोधि मे अनवरत और सहसा प्रकाश की प्राप्ति वह सव श्रेष्ठ है। मायाजालाभिसम्बोधि मे सासारिक भ्रमो का इ परन्तु साथ ही इन बोधियो से गभ स्थित शिशु की वृद्धि, श्वास-प्रश अधो-मुख विकास (involution) आदि का भी ज्ञान होता ह जीव का रूप धारण करती है, तब इसे 'उत्पत्ति-क्रम' कहते हैं, कर्मेन्द्रिया, स्कन्ध, धातु आयतन आदि का विकास भी इसमे सम्मि ज्ञान योगी ध्यान द्वारा प्राप्त कर सकता है। जिस प्रकार शैव बीज सृष्टि का विकास समझाते हैं, वैसे ही बौद्धतन्त्रो मे बिन्दु की कल्प प्रकार स्त्री-पुरुष मिलन से बिन्दुपात से जीव की सृष्टि होती है, वैसे के पश्चात् चेतना ऊर्ध्व-सचरण की ओर उन्मुख होने पर एक 'बिन्द की ओर चलती है। अत बिन्दु विकास तथा अधोमुख विकास (inv दोनो का प्रारम्भिक स्थान है। सवप्रथम श्वास, प्रश्वास को वश मे विजय की जाती है। इच्छा-शक्ति से ही यह सम्भव होता है। श्वास तथा रात की प्रतीक हैं। इसी प्रकार पक्ष, मास, सूय-चन्द्र-ग्रहण, व पर विषय की जाती है, पिण्ड मे ब्रह्माण्ड के सभी तत्व विद्यमान हैं विजय ही ब्रह्माण्ड विजय है। अतिम सोपान मे श्वास प्रश्वास रुक योगी की शक्ति आत्मकेन्द्रित होती है। आध्यात्मिक उन्नति की बाध हैं। यही स्थिति योगी का 'पुर्नजन्म' है। इसी को 'वज्र कहते हैं।

द्वितीय स्थति 'महासत्व' है, तृतीय है 'बोधिसत्व' और च सत्व'। इस क्रम को उलट कर कहा जाता है अर्थात् समयसत्व सत्व द्वितीय, महासत्व तृतीय एव वज्रसत्व अतिम अवस्था भी कही जा प्रकाश की प्राप्ति मे क्रम और अक्रम दोनो रहते हैं।

शैव साधक 'बिन्दु' को ईश्वर मानकर इससे ही सृष्टि का वि हैं—बौद्धो के अनुसार भी इस 'बिन्दु' मे अव्यक्त शक्ति अवस्थित

'अच्युत' और 'स्वाभाविक' कहा गया है। यह प्रथम और अतिम स्थिति है। 'बिन्दु' से 'शरीर' तक के विकास को योगी ध्यान द्वारा देखता है। 'बिन्दु' (चेतना का सृष्टि के लिए उन्मुख रूप) को सवित् भी कहा गया है। श्वास एव प्रश्वास रूप मे यह बिन्दु व्यक्त हो रहा है, अत श्वास को 'प्रकाश' एव प्रश्वास को 'विमश' कहा गया है शैवतत्र भी सवित्, प्रकाश और विमश शब्दो का प्रयोग करते है। परन्तु इनके अर्थो मे किंचित् अतर है। जाग्रत अवस्था को यहा दिन, स्वप्न को रात एव सुषुप्ति को प्रकाश कहा गया हे क्योकि सुषुप्ति मे सवित् प्रकाशित हो जाती ह, सासारिक ज्ञान शात हो जाता है। तुर्यावस्था को 'विमश' कहा गया है, जबकि शैव तत्रो मे विमश शक्ति या शिव का क्रियात्मक रूप है। परन्तु शिव-शक्ति की एकता का आधारभूत सिद्धान्त यहा स्वीकृत है।

भूत-विजय—आयतन का अथ है प्रत्यक्षीकरण (perception) एव इन्द्रियो के विषय। पृथ्वी, जल, अग्नि आदि पचभूतो को 'प्रज्ञा' (स्त्री) माना जाता है और पचस्कन्धो (रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार, विज्ञान) को 'उपाय' (पुरुष) माना जाता है। इनका एकता का ध्यान शक्तियो के सहित ध्यानी-बुद्धो के रूप मे किया जाता है। शक्ति-सयुक्त (युगनद्ध) ध्यानी बुद्धो के ध्यान से इन्द्रिय तथा विषय की एकता सिद्ध होती है और दृश्य एव द्रष्टा की एकता प्राप्त हो जाती है। शनै शनै भौतिक जगत् की सत्ता भ्रम पूण है, यह ज्ञान होने लगता है, और साधक उसे अतीत कर प्रतिबिम्बवत् देखने लगता है। यही धमकाया का सोपान है।

सम्भोगकाया के ध्यान मे काल-विजय आती है। काल को क्षणो, दिवसो मास और सक्रान्तियो मे बाटकर ध्यान किया जाता है। इन्द्रियातीत शक्तियो के जाग्रत हो जाने से इस स्थिति मे काल-विजय होती है।

निर्माणकाया मे १६ प्रकार के आनन्दो पर विजय होती है। ये आनन्द भौतिकसृष्टि की उत्पत्ति से सम्बद्ध है, यथा मैथुन का आनन्द। क्रमानन्द, परमानन्द, विरमानन्द, सहजानन्द, इन चार कक्षाओ मे १६ प्रकार के आनन्दो को रखा गया है। ये आनन्द भौतिक भी हैं और पारमार्थिक भी, दोनो मे अभेद स्थापित करना ही साधना है—जब भौतिक आनन्द पारमार्थिक आनन्द का बाधक न रह जाए तब साधना पूण हो जाती है, पूण प्रकाश की प्राप्ति होने पर ही मैथुनादि का ऐन्द्रिक आनन्द पारमार्थिक आनन्द के रूप मे प्रतीत होने लगता है और योगी

एन्द्रिक ओर अतीन्द्रिय अनुभूतियो मे द्वैत नही देखता वह निद्व
करता हुआ निराकुल रहता है। अत 'सहजानन्द' प्रथम स्थिति
भी। साधना का प्रारम्भ भी पचमकार से होना है और अन्त भी
होता है, प्रकाश जैसे-जैसे बढता जाता है, श्वास प्रश्वास पर जैसे
बढता जाता है, वैसे ही वेसे भौतिक आनन्द क्षोभ कम उत्पन्न करते
सासारिक अनुभव एव पारमार्थिक अनुभव मे अद्वय स्थापित हो
विधि निषेध से परे हो जाता है।

प्रतिपत्ति सिद्धान्त—अभिसम्बोधित के सिद्धान्त से 'उत
प्रकाश पडता है इनसे ईश्वर और मनुष्य किस प्रकार सृष्टि करते
हो जाता है। उत्पत्ति क्रम से सृष्टि का विकास तथा 'उत्पन्न क्रम
पूणता प्राप्ति को समझाया जाता है। 'उत्पन्न क्रम' मे सर्वातीत
का वणन है, इसे ही प्रतिपत्ति कहते है। उपसाज्ञा, वेदना, सस्कार,
लक्षण, इन षट् स्कधो द्वारा १० सृष्टि सम्बधी निमित्तो—धूम्र
किया जाता है।[1] पचभूत तथा ज्ञान तथा आयतन (शरीर, जिह्व
तथा आत्मा) तथा धमधातु (शब्द, स्पश, रूप, रस एव गध)
प्रक्रिया से सम्बद्ध है।

युगनद्ध-सिद्धान्त

पूण अद्वय की अवस्था की प्राप्ति ही युगनद्धावस्था है। 'यु
है, दो का परस्पर सयुक्त होना, यथा रतिकाल मे पुरुष एव स्त्री स
प्रज्ञा (स्त्री) तथा उपाय (पुरुष) की सघट्टता ही युगनद्धावस्था
इसे शक्ति शिव की 'सघट्टावस्था कहते है। शैवो की शक्ति शि
वस्था' को वेदान्त 'स्वरूपस्थिति' कहता है। यह अवस्था
चेतना मे किसी प्रकार की हलचल नही होती। जागतिक पदार्थो
हो जाने पर, शरीर, मन, शब्द मे 'तथता' का ज्ञान भर कर जब
दु खो के नाश के लिए सनद्ध होना है, तब 'युगनद्धावस्था' प्राप्त ह
सत्य एव परमार्थिक सत्य की एकता इसी अवस्था मे प्राप्त होत

(१) क्रमश धूम्र, मृगजल, अग्निमक्षिका, दीप, ज्योति,
ग्रहण, चन्द्रकला, बिन्दु ये दस प्रतिपत्तिया (ध्यान) कही गई है

अवाङ्मनसगोचर है। ज्ञान एव सासारिक कर्मो का यही सहअस्तित्व होता है। भाव, अभाव, स्मृति, विस्मृति, राग, विराग, कारण, काय सब द्वन्द्वो से यह अवस्था अतीत ह। यही 'बुद्धत्व' एव 'वज्रोपम' अवस्था है।

ज्ञान एव क्रिया (साधना) की एकता से ही यह अवस्था प्राप्य है। शैवतन्त्रो मे भी शिव शक्ति के माध्यम से ही स्वरूपस्थिति को प्राप्त करता है। शुद्ध ज्ञान (चेतना) अपने प्रकृत रूप का अनुभव नही कर सकता, इसके लिए वह अपने ही एक रूप—क्रिया को अपनाता है[1], यह क्रियाशक्ति ही देवी है, बौद्धतन्त्रो मे यही योगिनी है, अत बौद्धतन्त्रो मे आलिङ्गनबद्ध देवी देवताओ के रूप दिखायी पडते है। तिब्बत मे देवी देवताओ के इस रूप को 'यबयुम' कहते है। वैष्णवो मे लक्ष्मी नारायण तथा 'युगलकिशोर' के पीछे भी यही रहस्य है।

अद्वयवज्र ने लिखा है कि 'युगनद्ध' को समझने के लिए जागतिक पदार्थो को 'नि स्वभाव' समझना चाहिए, पदाथ स्वत नही है, वे किन्ही कारणो से उत्पन्न होते हैं अत वास्तविक रूप मे उनकी उत्पत्ति होती है, यह नही कहा जा सकता। यथा रूप न रूप मे रहता है, न नेत्र मे रहता है, न विज्ञान (चेतना) मे रहता है अतएव 'रूप' का 'उत्पाद' केवल हमारी 'प्रतीति' पर निभर है। इसी प्रकार आग न पुरुष के हाथ मे है न मथनीय लकडी मे, अत वस्तु की अजातता सिद्ध है। परन्तु वस्तु की प्रतीति भी होती है अत पूणत अजातता भी नही है, अत भाव एव अभाव दोनो की एकता ही 'युगनद्धता' है।[2]

---

(1) pure abstract thought can not realise its own nature unless it comes back to itself through its own activity and when it Thus turns back to itself through Vimarasa, it becomes the Egohood

An introduction to Tantric Buddhism

S B Das gapta, Page 129

(२) रूपे न विद्यते रूप न वा चक्षुषि विद्यते।
न चैतत् तज्जविज्ञाने, दारुवह्निकथा यथा
मन्थाने मथनीये वा न वा पुरुषहस्तयो
प्राक्सिद्धो विद्यते वह्नि प्रतीत्याऽथ स जायते।
नै स्वाभाव्यादजातत्व प्रत्ययार्दानिरुद्धता।
भावाभावावतो न स्तो, युगनद्ध तु भासते—युगनद्ध प्रकाश, अद्वयवज्र सग्रह

जागतिक पदार्थों की प्रतीयमान सत्ता है, यह ज्ञान हो जाने पर स
अवस्था मे निद्वन्द्व रहता है। यही 'शून्यता' है, इस शून्यता को
इसकी अभिव्यक्ति को 'पुरुष' कहा गया है, दोनो की एकता होने पर
वस्था उत्पन्न होना है, अथात् युगनद्धता ही सहज प्रम है।[1]

राग-महाराग—'महासुख' का सिद्धान्त 'महाराग' के सिद्ध
सम्बद्ध हैं।

'उच्छूष्मतन्त्र' मे कहा गया है कि शिव एव शक्ति के समायोग
मिलता है।[2] बाह्यरूप मे यह सुख वीर्य-स्खलन के क्षण मे प्राप्त ह
क्षण के आनन्द से ही आतरिक 'महासुख' की प्राप्ति सम्भव है, क्योकि
के समय ही निज, परत्व का ज्ञान मिट जाता है, पूण तादात्म्य '
स्वसवित्ति की यह अनुभूति तत्व ज्ञान मे सहायक है। इसी आनन्द
कहा गया है। यह अवस्था सब समय रहे, यही जीवन्मुक्ति है अत अ
सहवास अनवरत ब्रह्मानन्द मे मग्न रखता है। इस अवस्था मे जिध
है, उधर 'ब्रह्म' के दशन होते है। अतएव प्रिया-दशन भी ब्रह्मदशन
प्रिया दशन सबसे अधिक मनोरम है, अत अन्य वस्तुओ को देखने की क्य
है ?[3] प्रिया-सहवास द्वारा जो 'राग' उत्पन्न होता है, उसी मे पूण त
ब्रह्मानन्द या निर्वाण प्राप्त होता है, इसलिए तन्त्र इस 'राग' को 'म
है। धर्म एव अधम, विधि और निषेध की भावनाओ मे पतित पशु इ
नही समझ सकते। किन्तु तन्त्र तत्वज्ञान के अभाव मे भोग को विना

(१) शून्यता अतिवरा कान्ता, मूर्त्या निरुपमा तु या।
प्रथक् यदि कदाचित् स्यात्, बद्ध स्यात् कान्तनायक।
दम्पती शङ्कितौ तस्मात्, गुरोरूपस्थितौ पुर।
निजप्रीत्या तयोस्तेन, साहज प्रेम कारितम्—प्रेमपचक
अद्वयवज्रसग्र

(२) शिवशक्तिसमायोगात् सत्सुख परमाद्वयम्। —अद्वयवज्रस

(३) यद यद् वै दृश्यते किञ्चित्, तत् तद् ब्रह्मेति कल्पयेत्।
प्रियादशनमेवैक किमन्यद्दशनान्तरै
प्राप्यते येन निर्वाण, स्वरागेणापि चेतसा—वही

अत ज्ञान के द्वारा भोग ही मुक्तिदायक है। ग्राह्य एव ग्राहक से परे होकर अक्षोभ प्राप्त होता है।[1]

उपनिषद् का तत्वज्ञान मन, चित्त, बुद्धि के विनाश (Anihilation) द्वारा मुक्ति प्राप्ति मे विश्वास रखता है जबकि तान्त्रिक माग विराग द्वारा, राग द्वारा—मन, चित्त, इन्द्रियो से जन्य आनन्द द्वारा ही निर्वाण प्राप्त कराता है।[2] अज्ञानी जन जिन आनन्दो के द्वारा नरक मे पडते है, योगी उन्ही के द्वारा मुक्ति प्राप्त करते है।[3] जगत के सारे आनन्द साधको के हित के लिए ही निर्मित किये गए है, मूर्खो का इनके भोग से पतन होना है—ज्ञानियो का नही।[4]

महासुखवाद्—प्रारम्भिक बौद्धमत मे इच्छा का पूण नाश ही निर्वाण है, महायान मे निर्वाण का वणन उपनिषदो की 'मुक्ति' अवस्था के समान वर्णित है, उसमे आनन्द एव शान्ति दोनो की प्राप्ति होती है, किन्तु 'वज्रयान' मे मुक्तावस्था के इस आनन्द को 'महासुख' का नाम दिया गया है। भावात्मक रूप मे 'महासुख' की स्वीकृति वज्रयान की विशेषता है। केवल मानसिक वृत्तियो का शमन ही निर्वाण नही है अपितु इसमे अवणनीय लोकोत्तर महासुख प्राप्त होना है। "मै सुख भोग रहा हू" ऐसी भावना इस अवस्था मे नहीं रहती अत यह स्थिति निर्विकल्प स्थिति है और निर्विकल्प होने मे ही 'महासुख' है।

अद्वयवज्र के अनुसार न वस्तु की सत्ता सिद्ध होती है न असत्ता सिद्ध होती है, अत भाव एव अभाव का अद्वय ही महासुख देता है। यह सुख सासारिक सुख नही है न इस स्थिति मे सुख का अभाव है, क्योकि सुख के अभाव मे बोधि (ज्ञान)

(१) त्यजधममधम च उभे सत्यानृते त्यज। —वही

(२) प्राप्यते येननिर्व्वाण, स्वरागेणापि चेतसा—अद्वयवज्रसग्रह

(३) कमणा येन वै सत्वा , कल्पकोटि शतान्यपि।
पच्यन्ते नरके घोरे, तेन योगी विमुच्यते—ज्ञानसिद्धि

(४) सम्भोगार्थमिद सव त्रैधातुकमशेषत ।
निर्मित वज्रनाथेन साधकाना हिताय च—वही

नहीं होती साथ ही आसक्ति की दशा मे भी बोधि नही ठहर सकती, अत यह बोधि रूप महासुख लोकोत्तर सुख है।[१]

चेतना मे वस्तु शून्यता का ज्ञान होते ही देवताकारा स्फूर्ति उत्पन्न होने लगती है, इस स्फूर्ति से ही साधक को फल मिलता है, कोई बाह्य शक्ति उसे फल नहीं दे सकती, इस स्फूर्ति को ही 'देवता' कहा गया है, अत साधना के समय लौकिक सुख भोग द्वारा इस अलौकिक निर्विकल्प स्फूर्ति की ओर साधक उन्मुख होता है। अत जगत के भोग ही उपाय है और शून्यता ही प्रज्ञा है, दोनो का तादात्म्य ही महासुख है।[२]

इस 'तादात्म्य' की अनुभूति स्त्री-पुरुष के सहवास द्वारा ही हो सकती है, लौकिक सुख की प्रतीति अलौकिक सुख की सत्ता के कारण ही है। अत लौकिक सुख के नाश के द्वारा साधना करना 'सहज' पद्धति नही है।[३] लौकिक अज्ञानी पुरुष का लक्ष्य ऐन्द्रिक सुख प्राप्ति है, साधक का लक्ष्य है अलौकिक सुख-प्राप्ति। दृष्टिकोण मे अतर होने से लौकिक सुख साधक के लिए मुक्ति का साधन बनता है और अज्ञानी को अध पतन की ओर ले जाता है। अत योनि को तन्त्रो मे 'सुखावती' कहा गया है और 'वीर्य' को ही 'आनन्द' कहा गया है। सुखावती मे स्थित होकर (युगनद्ध होकर) ही साधक 'महासुख' पाता है। इसीलिए तान्त्रिक गुह्य साधना बिना स्त्री (मुद्रा) के नही हो सकती। योगी भोग एव योग की प्राप्ति एक साथ करके महासुख प्राप्त करता है।

समरस या सामरस्य का सिद्धान्त— महाराग' एव 'महासख' से ही सम्बद्ध 'समरसता' का सिद्धान्त है। पूणता की अनुभूति ही समरसता है। इस स्थिति मे प्रज्ञा एव उपाय का अलग-अलग बोध नही होना, एक साथ होना है।

(१) सुखाभावे न बोधि स्यात् मता या सुखरूपिणी।
अस्तित्वे च महान सग मसारोदय हेतुक —महासुख प्रकाश
यथा यथा भवेत् स्फूर्त्ति सा तथा शून्यतात्मिका। अद्वयवज्र सग्रह
द्वैताद्वतमनो यच्च तत्र तद्वासना फलम्।

(२) शन्तचित् देवताकार विश्वचक्रमुपायकम्
प्रज्ञा च शून्यता प्रोक्ता, साध्यतादात्म्यमिष्यते।—वही

(३) सुखाभावे न बोधि स्यात्, मता या सुखरूपिणी—वही

चेतना के निम्न स्तर—मन—चित्त, बुद्धि आदि तथा उच्च स्तर—स्वय प्रकाश्य ज्ञान आदि मे पूण एकता इसी स्थिति मे दृष्टिगोचर होती है। इसी को 'समरस का चक्र' कहते है, अर्थात् जीवन के सभी प्रकार के अनुभवो मे, सभी वस्तुओ मे एक ही रस का चक्र स्थापित हो जाना ही समरस चक्र है।[1] अथवा जीवन के चक्र मे एक ही रस की अनुभूति प्राप्त करना ही समरस चक्र है। मन की प्रवृत्ति एव निवृत्ति सामरस्य की स्थिति मे नष्ट हो जाती है। यह अद्वयावस्था है। सिद्ध कन्हपाद ने कहा है कि जल मे लवणवत् जब मन स्त्रा (शून्यता) मे मग्न हो जाय तभी सामरस्य की स्थिति प्राप्त होती है। शिव एव शक्ति का सामरस्य भी यही है। प्रज्ञा तथा उपाय, ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति की भी परिपूण एकता इसी का नाम है।

सहज-सिद्धान्त—वज्रयान के विकास मे 'सहजयान' आगे की कडी है, इन्द्रभूति और लक्ष्मीकरा देवी ने 'सहजयान' का प्रचार किया, यह कहा जा चुका है। किन्तु अन्य वज्रयानी साधक भी वस्तुत सहजयानी ही है, साधना के क्षेत्र मे 'सहज' पद्धति को अपनाने से 'सहजयान का महत्त्व बढा। दार्शनिक दृष्टि से 'सहज' शब्द का अथ है 'प्रज्ञाज्ञान'। सहज एव प्रज्ञा ज्ञान एक है। सम्पूण धर्मों का अकृत्रिम लक्षण ही 'सहज' है।[2] धम का अकृत्रिम लक्षण यह है कि वे नि स्वभाव है, अत शून्य है परन्तु उनका अभाव नही है। उनकी प्रतीति अवश्य होती है, अतएव भाव व अभाव से परे शुद्ध बोधि का ज्ञान ही सहज ज्ञान है। व्यावहारिक दृष्टि से 'सहज' का अथ सरल है। जगत मे भोगो की ओर मन

(१) सम = Sameness and Ras = Chakra of Sameness = the oneness of the nature of all that is there in the cycle of existence—An introductisn to tantric Buddhism—

S B Das Gupta

(२) सहज सत्सत्व सहजच्छायानुकारित्वात् सहजमित्यभिधीयते। सहजच्छाया सहजसदृश ज्ञान प्रतिपादयति। सहज प्रज्ञाज्ञानम्। अतएव प्रज्ञाज्ञाने सहजस्योत्पत्तिर्नास्ति। यस्या सहज नाम स्वरूप सर्व्व धर्म्मानामकृत्रिम लक्षण इतियावत्।

—अद्वयवज्र सग्रह

का उन्मुख होना 'सहज' है, अत भोग द्वारा योग की प्राप्ति ही सहज माग है। अन्य साधनाएँ, हठयोग आदि कठिन माग है, तत्त्वज्ञान भोग द्वारा भी हो सकता है, यही सहजयान का सदेश है। भोग-स न्यास मन के विरुद्ध काय है, अत उसमे सफलता दुष्कर है।

किन्तु तत्त्वज्ञान के अभाव मे साधना नाशक है। यथा दपण मे प्रतिबिम्बित मुख को भ्रान्तिवश लोग वास्तविक मुख समझ लेते है, तथैव कोरे क्रियावादी ज्ञानहीन क्रियाओ द्वारा सहजानुभूति प्राप्त करने का दम्भ करते है। ऐसे लोग धम का वास्तविक रहस्य नही जानते। करुणा एव शून्य के अभेद को तत्र 'धममुद्रा' कहते है, ललना और रसना (इडा पिंगला—प्रज्ञा-उपाय) के मध्यमाग स्थित अवधूती (सुषुम्णा) के माग से सहजसुख का साक्षात्कार होता है। इसी को धममुद्रा कहा गया है। यह 'सहज' का योगपरक अथ है। भोग परक अथ यह है कि 'अवधूती' (निद्व न्द्व) स्त्री के साथ ही 'सहजानन्द' मिलता है।

शाक्त, शैव तत्र भी वस्तुत सहजयानी है, क्योकि सभी तत्रो मे यह सिद्धान्त स्वीकृत है कि मन की सहज गति का ही साधक को अनुसरण करना चाहिए। जिधर मन चले उधर ही चलकर, जहा मन लगे, वही उमे रोककर उस वस्तु से तादात्म्य करना चाहिए, मन को वश मे करने का सबसे 'सहज' उपाय यही है। मन के विपरीत माग को स न्यासी अपनाते है अत उनका काम कठिन है। हठयोगी भी कठिन मार्गी है, कठिन साधना मे मन का केवल दमन होता है, वह वस्तुत वश मे नही होता और दमित मन अवसर मिलने पर साधक को भ्रष्ट कर सकता है परन्तु 'सहजयानी' मनोवैज्ञानिक पद्धति अपनाते है, अत उनके विश्वास के अनुसार उनका माग श्रेष्ठ और 'सहज' है। साथ ही स न्यास माग मे केवल कुछ लोग ही उतर सकते हैं जबकि तत्र माग मे प्रत्येक प्रकार का प्राणी मुक्ति पा सकता है, क्रोधी क्रोध द्वारा, भयभीत भय द्वारा और विलासी विलास द्वारा मुक्त हो सकता है, यही इस माग की विशेषता है। मन की सहजगति का अनुसरण प्रत्येक प्राणी के लिए सहज है। मन क्षुब्ध न हो, प्रत्येक व्यक्ति ऐसा प्रयत्न कर सकता है, अत चित्त के अनुकूल योग होने से यह योग सहज योग कहलाता है।[1]

(१) तथा तथा प्रवर्तेत, यथा न क्षुभ्यते मन।
स क्षुब्धे चित्तरत्ने तु सिद्धिर्नैव कदाचन।
तस्मात् सिद्धि परामिच्छन् साधको विगताग्रह।
चित्तानुकूल योगेन, साधयेत् परमपदम् प्रज्ञोपाय विनिश्चिय सिद्धि

अनग वज्र ने लिखा है कि जिस प्रकार गोबर से सूत्र दृढ किया जाता है उसी प्रकार नाना उपायो से चित्र को दृढ किया जाता है, ये उपाय चित्त के अनुकूल होने चाहिए, चित्त के निरोध या नाश के उपाय 'बाधनाजालमल' कहे गए हैं, अत कठिन प्रक्रियाओ से बचना चाहिए, यही सहजयोग है।[1]

अद्वयवज्र के अनुसार सहज अकृत्रिम है, इसका अथ नि सगता है, सुख असङ्गता से ही उत्पन्न हो सकता है। विश्व को अपनी चेतना मे स्थित करके ही यह सहजावस्था प्राप्त है।[2]

आदि बुद्ध का सिद्धान्त तथा देवमण्डल—बौद्धमत प्रारम्भ मे अनात्मवादी एव अनीश्वरवादी था, परन्तु महायानमत मे भाव तथा अभाव आदि कोटियो के परे बतलाकर भी एक सत्ता को स्वीकार कर लिया गया और तान्त्रिक बौद्धमत मे तो आत्मा एव परमात्मा को स्पष्ट स्वीकार कर लिया गया, यद्यपि इन दोनो को अवाङ्मनसगोचर कहा गया है। तान्त्रिक-बौद्धमत मे नास्तिकता की छाया भी नही है।[3] गौतम बुद्ध ने अनीश्वरवादी होने पर भी देवताओ, यक्षो, प्रेतो आदि का खडन नही किया था, यह हम कह चुके है, श्रा 'केरेली' के अनुसार गौतम बुद्ध कल्पित ईश्वर मे विश्वास न करते थे,[4] उपनिषदें भी 'सत्ता' को

(१) गोमयाधार योगेन सूत्र सन्धामते यथा।
चित्त सूत्र तथा धाय, उपायाधारयोगत
यदाव बुद्धा निरवग्रहेण, चित्तेन सद्भिर्विपुलाशयैस्तु।
तदाभिभूत सहजावगत्या न बाधना जलमाली भवन्ति ॥

(२) सहजोऽकृत्रिमो यस्मात, तस्मात् सङ्गो न साहज । वही
सुख न सहजादन्यत् सुखं चासङ्गलक्षणम्
विश्व स्वसमम कृत्वा, मग्न सहजसागरे—अद्वयवज्रस ग्रह

(3) Mahayanic Buddhism and especially Vajrayan has developed early Buddhist atheism into a system in which all former assumptions of Indian thought, Such as pantheistic, and monistic ideas, found their place in harmony together, No trace of atheism as such is left here सेकोद्देश्य टीका—नारोपा—भूमिका भाग—Page 20 21

(४) वही

का उन्मुख होना 'सहज' है, अत भोग द्वारा योग की प्राप्ति ही सहज माग है। अन्य साधनाएँ, हठयोग आदि कठिन माग है, तत्त्वज्ञान भोग द्वारा भी हो सकता है, यही सहजयान का सदेश है। भोग-स न्यास मन के विरुद्ध काय है, अत उसमे सफलता दुष्कर है।

किन्तु तत्त्वज्ञान के अभाव मे साधना नाशक है। यथा दपण मे प्रतिबिम्बित मुख को भ्रान्तिवश लोग वास्तविक मुख समझ लेते है, तथैव कोरे क्रियावादी ज्ञानहीन क्रियाओ द्वारा सहजानुभूति प्राप्त करने का दम्भ करते है। ऐसे लोग धम का वास्तविक रहस्य नही जानते। करुणा एव शून्य के अभेद को तत्र 'धममुद्रा' कहते है, ललना और रसना (इडा पिंगला—प्रज्ञा-उपाय) के मध्यमाग स्थित अवधूती (सुषुम्णा) के माग से सहजसुख का साक्षात्कार होता है। इसी को धममुद्रा कहा गया है। यह 'सहज' का योगपरक अथ है। भोग परक अथ यह है कि 'अवधूती' (निद्व न्द्व) स्त्री के साथ ही 'सहजान द' मिलता है।

शाक्त, शैव तत्र भी वस्तुत सहजयानी है, क्योकि सभी तत्रो मे यह सिद्धान्त स्वीकृत है कि मन की सहज गति का ही साधक को अनुसरण करना चाहिए। जिधर मन चले उधर ही चलकर, जहा मन लगे, वही उसे रोककर उस वस्तु से तादात्म्य करना चाहिए, मन को वश मे करने का सबसे 'सहज' उपाय यही है। मन के विपरीत माग को स न्यासी अपनाते हैं अत उनका काम कठिन है। हठयोगी भी कठिन मार्गी है, कठिन साधना मे मन का केवल दमन होता है, वह वस्तुत वश मे नही होता और दमित मन अवसर मिलने पर साधक को भ्रष्ट कर सकता है परन्तु 'सहजयानी' मनोवैज्ञानिक पद्धति अपनाते है, अत उनके विश्वास के अनुसार उनका माग श्रेष्ठ और 'सहज' है। साथ ही स न्यास माग मे केवल कुछ लोग ही उतर सकते हैं जबकि तत्र मार्ग मे प्रत्येक प्रकार का प्राणी मुक्ति पा सकता है, क्रोधी क्रोध द्वारा, भयभीत भय द्वारा और विलासी विलास द्वारा मुक्त हो सकता है, यही इस माग की विशेषता है। मन की सहजगति का अनुसरण प्रत्येक प्राणी के लिए सहज है। मन क्षुब्ध न हो, प्रत्येक व्यक्ति ऐसा प्रयत्न कर सकता है, अत चित्त के अनुकूल योग होने से यह योग सहज योग कहलाता है।[1]

(१) तथा तथा प्रवर्तेत, यथा न क्षुभ्यते मन।
स क्षुब्धे चित्तरत्ने तु सिद्धिर्नैव कदाचन।
तस्मात् सिद्धि परामिच्छन् साधको विगताग्रह।
चित्तानुकूल योगेन, साधयेत् परमपदम्-प्रज्ञोपाय विनिश्चिय सिद्धि

अनग वज्र ने लिखा है कि जिस प्रकार गोबर से सूत्र दृढ किया जाता है उसी प्रकार नाना उपायो से चित्र को दृढ किया जाता है, ये उपाय चित्त के अनुकूल होने चाहिए, चित्त के निरोध या नाश के उपाय 'बाधनाजालमल' कहे गए है, अत कठिन प्रक्रियाओ से बचना चाहिए, यही सहजयोग है।[1]

अद्वयवज्र के अनुसार सहज अकृत्रिम है, इसका अथ नि स गता है, सुख असङ्गता से ही उत्पन्न हो सकता है। विश्व को अपनी चेतना मे स्थित करके ही यह सहजावस्था प्राप्त है।[2]

आदि बुद्ध का सिद्धान्त तथा देवमण्डल—बौद्धमत प्रारम्भ मे अनात्मवादी एव अनीश्वरवादी था, परन्तु महायानमत मे भाव तथा अभाव आदि कोटियो के परे बतलाकर भी एक सत्ता को स्वीकार कर लिया गया और तात्रिक बौद्धमत मे तो आत्मा एव परमात्मा को स्पष्ट स्वीकार कर लिया गया, यद्यपि इन दोनो को अवाङ्मनसगोचर कहा गया है। तात्रिक-बौद्धमत मे नास्तिकता की छाया भी नही है।[3] गौतम बुद्ध ने अनीश्वरवादी होने पर भी देवताओ, यक्षो, प्रेतो आदि का खडन नही किया था, यह हम कह चुके है, श्री 'कैरेली' के अनुसार गौतम बुद्ध कल्पित ईश्वर मे विश्वास न करते थे,[4] उपनिषदे भी 'सत्ता' को

(१) गोमयाधार योगेन सूत्र सन्धार्यते यथा।
चित्त सूत्र तथा धाय, उपायाधारयोगत
यदाव बुद्धा निरवग्रहेण, चित्तेन सद्भिर्विपुलाशयैस्तु।
तदाभिभूत सहजावगत्या न बाधना जलमाली भवन्ति ॥

(२) सहजोऽकृत्रिमो यस्मात्, तस्मात् सङ्गो न साहज । वही
सुख न सहजादन्यत् सुखं चासङ्गलक्षणम्
विश्व स्वसमय कृत्वा, मग्न सहजसागरे—अद्वयवज्रस ग्रह

(3) Mahayanic Buddhism and especially Vajrayan has developed early Buddhist atheism into a system in which all former assumptions of Indian thought, Such as pantheistic, and monistic ideas, found their place in harmony together, No trace of atheism as such is left here सेकोद्देश्य टीका—नारोपा—भूमिका भाग—Page 20 21

(४) वही

नेति-नेति कहती है। महायान मत मे उसी 'सर्वातीत' सत्ता को ही स्वीकार किया गया है।

जगत के पदार्थों की 'सत्ता' वास्तविक नही है, वास्तविक सत्ता की परिभाषा यह है कि वस्तु अपनी उत्पत्ति के लिए अन्य किसी वस्तु पर निभर न हो परन्तु जगत मे प्रत्येक वस्तु दूसरी पर निभर है यहा प्रत्येक 'उत्पाद' का कोई 'प्रत्यय' (हेतु) है, अत प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त के अनुसार जगत के पदार्थो की सत्ता 'स्वतन्त्र' नही है, पदाथ नि स्वभाव है, अथात वे स्वयमेव सिद्ध नही है, किसी अन्य की अपेक्षा पर अवलम्बित है अत 'शून्य' है, यह शून्य शब्द का प्रथम और बाह्य अथ है। पारमार्थिक दृष्टिकोण से देखने पर 'शून्य' शब्द का अथ वह सत्ता है जो इस बाह्य जगत का आधार है और जो इससे अतीत है, वह न भाव है, न अभाव, न भावाभाव। अत 'शून्यत्व' के श्री कैरेली ने बाह्य और अन्तमुख (objective and subjective or Microcosmic) अथ किये है[1] और ये अथ मेरे मत से ठीक है। यह सर्वातीत सत्ता (शून्य) सव व्यापक भी है, वज्रयान इसे स्वीकार करता है और इसे 'आदिबुद्ध' नाम देता है, इसी से पचध्यानी बुद्धो की अभिव्यक्ति होती है। 'आदिबुद्ध' अनादि तत्त्व है, सवज्ञ और सवद्रष्टा है, उपनिषदो के ब्रह्म के समान वज्रयान मे इसका वणन किया गया है, इसमे शून्यता एव करुणा की अद्वैतावस्था है। यह 'काल' है, इसकी शक्ति 'सवित रूपिणी' है, यह 'चक्र' है क्योकि वह अनादि है, अत उसे 'कालचक्र' भी कहा गया है।

आदि बुद्ध के हो विभिन्नरूप विभिन्न लोको मे अवस्थित है, अनेक बुद्ध, देवता बोधिसत्त्व आदि अनेक लोको तथा स्वर्गो मे रहते है, सभी बुद्ध और बोधिसत्व आदिबुद्ध की तरह ही करुणा एव प्रज्ञा से सयुक्त है, सृष्टि के मगल के लिए प्रयत्नशील है।

आदि बुद्ध पचस्कन्धो के अधिष्ठाता देवताओ के रूप मे पचध्यानी बुद्धो के रूप मे अपने को व्यक्त करते है—

रूप	वेदना	सज्ञा	सस्कार	विज्ञान
|	|	|	|	|
वैरोचन	रत्नसम्भव	अमिताभ	अमोघसिद्धि	अक्षोभ

(१) वही पृष्ठ ११

सम्भवत यह सिद्धान्त साख्य-दशन से प्रभावित हैं। क्योकि साख्य मे पचभूत, पचतन्मात्रा का वणन हे।[1] बौद्ध-तन्त्रा मे ये ध्यानीबुद्ध शक्तियो सहित वर्णित है, प्रत्येक के वण, किरीट, मुद्रा, वाहन अलग-अलग है। प्रत्येक बुद्ध कुल, बीजमन्त्र, महाभूत, इन्द्रिय एव अवयव विशेष से सम्बद्ध हे। जिस प्रकार वज्रयानियो ने प्रत्येक स्थान पर पाच की जगह एक छठा तत्त्व जोड दिया है, वैसे ही ध्यानी बुद्धो के साथ भी एक छठे बुद्ध है, 'वज्रसत्व' जो 'आदिबुद्ध' ही है और ध्यानी बुद्धो मे सवश्रेष्ठ है।

श्री बिनयतोष भट्टाचाय के अनुसार 'आदिबुद्ध' का सिद्धान्त 'वज्रयान' की एक शाखा 'कालचक्रयान' मे आविष्कृत हुआ, परन्तु इसके बीज इसके पूव भी मिलते है।[2] वस्तुत वज्रयान के अनेक सम्प्रदायो मे ध्यानी बुद्धो को अपनी विशिष्ट पद्धति पर स्वीकार किया गया हे।

आदिबुद्ध से ध्यानी बुद्ध अभिव्यक्त हुए ह, इन्ही के मानवीय रूप 'बोधिसत्त्व' कहलाते है। बौद्धतन्त्रा के अनुसार ध्यानी बुद्धो एव बोधिसत्त्वो का विवरण विस्तृत है[3]—

इस विवरण से स्पष्ट है कि ध्यानी बुद्ध बोधिसत्वो से उच्चतर साक्षात् बुद्ध है, ये सदा ध्यानरत रहते है, वे बोधिसत्वो की सृष्टि करते ह। यद्यपि ये पाच है, परन्तु वज्रयानी 'वज्रसत्व' को जोडकर छह कर देत है।

तान्त्रिक गुह्य-साधना का सम्बन्ध वज्रसत्त्वो से है। नेपाल के स्वतन्त्र मदिरो मे (जिनपर पेशेवर पुरोहितो का प्रभाव नही है) ये दो रूपा मे मिलते ह १ एकाकी रूप मे २ युगनद्ध या 'युग' रूप मे (शक्तियो से सयुक्त)। द्वितीय

(1) An introduction to tantric Buddhism—S B Das Gupta

(2) Buddhist iconography—B Bhattacharya 1924 Calcutta

(3) An introduction to tantric Buddhism—S B Da Gupta

तथा

Buddhist iconograhy, B Bhattacharya

रूप अनुत्तर वज्रसत्व कहलाता है। पूव-बौद्धमत मे प्रत्येक सदस्य बोधिसत्व कहलाता था। परन्तु पद्मपाणि रत्नसम्भव आदि बोधिसत्व दिव्य बोधिसत्व है। बोधिसत्वा का काम क्या है? बौद्धमत के अनुसार समय पर मानुषी बुद्ध जन्म लेते रहते है, यथा गौतम बुद्ध एक मानुषी बुद्ध थे, इनके ४००० वष बाद मैत्रेय नामक मानुषी बुद्ध अवतार लेंगे। अन इन दो बुद्धो के बीच की अवधि मे दिव्य बोधिसत्व मानुषी बुद्ध का काय करेगे। जगत के जीवो को धर्मशिक्षा, निर्वाण के लिए प्रेरणा आदि का काय बोधिसत्व ही करते है। अतएव गौतम बुद्ध की मृत्यु के बाद अवलोकितेश्वर या पद्मपाणि नामक बोधिसत्व काम कर रहे हैं। यद्यपि बोधिसत्व पाच है परन्तु इनमे कभी कभी छटे 'घण्टा पाणि' का नाम जुड जाता है।

मानुषी बुद्ध (Mortal Buddhas)

हीनयानी साधक २४ बुद्धों को मानते है जबकि महायानमत ७ मानुषी बुद्ध या तथागतो मे विश्वास करते है—

(१) विपश्यन् (२) शिखी (३) विश्वबाहु (४) क्रकुच्छन्द (५) कनकमुनि (६) कश्यप (७) शाक्यसिंह (गौतम बुद्ध)।

कभी कभी इन सातो के साथ 'मैत्रेय' नामक बुद्ध को भी जोड दिया जाता है जिनका अवतार हिन्दुओ के कल्कि अवतार की तरह गौतम बुद्ध के ४००० वष बाद अवश्य होगा। प्रत्येक बुद्ध की एक एक शक्ति है, तथा प्रत्येक बुद्ध एक-एक मानुषी बोधिसत्व के रूप मे अभिव्यक्त होता है—

	मानुषी बुद्ध	मानुषी बुद्ध शक्ति	मानुषी बोधिसत्व
१	विपश्यन्	विपश्यन्ती	महामति
२	शिखी	शिखीमालिनी	रत्नधर
३	विश्वबाहु	विश्वधरा	आकाशगज
४	क्रकुच्छन्द	ककुदवती	शकमगल
५	कनकमुनि	कठमालिनी	कनकराज
६	कश्यप	महिधरा	धर्मधर
७	शाक्यसिंह	यशोधरा	आनन्द

भविष्य के बुद्ध (The Future Buddha)

'मैत्रय' गौतम बुद्ध के पश्चात अवतार लेगे। यह अभी तुषित स्वग मे मानुषी बोधिसत्व रूप मे स्थित है। इन्ही मैत्रेय से आचार्य असग ने भेट की थी और महायान मत की शिक्षा ली थी। तत्र का उपदेश भी असग को इन्ही बुद्ध से मिला था। मैत्रेय को हीनयान तथा महायान दोनो मत स्वीकार करते है, अन्य बोधिसत्वो को हीनयानी नही मानते। विश्वास यह है कि बौद्धगया के पास 'कश्यप' मानुषी बुद्ध सो रहे है, जब मैत्रय अवतार लेगे तो वे मैत्रेय को 'बुद्ध' के योग्य वस्त्र देगे, तब मैत्रेय बोधिसत्व से 'बुद्ध' सज्ञा प्राप्त करेगे।

मजुश्री

महायान मे मजुश्री का महत्व अत्यधिक है। यह महान बोधिसत्व है, बुद्धि, स्मृति आदि के दाता है। 'साधनमाला' मे इनके लिए अनेक मत्र दिये गए है, इनके अनेक रूप है। नेपाल मे चतुर्थ शताब्दी मे ही इनकी पूजा चल पडी थी। इनकी प्रथम चर्चा 'सुखावती व्यूह' मे मिलती है। 'मजुश्री मूलकल्प' मे इनका स्थान उच्चतम है। ये 'वाणी' के देवता है। इनका एक रूप 'वज्रानङ्ग' है जो हिन्दुओ के कामदेव से उधार लिया गया है यह फूलो के वाण धारण करता है। वशीकरण के लिए इनकी पूजा होती है।

देवकुल विस्तार (Emanations of Gods)

बौद्धतत्रो मे प्रत्येक ध्यानी बुद्ध एव बोधिसत्व से अनेक देवताओ तथा बोधिसत्वो की अभिव्यक्ति वर्णित है। प्रत्येक ध्यानी बुद्ध और बोधिसत्व एक कुल का जनक माना गया है, अत सारे देवी देवता किसी विशिष्ट कुल से सम्बद्ध है, इस प्रकार बौद्ध देवमडल हिन्दू देवमडल से अधिक व्यवस्थित है।

वैरोचन-कुल

वैरोचन-सतति मे सब स्त्री देवताओ का जन्म हुआ है। मारीची, अशोक कान्ता, वाराही या घोषा आदि अनेक देविया इसी कुल की हैं। डाकिनी जैसी भयकर देवियो भी इसी कुल से विकसित हुई हैं। साधन माला मे इनकी वेशभूषा-वण वाहन, ध्यान, मत्र, मुद्रादि का वणन है।

अक्षोभ-कुल

'अक्षोभ' की सतान विपुल हे। सभी भयकर रूप वाले है क्योकि अक्षोभ का वण नीला माना गया हे। चण्डरोशन, हेरुक, बुद्ध कपाल, हयगीव, यमारि, जम्भल आदि उल्लेखनीय है। इनमे अधिकतर देव अपनी शक्तियो के साथ युगनद्ध रूप मे पूजित होते है। शैव कापालिक मत के साथ इन देवो का सादृश्य हे। हेरुक का ध्यान शवासन द्वारा किया जाता है। नरमासभक्षण, कपालधारण तथा मैथुनरत होकर ही यह प्राप्त हो सकते है। 'जम्भल' शायद ध्यानी बुद्धो के पूव ही कल्पित कर लिया गया था। 'जम्भल' का एक रूप ५ वष के बच्चे के रूप मे मिलता है, चन्द्रमा पर स्थित कमल पर यह स्थित है, सपा का आभूषण पहनता है, रत्नो को मुख से उगलता है। हिन्दुओ मे 'बालकृष्ण' की पूजा से इस 'बालदेव' का सादृश्य है। किन्तु वैष्णवो ने 'बालकृष्ण' को अधिक कोमल और सुदर रूप दिया है। अक्षोभ का एक रूप 'वज्रढाक' है जो शिव के समान 'महामाया' से आलिगित रहता है। 'हयग्रीव' हिन्दुओ एव बौद्धा मे मान्य देव है। निश्चित रूप से बौद्धदेवमण्डल एव पौराणिक देवमण्डल परस्पर एक दूसरे से प्रभावित हैं।

अक्षोभ-सतति का शैवधर्म से अद्भुत सादश्य है। शिव की तरह ये देव श्मशान मे रहते है, विभूति, रक्तपूण कपाल, नरमुण्डमाल, अस्थियो के आभूषण, यज्ञोपवीत, डमरू, सप आदि धारण करते है। भैरव एव हेरुक मे कुछ भी अतर नही है। यमारि तथा यम दोना महिष पर चढते हैं।

अक्षोभ-सतति मे ११ देवियो भी है, इनमे महाचीनतारा या उग्रतारा, एक-जटा, प्रज्ञापारमिता, नैरात्मा आदि उल्लेखनीय है। शैव शाक्तधर्म की 'काली' के समान ही इनके भयकर रूप है। हिन्दुओ की तारा महाचीनतारा ही है। ये देवियो मुण्डमाला, सप, चीते की खाल, तलवार आदि धारण करती है। छोटे कदवाली हैं, पेट निकले हुए है, शव पर ये खडी होती है, इनके तीन नेत्र है, ये भयकर हास्य करती है। इनमे एकजटा सबसे महत्वपूण है। इसकी साधना से सब कुछ प्राप्त होता है। प्रज्ञापारमिता का रूप मनोहर है। सरस्वती से इसका सादृश्य है।

बौद्धो ने सिद्धान्तो को देवी देवताओ का रूप दे दिया है, यथा नैरात्मा (शून्य) एक सिद्धान्त हे, किन्तु यह एक देवी भी है, बोधिसत्व को यह आलिंगित करती है । प्रज्ञोपाय की एकता नैरात्मा के रूप मे सकेतित ह ।

बौद्ध देवी उपासना मे शाक्त सम्प्रदाय की तरह सखी-सम्प्रदाय का बीज सुरक्षित है । यथा महाचीन तारा की उपासना मे कहा गया है कि साधक को अपने को 'देवी' ही समझना चाहिए, देवी का रूप बनाकर ही उसकी उपासना की जाती हैं । आज भी काली का रूप भर कर साधक विचरते दिखायी पडते हैं ।

रत्नसम्भव-कुल

रत्नसम्भव के कुल मे केवल दो देव एव देविया है, जम्भल तथा उच्छूष्म जम्भल दो देव और महाप्रतिसारा एव वसुधारा दो देविया है । यहा जम्भल कुबेर की तरह धन का देवता है ।

अमिताभ-कुल

अमिताभ से अवलोकितेश्वर, महाबल तथा हयग्रीव देव, कुरुकुल्ला, भ्रकुटी तथा महासितवती आदि देवियाँ विकसित हुई हैं । 'कुरुकुल्ला' महत्वपूण देवी हैं, वशीकरण मे सहायक मानी जाती है ।

अमोघसिद्धि-कुल

अमोघ के कुल मे सब देविया ही उपन्न हुई है । खादिर वानी तारा, वश्य-तारा, धनदतारा, महामायूरी आदि उल्लेखनीय हैं । रोग, सप-दशन आदि से ये देविया रक्षा करती है ।

ध्यानी बुद्धो से उत्पन्न देवी-देवताओ के शीशो पर अपने-अपने कुल पिता ध्यानबुद्ध की मूर्ति रहती है । कुछ देव ऐसे है जो पचध्यान बुद्धो की समष्टि से उत्पन्न हुए है । इनमे जम्भल, महाकाल, महाकाल भट्टारक आदि है । इनके सिरो पर पाचो ध्यानी बुद्धो की मूर्तिया रहती है । गुरु द्रोहियो को महाकाल कच्चा ही खा जाता है, ऐसा उल्लेख मिलता है, ये सब देव शैव-धम से सम्बद्ध है ।

वज्रसत्व कुल

ये छठे ध्यानी बुद्ध है, इनकी सतानो मे जम्भल देव तथा चण्डा देवी की साधना मिलती है, इनके शीशो पर वज्रसत्व की मूर्ति रहती हैं ।

बोधि-सत्व-कुल

अवलोकितेश्वर—इनके १०८ रूप है। इनमे लोकनाथ, हालाहल, नील कठ, सुखावती लोकेश्वर, सिंहनाद आदि उल्लखनीय है। नैपाल मे इनकी पूजा प्रचलित है। बौद्धतत्र मे अवलोकितेश्वर बडे ही करुणामय देव है। गौतम बुद्ध के पश्चात् मैत्रेये आने के पूव तक यही जगत् के कल्याण मे लवलीन है। इन्होने जीवो की मुक्ति के पूव अपनी मुक्ति स्वीकार नही की और बौद्ध ज्ञान के प्रसार मे निमग्न है। सभी धमा के सभी देवी-देवता इन्ही के विभिन्न रूप है। इनकी कृपा से ही प्रथम मनुष्य, पुन पशु पक्षी आदि जीव क्रमश निर्वाण प्राप्त करेंगे, तब यह स्वम निर्वाण प्राप्त करेंगे, इस सेवा एव परोपकार भावना के कारण ये 'सघरत्न' कहलाते है। स्वग मे स्थित होकर भी यह जीवो की दशा देखने के लिए नीचे की ओर देखते रहते है इसीलिए यह 'अवलोकितेश्वर' (नीचे की ओर देखने वाला देवता) कहलाते है, सभी के कल्याण के पश्चात् अपने कल्याण की कामना से प्रेरित होने के कारण अवलोकितेश्वर की महिमा वैष्णवो के 'विष्णु' तथा शैवो के 'शिव' के समान ही प्रसिद्ध है। सभी बौद्ध देवो मे सबसे अधिक करुणामय रूप अवलोकितेश्वर का ही है।

अन्य बोधि सत्वो के कुलो का वणन 'साधनमाला' मे नही मिलता।

पच रक्षा मण्डल

हिन्दुओ के पचरक्षा मण्डल देवताओ की तरह बौद्ध पच रक्षा मण्डल भी मिलता है। इनमे महासहस्त्रप्रमर्दिनी, महामन्त्रानुसारिणी, महामायूरी, महासित-वनी आदि देविया है। महामहस्रप्रमर्दिनी को छोडकर ये देव शाति रूप हैं, दीर्घायु, राज्यो की रक्षा, भूत प्रेत से रक्षा, अकाल से रक्षा आदि सभी लौकिक कल्याण इनकी उपासना से होते हैं। नेपाली बिहारो मे इनकी मूर्तिया प्राप्त होती है। प्रत्येक पुरोहित इनकी 'हस्तलिपि' रखता है।

स्वतंत्र देवी-देवता

स्वतत्र देवी-देवताओ पर ध्यानी बुद्धो की मूर्तिया नही मिलती। गणपति, विघ्नान्तक, वज्रहुकार, भूतडामर, परमाश्व, नाम सगीति, त्रैलोक्यविजय आदि ऐसे ही देव है। गणपति की १२ भुजाएँ, एक मुख, रक्तवण, निकला पेट, कुठार

बाण, वज्र, तलवार, शूल, पाश, मूशल, धनुष, खट्वाङ्ग, कपाल, शुष्कमास, लालकमल आदि वर्णित है। चुहिया पर सवार है। यह गणपति तान्त्रिक गणेश है। विघ्नान्तक को मडल का द्वार रक्षक देवमाना गया है। यह हिन्दुओ के गणेश को पैरो से कुचलते हुए चित्रित है, 'वज्रवानानलाक' नामकदेव विष्णु को त्रैलोक्य विजय महादेव एव गौरी कोपरमाश्व, इद्राणी, लक्ष्मी रति और प्रीति, इन्द्र, मधुकर एव बसत को कुचलता हुआ चित्रित किया गया है। बौद्ध धर्म द्वारा यह हिन्दू देवो पर श्रेष्ठता का प्रदशन मात्र है।

स्वतंत्र-देवियाँ

सरस्वती, महासरस्वती, वज्रशारदा, वज्रवीणासरस्वती, आयसरस्वती, वज्रसरस्वती, अपराजिता, वज्रगाधारी, वज्रयोगिनी, गृहमात्रिका, गणपतिहृदया आदि स्वतन्त्र देविया हैं। इनमे अपराजिता गणपति को कुचलती हुई दिखायी गई है। वज्रयोगिनी हिन्दू देवी 'चीनमस्ता' से सादृश्य रखती है। वस्तुत हिन्दू एव बौद्ध तन्त्रो मे यह देवी चीन से आकर पूजित हुई।

बौद्ध-देवमडल—कुछ निष्कर्ष

उपर्युक्त बौद्ध-देवी-देवताओ के विवरण से स्पष्ट है कि यह मडल हिन्दू देव मडल से अधिक व्यवस्थित है। इन्द्रभूति (७०० ८५० ई०) से ११ वी शताब्दी तक वज्रयानी देव-मडल का यह अदभुत विकास भारतीय धम-साधना मे अपना महत्त्वपूण स्थान रखता है। सप्तम शताब्दी के पूव यद्यपि गुह्य समाज मे ध्यानी बुद्धो की चचा है तथापि वहा देव मण्डल व्यवस्थित नही है, फिर गुह्य समाज मे कुछ क्षेपक बाद मे भी जोडे गए है, अत हिन्दू पुराणो के समानान्तर बौद्ध देव मडल का विकास हुआ है, यह कहा जा सकता है, हिन्दू पुराणो का बौद्ध देव मडल पर प्रभाव स्पष्ट है। विशेष कर शैव एव शाक्त पुराणो का। पुराणो और बौद्ध तन्त्रो मे वस्तुत स्थानीय देवी देवताओ तथा जनाया द्वारा पूजित यक्षो भूत प्रेतादिको को भिन्न रूप देकर अपनाया गया है। विष्णु, शिव, गणेश, काली, आदि का पुराणो मे जो रूप मिलता है, वह शताब्दियो मे विकसित हुआ है। पिछडी जातियो के असभ्य कुरूप देवताओ को वीभत्स साधनाओ सहित कुछ

रूपान्तरित कर ब्राह्मण बौद्ध पौरोहित्य ने स्वीकार करके, उन्हे एक ब्रह्म की अभिव्यक्ति बता कर स्वीकार कर लिया है। इस प्रवृत्ति से एक ओर तो ब्राह्मण, बौद्ध धम को पिछडी जातियो द्वारा स्वीकृति प्राप्ति करने मे सफलता मिली है, तो दूसरी ओर इससे 'समन्वित' भारतीय धम-साधना का रूप विकसित हुआ है। जिन देवताओ को हम शुद्ध वैदिक या शुद्ध बौद्ध मानते चले आ रहे ह, वे वस्तुत वैदिक-बौद्ध सस्कृतियो मे अनाय और पिछडी जातियो से आये है।

किन्तु उपयुक्त मिश्रण या समन्वय के साथ साथ साम्प्रदायिक उच्चता की प्रवृत्ति ने दूसरे धर्मो के देवी-देवताओ को नीचा दिखाने का भी प्रयत्न किया है। बौद्ध देव मडल शताब्दियो मे विकसित और पुराणो द्वारा स्वीकृत कई देवताओ को अपने देवताओ द्वारा पैरो से कुचलाते है। बौद्ध गणेश को विघ्न डालने वाला देव मानते है, परन्तु साथ ही विघ्नान्तक जो गणेश को कुचलता है, की कल्पना गणेश की कल्पना पर ही आधारित है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव एव इन्द्र को बौद्ध तत्र 'शैतान' (मार) की श्रेणी मे रखते है। नारायण को 'हरिहरि वाहन' नामक देव का वाहन बना दिया गया है। 'ब्रह्मा' की सबसे अधिक दुर्दशा की गई है। अनेक बौद्ध देवता ब्रह्मा के शीश काट कर अपने हाथो की शोभा बढाते है। निष्पन्नयोगावली मे वर्णित 'हेरुकमण्डल' मे गौरी, चौरी, वैताली, व घसमरी ब्रह्मा, इन्द्र, उपेन्द्र एव रुद्र की छाती पर आसीन दिखाये गए है। 'सवर मडल' मे बौद्धदेव भैरव तथा काल रात्री पर खडा है। 'योगाम्बर मडल' मे हिन्दू देवताओ को द्वारपाल बना दिया गया है।

बौद्ध देव मडल की एक विशेषता यह है कि सारे देवी-देवताओं के ऊपर किसी न किसी ध्यानी बुद्धो की मूर्ति रहने से वे सरलता से पहचाने जा सकते है। कुछ स्वतत्र देवता अवश्य हिन्दुओ से उधार लिये गए है। इन देवताओ के वण, अस्त्र, आसनादि का महत्त्व बौद्धो के यहा हिन्दुओ के यहा से अधिक हैं।

शक्ति-सयुक्त (यब युम) देवो का रूप भी बौद्ध देव-मडल की विशेषता है, इस शैव एव बौद्ध शक्ति-शक्तिमान की एकता के आधार पर ही अनेक हिन्दू देवताओ पर प्रभाव पडा है। नेपाल तथा तिब्बत मे शक्ति-सयुक्त देवो का अधिक प्रचार है।

बौद्धो ने देवो को शून्य या तथता की अभिव्यक्ति बतलाया है। देवो की वास्तविक सत्ता नही है,[1] केवल उनकी मनोवैज्ञानिक आवश्यकता है। साधना के प्रारम्भ मे बीज मन्त्रो से देवता की उत्पत्ति होती है और देवताओ के साथ तादात्म्य कर साधक अपने स्वरूप मे स्थित होना सीखता है।

अनेक रूपो की कल्पना मानसिक स्थिति की अनेकता के कारण है। रोगनाश के लिए विशेष मानसिक स्थिति की आवश्यकता होगी, अत 'सिंहनाद' देव का ध्यान अनिवार्य होगा। शत्रुनाश के लिए महाकाल, प्रेम के लिए कुरुकुल्ला का ध्यान करना होगा, अत चित्त की स्थिति ही देव की भिन्नता के लिए उत्तरदायी है, देवता फल नही देता, चित्त की स्थिति ही फल देती है, बौद्ध-देव उपासना का यह सिद्धान्त अत्यधिक मनोवैज्ञानिक है। यह भी कहा गया है कि साधना प्रारम्भ करते समय साधक के अवचेतन मन का विस्फोट होता है, उसके अवचेतन मे पड़ी दुर्वासनाएँ ही भयकर देवी देवताओ के रूप धारण करके उसे डराती है, यही कारण है कि बौद्ध देवताओ का रूप भयकर अधिक है। इन भयकर देवताओ को उच्चतर मानसिक स्थितियो द्वारा वश मे लाया जाता है, तब देवता रूपधारी दुर्वासना-समूह ही सहायक तथा फलदायी बन जाता है, अत देव उपासना इस दृष्टि से भी अनिवार्य है।[2]

(१) जगत की वस्तुओ को नि स्वभाव समझ लेने पर उत्पन्न स्फूर्ति ही देवताकार मे परिणत हो जाती है और यही स्फूर्ति फल देती है, अत साधना मे फल साधक की वासना देती है, देवता तो उसकी स्फूर्ति के अनुसार ही रूप धारण कर लेता है—
प्रतीत्योत्पादमात्रत्वात्, नैव सत्त्व न शून्यता।
स्फूर्तिश्च देवताकारा, नि स्वभावा स्वभावत —अद्वयवज्र सग्रह

(२) सेकोद्देश्यटीका मे 'क्रोधावेश' आचार द्रष्टव्य।

अभयकर गुप्त की 'निष्पन्नयोगावली' मे कहा गया है कि देवता की सत्ता वास्तविक नही है। साधक साधना के समय ध्यान करता है, 'बीजाक्षरो' का जप करते समय साधक के मानसिक क्षितिज पर इन्ही बीजमन्त्रो से 'देवता उदित होता है। प्रश्न यह है कि क्या देवता का रूप कल्पित है? उत्तर है कि 'देवता' का रूप न वास्तविक है, न कल्पित है। साधक सर्वप्रथम बीज मन्त्रो का जप करता है और साथ ही किसी देवता का बौद्ध-तन्त्रो मे वर्णित वाहन, शक्ति,

कुछ विद्वानो का विचार है कि बौद्ध देवसाधना तान्त्रिक हिन्दू देव साधना से श्रेष्ठ व प्राचीन है।[1] परन्तु कुछ विद्वान इसका विरोध करते है। कुमार स्वामी के अनुसार बौद्ध तान्त्रिक योगी थे और योग बौद्ध धम से प्राचीनतर है। परन्तु डा० बी० भट्टाचार्य के अनुसार उपनिषदो मे वेदान्त प्रतिपादित होने पर भी शकराचार्य का स्थान जिस प्रकार महत्त्वपूण है उसी प्रकार उपनिषद् एव साख्य से प्रेरणा लेने पर भी बोद्ध तान्त्रिक योग ने मौलिक आविष्कार किये हे, उदाहरणत

अस्त्र ,वण आदि के साथ देवता के रूप पर ध्यान केन्द्रित करता है, यह प्रथम रूप 'कल्पित' होता हे परन्तु साधक के इस रूप के साथ तादात्म्य के कारण बीज मत्र से देवना की मूर्ति और मूर्ति से देवता का बाह्य रूप साधक के मानसिक क्षितिज पर उदित होता हे। इसी रूप को देवता' कहा जाता है। यह द्वितीय रूप कल्पित नही है वरन साधक की चेतना का ही एक रूप हे अत इस द्वितीय रूप के उदित होने से साधक के सकल्प के अनुसार फल मिलता है। बीज मत्र से—देवना की मूर्ति और मूर्ति से—देवता का बाह्य रूप यही देव उत्पत्ति का क्रम है। अत प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त यहा भी लागू होता है। शून्य रूपिणी अवाङ्मनसगोचर साधक की चेतना (चैतन्य) ही देव उत्पत्ति मे कारण है। साधक की व्यष्टिगत चेतना के (बोधिचित्) 'शून्य तत्त्व' से मिलते ही सुषुप्ति सी आ जाती है, चूकि बोधिचित् सीमित हे अत असीम का ज्ञान एक साथ कठिनाई से होता, है व्यष्टिगत चेतना का अनुभव भी ससीम ही रहता है, योगी जब ध्यानावस्थित होता है तो समष्टिगत शून्य तत्त्व पर प्रतिक्रिया होती है और उस साधक की भावना के अनुसार शून्यतत्त्व (जो वस्तुत साधक की व्यक्तिगत चेतना के साथ अभिन्न है) देवता के रूप मे उदित हो जाता है, अत योगी भावना विशेष के द्वारा, प्रक्रिया विशेष के द्वारा, देव विशेष को देखता है, जितने देवता है, ‹ सब साधको द्वारा 'देखे' गए है, इसीलिए साधक 'द्रष्टा' कहलाता है देव-उपासना वस्तुत आत्म शक्ति को जाग्रत करने की पद्धति मात्र है, शक्ति केन्द्रित होकर सकल्प मात्र से सृष्टि करने मे साधक को समथ कर देती है बौद्ध तन्त्रो की यह देव-उत्पत्ति अत्यधिक मनोवैज्ञानिक है।

द्रष्टव्य (निष्पन्न योगावली की भूमिका—
डा० बी भट्टाचार्य)

(१) साधन माला की भूमिका—डॉ० बी० भट्टाचार्य

बौद्ध योगियो का कहना है कि देवता के साथ तादात्म्य करने से ही सिद्धि मिलती है, यद्यपि देवता नि स्वभाव ह और स्वय साधक के मन की उपज हे। उपनिषद् मे यद्यपि ब्रह्म के साथ तादात्म्य का सिद्धा त वर्णित है तथापि मोहन, वशीकरण आदि के लिए देवता के साथ तादात्म्य का सिद्धान्त बौद्धो ने ही आविष्कृत किया है। बाद मे हिन्दूतत्रो ने इसे स्वीकार किया,[2] यह डा० भट्टाचार्य ने साधना माला भी भूमिका मे कहा है परन्तु मेरा विनम्र मत यह है कि तान्त्रिक साधनाएँ वस्तुत स्थानीय देव उपासना, प्रत पूजा आदि के रूप मे प्रागैतिहासिक काल से प्रचलित है, इसी सामान्य स्रोत से बौद्धो एव हिन्दुओ ने उन्हे ग्रहण किया है, अत लोक साधना को केवल शास्त्रीय और दार्शनिक रूप हिन्दू-बौद्धतत्रो मे दिया गया है। परन्तु स्वीकार करना पडता है कि सामान्य लोकविश्वासो को बौद्धो ने स्वीकार कर हिन्दू तत्रो मे वर्णित देव उपासना से कही अधिक मनोवैज्ञानिक रूप दिया है। उदाहरणत देवताओ, ईश्वर ध्यानी बुद्ध आदि की सत्ता की नि स्वभावता बौद्धो ने अधिक स्पष्ट और दृढ शब्दो मे की है जब कि शैव शाक्त, वैष्णव तत्रो मे 'देवतावाद' को भावात्मक भाषा मे वर्णित किया गया है बौद्ध सत्ता को भाव एव अभाव से परे बतलाते है अत देवता का स्वरूप उनके यहा केवल एक मनोवैज्ञानिक सहायता के रूप मे स्वीकार्य है जब कि हिन्दू तत्रो मे 'अभिव्यक्तिवाद' का सिद्धान्त स्वीकार किया गया है, जगत को ब्रह्म की अभिव्यक्ति मान लने से देवो को भी ब्रह्म की अभिव्यक्ति के रूप मे स्वीकार किया गया अतएव 'देवता' का भावात्मक रूप हिन्दू तत्रो मे स्वीकृत हो गया। यह 'आस्तिकता' तथा 'शास्त्र' मे विश्वास का प्रभाव था जब कि बौद्ध-साधना केवल योग एव विवेक पर आधारित थी। साधना के निम्न स्तरो पर योग, ज्ञान, भक्ति, चर्या, आचार आदि सबका महत्त्व बौद्धो मे भी स्वीकृत है।

बौद्ध-देव मण्डल मे भयकर देवता अधिक हैं, वैष्णव देवताओ के समान वे कोमल एव कृपावान नही हैं, परन्तु 'साधनमाला' मे कहा गया हे कि देवता वस्तुत हृदय से दयावान है, केवल उसका बाह्यरूप ही भयकर है। यह बाह्य भयकरता

(2) We have sufficient reasons to held that the Hindu tantras were introduced on the model of the Buddhist tantras and the Hindus among other things borrowed many Buddhist Customs—वही

भी साधकों को भयभीत करने के लिए नहीं हे, अपितु करुणाशून्य, हिंसक अनास्थावादियों को दण्ड देने के लिए ही देव भयकर रूप मे अवतरित होते है। यह भी कहा गया है कि इस प्रकार धम, सघ और 'बुद्ध-द्रोहियों' को कच्च चबाकर भी ये देव अगले जन्म मे शुद्ध कर देते है। राम चरितमानस मे भी कह गया है कि राम जिन्हे मार डालते है, उनकी गति हो जाती है।

यह भी कहा गया हे कि जो लोग दरिद्र है, वे सुगत द्वारा निर्देशित धम क कैसे स्वीकार कर सकते है, ऐसे लोगो को दण्ड देने के लिए ही 'जम्भल 'उच्छूष्म' का भयकर रूप धारण करता है।[२] किन्तु इस व्याख्या से स्पष्ट है ि वज्रयान मे 'बौद्ध पौरोहित्य' अपनी वृत्ति चलाने के लिए देवताओ के मुख से इ प्रकार के वचन कहलाकर स्वाथ पूरा किया करते थे। जनता के अधविश्वास र बौद्धो ने भी लाभ उठाय। जिसका गौतम बुद्ध बराबर विरोध करते रहे थे।

मूर्ति पूजा सामान्यजन को बुराइयो से बचाने एव सूक्ष्म दाशनिक तत्त्वो क ओर उन्मुख होने के लिए प्रारम्भिक सोपान के रूप मे स्वीकृत हुई थी, परन्तु उस ने अध विश्वास को सबसे अधिक आश्रय दिया। जैन धम मे 'मूर्ति' को तीथक के अच्छे कर्मो के स्मरण करने के लिए प्रेरक तत्त्व के रूप मे स्वीकार किया गय है परन्तु वहा भी, स्वय मूर्ति को ही सवस्व मान लिया गया।

बौद्ध-देवमडल का हिन्दू तत्रदेवमडल पर पर्याप्त प्रभाव मिलता है। 'तार उपासना पर बौद्ध प्रभाव है। क्योकि तारा को 'पचमुडाविभूषिताम्' "मौला क्षाभ्यभूषिताम्" कहा गया है।[१] बौद्धदेवो मे कुलेश देवता की मूर्ति प्रत्ये देवता के शीश पर रहती है। 'तारा' के शीश पर भी अक्षोभ्य की मूर्ति कही ग है अत बौद्ध प्रभाव स्पष्ट है। फिर 'तारा' को 'एकजटा' देवी का रूप माना ग है, हिन्दुओ के यहा 'एकजटा देवी नही है, यह स्पष्टत बौद्धो से उधार ली ग है। एकजटा के विषय मे कहा गया है कि नागार्जुन इसे तिब्बत से लाये थे

(१) आचार्य्य य सदा द्वेषी, कुपितो रत्नत्रयेऽपि य।
अनेकसत्त्वविध्वसी, महाकालेन खाद्यते—साधनमाला भूमिका भाग

(२) दारिद्रयदुःखाहत मानसाना, का चित्तवृत्ति सुगतस्य वृत्ते।
अतश्चकोपादिव जम्भलोऽसौ, उच्छूष्मरूप भयद चकार—वही

रुद्रयामलतत्र मे कहा गया है कि वशिष्ठ ने चीनभूमि मे जाकर पचमकार साधना की शिक्षा ली थी ।[1]

तारा के अतिरिक्त 'चीनमस्ता' पर भी बौद्ध प्रभाव है । युगनद्ध देव उपासना शुद्ध बौद्ध है, यह डा० बी० भट्टाचाय का मत है । इसमे इतना सत्याश अवश्य है कि ७वी शताब्दी के बाद युगनद्ध उपासना का प्रभाव शैव, शाक्त एव वैष्णवो पर पडा है, परन्तु अपने मूल रूप मे बौद्धो को यह प्रेरणा शैव गुह्य-साधको से ही मिली है क्योकि शिव उमा का युगनद्ध रूप बौद्धो से प्राचीनतर है ।[2] आगे चलकर 'काली उपासना' पर बौद्धप्रभाव अवश्य पडा, क्योकि उसे 'विपरीत रतातुरम्' कहा गया है ।[3]

डा० भट्टाचाय का यह भी मत है कि सवप्रथम बौद्ध तत्रो मे ही सभी वर्णो को देवताओ के रूप मे देखा गया था, परन्तु शब्द-साधना प्राचीनतर है ।

श्री वैडेल का विचार है कि सुखावती स्थित बुद्ध की कल्पना पर इडो यूरोपियन 'सूम देव' का प्रभाव है । अवलोकितेश्वर पर उनके अनुसार प्राचीन भागवत मत का प्रभाव है । 'तारादेवी' वस्तुत सुमेरियन सम्राट की पत्नी 'तर' का ही नवीन रूप है । ध्यानी बुद्धो पर शैव प्रभाव है ।[4] श्री वैडेल के सुझाव विचारणीय है, श्री डा० बी० भट्टाचाय निश्चितरूप से बौद्धतत्रो को मात्रा से अधिक महत्त्व देने के लिए तत्पर दिखाई पडते है । श्री वैडेल का स्पष्ट मत है कि गौतमबुद्ध स्वय हिदू थे और हिदुओ के ही शिक्षक थे अतएव उहोने हिदू देवमण्डल व सृष्टि सम्बधी विचारो को कुछ हेरफेर करके अपना लिया था ।[5] बौद्धतत्र तृतीय शताब्दी के बाद ही बिकसित हुए, विशेष कर देवमडल और भी बाद मे विकसित हुआ, तब तक शैव एव भागवत मत प्रबल हो गया था, शुग-काल मे ब्राह्मणधर्म का पुनर्जागरण हो चुका था । अत बौद्धतत्रो पर शैवो का विशेष प्रभाव है परतु बदले मे बौद्धतत्रो ने शैवो को भी प्रभावित किया है ।

(१) साधनमाला—भूमिका
(2) Lamaism-L A Waddell-Second edition, Cambridge 1934
(३) साधनमाला—भूमिका
(4) Lamaism Waddell, introduction
(५) वही—पृष्ठ ७३

परस्पर प्रभावित करने की यह प्रवृत्ति बराबर बढती ही गई। यवनो के आक्रमणो की आहट सुनकर शैव, शाक्त, वैष्णव ही नही, बौद्धमत भी चौक उठे थे। बौद्धदेवमण्डल को विस्तार देनेवाले 'कालचक्रयान' सम्प्रदाय से सम्बद्ध 'विमल प्रभा' मे एक स्थान पर महत्वपूर्ण उल्लेख मिलता है, जिससे स्पष्ट होता है कि बौद्ध हिन्दुओ के साथ मिलकर विदेशियो के विरुद्ध मिलकर सयुक्त मोर्चा बनाना चाहते थे और इसी कारण 'कालचक्रयान' ने जहा एक ओर हिन्दू देवताओ को अपमानित किया है, वही उनमे से अनेक को स्वीकार भी कर लिया है, अत 'कालचक्रयान' जो तान्त्रिक बौद्धमत का अन्तिम रूप था, हिन्दू देवमण्डल के निकट आ रहा था। 'कालचक्र उपासना' शैव महाकालउपासना तथा प्राणानुशासन एव कालानुशासन का ही एक विशेष रूप है। मूलत दोनो एक है।

Vimal Prabha, a Commentary on the kalchakra tantra, records that an invitation was extended to the highest Hindus to embrace the worship of Kalchakra in order to ward off the evil of Mlechha civilisation which was sure to envelop the east and corrupt the sons and daughters of the both Hindus and the Buddhists

(निष्पन्न योगावाली—भूमिका भाग)

अभिषेक

ससार मे प्राणी दो प्रकार के है (१) शैक्ष्य—इन्हे कर्म विधान करना पडता है (२) अशैक्ष्य—इन्हे केवल प्रणिधान वेग से—केवल ध्यान से ही, प्राणोपाय की युगनद्धता से सिद्धि मिल जाती है। ज्ञानी चिंतामणिवत अकम्पित रहकर जगत् का कार्य करता रहता है।

आदिकर्म—'शैक्ष्य' साधको को दान, शील, शान्ति, वीर्य, ध्यान, प्रज्ञा, इन छह पारमिताओ का अभ्यास करना पडता है, ये ही आदिकर्म कहलाते है। स्वय बुद्ध ने सम्भोग काया-प्राप्ति के पूर्व इनका अभ्यास किया था। बोधि प्राप्ति के पश्चात् इनका अभ्यास केवल जीवो पर करुणावश होता है।

शैक्ष्य साधको को गुरुद्वारा 'पोषधदान' दिया जाता है। सघ, बुद्ध, धर्म की शरण मे जाना ही 'पोषध दान' है। वैष्णवो के यहा इसे ही अनुग्रह या पुष्टि

कहा गया है। प्रारम्भिक साधको के लिए मृषा वादन, मद्यपानादि सभी कुकर्मो से बचना अनिवाय है। इस अवस्था मे साधक 'उपासक' कहलाता है।

उपासक—बुद्ध पूजा के लिए उद्यत को उपासक कहते है। 'उ' से साधना के लिए 'उद्युत्त', 'पा' से पाप से अलग रहने की प्रतिज्ञा, 'स' से सम्बोधि व समाधि की प्राप्ति, और 'क' से उपकार करने का प्रयत्न, ये अथ 'उपासक' शब्द से सकेतित है।[1] उपासक गुरु की देखरेख मे ही काम कर सकता है। परन्तु गुरु के दो रूप हैं—अभ्यतर गुरु एव बाह्य गुरु। इनमे प्रथम गुरु ही वास्तविक गुरु है। आत्मगुरु ही इच्छाशक्ति का केन्द्र है, बाह्यगुरु का उपदेश केवल इस आतरिक गुरु की जागृति के लिए है। अत साधना साधक की जागरूक इच्छा शक्ति के बिना फल नही दे सकती। परन्तु बाह्यगुरु तथा बाह्य क्रियाओ से आतरिक जागृति मे सहायता मिलती है, अत दोनो मे एकता भी अनिवाय है।

रक्षा एव मडल—साधना का स्थान मडल है। यह एक वृत्ताकार स्थल होता है, यहा रेखाओ द्वारा मडल बनाकर पुष्पो से सजाकर, देवी देवताओ के चित्र खीचे जाते है। सवप्रथम 'मडल' मे गुरु शिष्य के अग को पवित्र करना है। मत्रो एव जल द्वारा यह क्रिया होती है। मडल करण का आतरिक अथ भी साथ साथ समझना पडता है। दान ही गोमय है जिससे मडल स्थल को लीपा जाता है। शील ही सम्माजन है, प्रज्ञा ही रेखाएँ है। शान्ति ही अहिंसा और वीय ही क्रिया है।

साधक की रक्षा के लिए शैव साधको के समान ही गुरु 'न्यास' का प्रयोग करता है। अ, उ, ओ, र, अ आदि अक्षरो को विभिन्न अवयवो पर लिखा जाता है। इससे शुद्धि व शक्ति-जागृति होती है।

अभिषेक—अभिषेक के लिए अनेक पात्रो की आवश्यकता होती है। "ओ हम् हम् हिम् हिम् हिम् हिम् हुम हुम ह्लम् ह्लम्" इस मत्र से पात्र शुद्धि की जाती है। तब मडल के बीच एक 'विजय-कलश' की स्थापना करता है।

साधक के अभिषेक मे प्रथम मडल की पूजा होती है। पुन मडल के लिए मिट्टी का सग्रह (भूमि सग्रह) होता है। तब साधक का मडल प्रवेश होता है। साधक स्नान कर श्वेत वस्त्र पहन कर मडल मे आता है। गुरु शिष्य के शीश पर

(१) अद्वयवज्रसग्रह

पुष्प रखता ह सुगन्धियो से सिंचित करता है। शिष्य पूर्व दिसा मे गुरु के सम्मुख बैठता है। गुरु को दक्षिणा दी जाती है। गुरु ज्ञानचक्र (प्रज्ञा) एव समयचक्र (उपाय) की एकता का ध्यान करता है। गुरु तब देवताओ पर चदन छिडकता है। य देवता 'नामक कहलाते है क्योकि शिष्य की रक्षा करते है। सारी क्रिया मन्त्रो द्वारा होती है।

पूजा—यह गुरु पूजा है। शिष्य गुरु के सम्मुख जगत के दु ख से मुक्त होने के लिए गुरु की शरण मे आने की घोषणा करता है।

प्रणिधान—इसमे शिष्य प्रतिज्ञा करता है कि वह अपने शीश पर वज्र, घटा, मुद्रा गुरु को धारण करता है और ज्ञान प्राप्ति के लिए कटिबद्ध है। यह प्रतिज्ञा सारे बौद्ध दर्शन के सार का स्मरण कराती है। इसके पश्चात् गुरु मन्त्र के साथ जल छिडककर साधक का अभिषेक करता है।

क्रोधावेश—साधक के अवचेतन मे स्थित दुर्वासनाएँ अभिषेक से जाग्रत हो जाती है और उसे भूतावेश होता है। गुरु उसे शात कर देता है।

अभिषेक क्रिया दीर्घ और रहस्यमय है। सात बार अभिषेक कर गुरु साधक को साधना के योग्य बनाता है। अभिषेक तीन प्रकार के है—(१) कलशसेक (२) गुह्यसेक (३) प्रज्ञासेक।[1]

सात बार 'कलशसेक' होने के बाद गुह्यसेक होता है। साधक के हाथ म वज्र और घटा देकर गुरु 'गुह्य शिक्षा' देता है जो प्रारम्भिक शिक्षा के सर्वथ विपरीत होती है।

गुह्य सेकशिक्षा—प्रारम्भिक शिक्षा मे चोरी, मिथ्यावादन, दुराचार सब वर्जित, परन्तु द्वितीय अभिषेक मे ये ही कार्य अनिवार्य हो जाते है, परन्तु इन गुह्य अर्थ भी समझने पडते है। साधक को कुलीशकुल मे चोरी करना चाहिए इसका अर्थ यह है कि प्राण शक्ति का निरोध करना चाहिए।

दूसरे का धन चुरा लेना पुण्य है, अर्थात् ध्यान द्वारा शून्यता की प्राप्ति पुण्यकर है। आत्म पूजा ही श्रेष्ठ पूजा है, अर्थात् यह शरीर शक्ति का स्रोत है इसके भीतर ही सत्य का कोष है, इसे दिव्य समझकर ही दिव्यता प्राप्ति सम्भव

(१) कही २ इनकी सख्या चार है, चतुर्थ सेक 'वज्राभिषेक' है।

है। डोम्बी के साथ सहवास करना सिद्धिकर है, अथात् सुषुम्ना का माग ही सिद्धिदाना है।

इस अभिषेक मे कन्याआ का होना अनिवाय है। इन्हे 'मुद्रा' कहा जाता है। मुद्रा (स्त्री = शक्ति) द्वारा साधक अपने अर्न्तनिहित शक्तियो को जाग्रत करता है। किसी स्त्री के साथ सावना का अभिप्राय यह है कि साधक परमतत्व है (शिव) है। वह सृजन क्रिया द्वारा ही आनन्द प्राप्त करके भी उससे निर्लिप्त रहना है। अत शक्ति के बिना साधक इस अनुभूति को प्राप्त नही कर सकता। साधक को चाहिए कि वह भय से रहित १२ वष तक की कन्या को गुरु की सेवा मे समर्पित करे। तब गुरु शिष्य द्वारा उसका स्तन स्पश कराए, यही गुह्य 'कलशाभिषेक है। पुन मुद्रा के गुप्ताङ्ग के दशन करे यही गुह्याभिषेक है।[1] तत्पश्चात् 'प्रज्ञाभिषेक' मे ओकार आदि बीज-मन्त्रो द्वारा गुरु मुद्रा को शिष्य को सौप दे। मुद्राओ को तत्र मे 'विद्या' भी कहा गया है, इनकी सख्या १० है। भागिनेया, दुहित्री, भगिनी, जननी, भाया की जननी, मातुल पत्नी, पितृव्य पत्नी, पिना की भगिनी, स्वमातुभगिनी तथा स्वभाया—ये दस विद्याए है। इनके अतिरिक्त शूद्री, क्षत्रिणी, ब्राह्मणी, वेश्या, डोम्बी, कैवर्ती, नटी, रजकी चमकारी, चण्डाली आदि १० विद्याएँ अन्य भी हो सकती है।[2]

इन १० विद्याआ को गुरु को समपण कर गुरु की आज्ञा की याचना करे। गुरु साधक को उसकी भार्या के साथ या चण्डाली के साथ साधना की आज्ञा देता है। तारा, पाण्डरा, मामकी, लोचना, स्पशवज्रा, रसवज्रा, रूपवज्रा, गधवज्रा आदि चित्रित देवियो की पूजा कराता है।

(१) ततस्तुष्टो गुरुर्लोकसवृत्या स्तनस्पशन कारयति, स्वमुद्रायास्तेन कलशाभिषेक स एव। ततो गुह्यपूजा कृत्वा शिष्यायामृत ददाति, मुद्रारविन्द चालोकयति तेन गुह्याभिषेको भवति।—सेकोद्देश्यटीका—पृष्ठ २२ २३

(२) इन मुद्राओ के भी प्रतीकात्मक अथ है। १० मुद्राएँ १० भूमियो की प्रतीक है। १० भूमिया ये है—प्रमुदिता, विमला, प्रभाकरी, अर्चिषमती, सदुजया, अभिमुखी, दुरगका, अचला और धर्ममिघ्या। परन्तु प्रतीकात्मक अथ के साथ-साथ स्त्रियो के साथ सहवास को अनिवाय माना गया है। क्योकि स्त्री प्रज्ञापारमिता रूपिणी है, अद्वयवज्र ने स्पष्ट कहा है कि गुह्य क्रिया (सहवास) से प्रज्ञा व उपाय दीप्त हो उठते है—

प्रज्ञोपायगुह्याभ्या दीप्यत—अद्वयवज्रसग्रह

इसके पश्चात् गुरु यदि चाहे तो शिष्य से पूव 'मुद्रा साधना' करे अथवा शिष्य की आखे बाधकर गुरु उसकी भाया उसे सौप दे। अधरात्रि से सूर्योदय के दो घडी पूव तक इस गुह्यसाधना का समय है।

गुह्यसाधना के लिए ज्ञानशक्ति का जागरण आवश्यक है। वज्र एव घटा को धारण कर लेने के पश्चात् जगत को केवल मन की भ्रान्ति समझे, अत इन भ्रान्तियो से परे प्रभास्वर निमल चेतना को पहचानने का प्रयत्न करे, तब यह 'गुह्याभिषेक' सफल और क्षिप्रसिद्धिकर होता है।[1] प्रज्ञोपाय ज्ञानो मुख साधक केसरीवत् मुक्त भ्रमण करता है। लोकधम को छोड देता है, जगत को स्वप्नवत् होने के कारण केवल भोग के लिए है, ऐसा विश्वास करता है।[2] अभक्ष्यभक्षण करता है। इसे 'पचामृतभक्षण' कहते है। नर, अश्व, उष्ट्र, मातग, श्वान की विष्टा तथा मूत्र का भक्षण ही पचामृत कहलाता है। इससे मार एव विनायक (गणेश) विघ्न नही डाल पाते।[3]

ऐसा प्रतीत होता है कि गुह्यसाधना मे अभक्ष्यभक्षण कुछ विशेष सम्प्रदायो मे ही होता था, परन्तु पचमकार सेवन सभी करते थे। 'पचामृत' जैसे घृणित पदाथ सेवन से साधक 'घृणा' पर विजय करते थे और पचमकार से 'वासना' पर। श्मशान सेवन एव व्याघ्रादि के मुडो पर बैठकर साधना भय विजय के लिए की जाती थी। इसके अतिरिक्त पचामृत भक्षणादि प्रतीकात्मकभी है जिनका तात्पय 'नाडीयोग' है, जो सभी तान्त्रिको मे स्वीकृत है।

(१) क्षिप्रसिद्धिकरा दिव्या हृद्या सवगुणोदया—
प्रज्ञोपायविनिश्चय सिद्धि।

(२) तत स्वच्छन्दमाभूय सर्वासङ्ग बहिमुख
विचरेत् तत्वयुक्तात्मा केसरीव समन्तत। वही
स्वप्नमायोपम सव स्क धधात्वादिलक्षणम्।
तथाष्टलोकधम च सव त्यक्त्वातिदूरत।
सम्भोगाथ मिद सव त्रैधातुम शेषत।
निर्मित वज्रनाथेन साधकाना हितीय च

(३) विघ्नमारादि शान्त्यथ पञ्चामृतमधिश्रयेत्।
एषा त्वनुत्तरा रक्षा, विण्मूत्रादि व्यवस्थिता—वही

आतरिक योग एव आतरिक ज्ञान की प्रधानता के कारण बाह्यअभिषेक, आचार आदि को तात्त्विक महत्त्व नही देते। अकस्मात् ज्ञान उत्पन्न होने की स्थिति मे बाह्याचार निरथक है। शैवो मे भी शाम्भव अवस्था मे कोई आचार विहित नही है।

बौद्ध दशन साख्य से प्रभावित था, यह एक स्वीकृत तथ्य है। ज्ञान होने के पश्चात् प्रकृति का कोई प्रभाव 'पुरुष' पर नही पडता, वह प्रत्येक अवस्था मे मुक्त रहता है, इसी प्रकार बौद्ध तत्रो का विश्वास है कि सवरूपो को देखते हुए, सव शब्दो को सुनते हुए, विभिन्न रसो का सेवन करते हुए साधक स्वस्थ और अकम्पित रहता है। मै ही हू, केवल यही एक भाव रहता है, चारो ओर अपने ही चित्त का प्रतिबिम्ब देखता है।[1]

सिद्धि का कारण स्वसवित्ति (चेतना) है, अत इस गुह्ययोग मे हठयोग स्वीकृत नही है। वह प्रथम सोपान के रूप मे स्वीकृत हो सकता है इसमे मे तो जो आनन्द जिस क्षण मे मिलता है, वही क्षण ध्येय है। अत शिव शक्ति के समायोग से चुम्बन आलिङ्गनादि जन्य आनन्द को ही ध्येय बनाया जाता है।[2]

मुद्रा आनन्द और क्षण—उपयुक्त आनन्द-क्षण-साधना को मुद्रा एव आनन्द के सिद्धान्ता के साथ समझना चाहिए। तत्रो मे चार मुद्राएँ मानी गई है। कममुद्रा, धम मुद्रा महामुद्रा और समयमुद्रा। कम मुद्रा मे 'आदि अभिषेक' की क्रियाएँ आती है, इसमे विधि निषेध का पालन करना पडता है। इसमे कम

(१) अहमेत्येष सङ्कल्पस्तस्मादेतद् द्वय त्यजेत्।
निर्विकारो, निरासङ्गो, निष्काक्षो, गतकल्मष
पश्यता सवरूपाणि, शृण्वता शब्दमेव च।
जल्पता हसता वापि, प्राश्नता विविधान् रसान्—प्रज्ञोपाय
विनिश्चयसिद्ध

(२) स्वसवित्तेभवेत् सिद्धि ।
एवकार नमस्कुर्मो य सत्त्वक्षणकारणम्।
आनन्द यत्र जायन्ते, भेदतो बोधिसिद्धये।
चित्त ततो विपाक स्यात्-तृतीये तु विलक्षणाम्
विमदश्च ततो ज्ञयो, हठयोग निराकृते—
अद्वयवज्रसग्रह

इसके पश्चात् गुरु यदि चाहे तो शिष्य से पूव 'मुद्रा साधना' करे अथवा शिष्य की आखे बाधकर गुरु उसकी भाया उसे सौप दे। अधरात्रि से सूर्योदय के दो घडी पूव तक इस गुह्यसाधना का समय है।

गुह्यसाधना के लिए ज्ञानशक्ति का जागरण आवश्यक है। वज्र एव घटा को धारण कर लेने के पश्चात् जगत को केवल मन की भ्रान्ति समझे, अत इन भ्रान्तियो से परे प्रभास्वर निमल चेतना को पहचानने का प्रयत्न करे, तब यह 'गुह्याभिषेक' सफल और क्षिप्तसिद्धिकर होता है।[1] प्रज्ञोपाय ज्ञानोन्मुख साधक केसरीवत् मुक्त भ्रमण करता है। लोकधम को छोड देता है, जगत को स्वप्नवत् होने के कारण केवल भोग के लिए है, ऐसा विश्वास करता है।[2] अभक्ष्यभक्षण करता है। इसे 'पचामृतभक्षण' कहते है। नर, अश्व, उष्ट्र, मातग, श्वान की विष्टा तथा मूत्र का भक्षण ही पचामृत कहलाता है। इससे मार एव विनायक (गणेश) विघ्न नही डाल पाते॥[3]

ऐसा प्रतीत होता है कि गुह्यसाधना मे अभक्ष्यभक्षण कुछ विशेष सम्प्रदायो मे ही होता था, परन्तु पचमकार सेवन सभी करते थे। 'पचामृत' जैसे घृणित पदाथ सेवन से साधक 'घृणा' पर विजय करते थे और पचमकार से 'वासना' पर। श्मशान-सेवन एव व्याघ्रादि के मुडो पर बैठकर साधना भय विजय के लिए की जाती थी। इसके अतिरिक्त पचामृत भक्षणादि प्रतीकात्मकभी है जिनका तात्पय 'नाडीयोग' है, जो सभी तान्त्रिको मे स्वीकृत है।

(१) क्षिप्तसिद्धिकरा दिव्या हृद्या सवगुणोदया—
प्रज्ञोपायविनिश्चय सिद्धि।

(२) तत स्वच्छन्दमाभूय सर्वासङ्ग बहिमुख
विचरेत् तत्वयुक्तात्मा केसरीव समन्तत। वही
स्वप्नमायोपम सव स्कन्धधात्वादिलक्षणम्।
तथाष्टलोकधम च सव त्यक्त्वातिदूरत।
सम्भोगाथ मिद सव त्रैधातुम शेषत।
निर्मित वज्रनाथेन साधकाना हितीय च

(३) विघ्नमारादि शान्त्यथ पचामृतमधिश्रयेत्।
एषा त्वनुत्तरा रक्षा, विण्मूत्रादि व्यवस्थिता—वही

आतरिक योग एव आतरिक ज्ञान की प्रधानता के कारण बाह्यअभिषेक आचार आदि को तात्त्विक महत्त्व नही देते। अकस्मात् ज्ञान उत्पन्न होने की स्थिति मे बाह्याचार निरथक है। शैवो मे भी शाम्भव अवस्था मे कोई आचार विहित नही है।

बौद्ध दशन साख्य से प्रभावित था, यह एक स्वीकृत तथ्य है। ज्ञान होने के पश्चात् प्रकृति का कोई प्रभाव 'पुरुष' पर नही पडता, वह प्रत्येक अवस्था मे मुक्त रहता है, इसी प्रकार बौद्ध तन्त्रो का विश्वास है कि सवरूपो को देखते हुए, सव शब्दो को सुनते हुए, विभिन्न रसो का सेवन करते हुए साधक स्वस्थ और अकम्पित रहता है। मै ही हू, केवल यही एक भाव रहता है, चारो ओर अपने ही चित्त का प्रतिबिम्ब देखता है।[1]

सिद्धि का कारण स्वसवित्ति (चेतना) है, अत इस गुह्ययोग मे हठयोग स्वीकृत नही है। वह प्रथम सोपान के रूप मे स्वीकृत हो सकता है, इसमे मे तो जो आनन्द जिस क्षण मे मिलता है, वही क्षण ध्येय है। अत शिव शक्ति के समायोग से चुम्बन आलिङ्गनादि जन्य आनन्द को ही ध्येय बनाया जाता है।[2]

मुद्रा आनन्द और क्षण—उपयुक्त आनन्द-क्षण साधना को मुद्रा एव आनन्द के सिद्धान्तो के साथ समझना चाहिए। तन्त्रो मे चार मुद्राएँ मानी गई है। कममुद्रा, धम मुद्रा महामुद्रा और समयमुद्रा। कम मुद्रा मे 'आदि अभिषेक' की क्रियाएँ आती है, इसमे विधि निषेध का पालन करना पडता है। इसमे कम

(१) अहमेत्येष सङ्कल्पस्तस्मादेतद् द्वय त्यजेत्।
निर्विकारो, निरासङ्गो, निष्काक्षो, गतकल्मष
पश्यता सवरूपाणि, शृण्वता शब्दमेव च।
जल्पता हसता वापि, प्राश्नता विविधान् रसान्—प्रज्ञापाय
विनिश्चयसिद्ध

(२) स्वसवित्तेभवेत् सिद्धि ।
एवकार नमस्कुर्मो य सत्त्वक्षणकारणम्।
आनन्द यत्र जायन्ते, भेदतो बोधिसिद्धये।
चित्त ततो विपाक स्यात्-तृतीये तु विलक्षणाम्
विमदश्च ततो ज्ञयो, हठयोग निराकृते—
अद्वयवज्रसग्रह

विपाक रहना है, वैचित्र्य और विचित्रता है। धम मुद्रा मे ज्ञान की प्रधानता होती है अत उसमे विलक्षणता और स्थिरता आती हे, महामुद्रावस्था मे जगत के सभी पदाथा की अप्रतिष्ठा हाती है और शुद्ध अद्वय ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। अत बिना महामुद्रा के कममुद्रा फल नही देती। अन्तमे समय या सहजमुद्रावस्था है। इसमे योग पूण हो जाता हे और योगी स्वरूपस्थिति को प्राप्त कर लेता है।

ये मुद्राए बाह्य शारीरिक चेष्टाए नही अपितु चित्त की आतरिक अवस्थाएँ है।[1] ये अवस्थाएँ चार प्रकार के आन्दो से सम्बन्धित है। चार प्रकार के ही क्षण है, जिनमे इन आनन्दो की उत्पत्ति होती है।

क्षण विचित्र, विपाक, विलक्षण, विमद्द
आनन्द आनन्द परमानन्द, सहजानन्द, विरमानन्द
मुद्रा कममुद्रा धममुद्रा महामुद्रा समयमुद्रा

'रति क्रिया' द्वारा ही इन मुद्रा, क्षण व आनन्द को समझा जा सकता है। मुद्रा का अथ बाह्य अथ मे साधना के योग्य 'स्त्री' (शक्ति) भी होना हे। रति क्रिया मे अतिम क्षण विमद्द (घषण) है। इससे वीयस्खलन होता है, इसी को 'विरमानन्द' कहा गया हे। क्योकि इसी अवस्था मे पूण शान्ति प्राप्त होती है। विकल्प का कारण मन है, मन के काय समाप्त हो जाने से यह अवस्था 'अमनस्कारावस्था' भी कही गई है। सवविकल्पआक्रान्त हो कर साधक को 'स्वस्थ' कर देते है।

(१) कममुद्रा—कम्म या काय् वाक् चित्तचिन्ता तत्प्रधाना मुद्रा कल्पना स्वरूपा तस्या कम्ममुद्राया आनन्दा जायन्ते।—अद्वयवज्रसग्रह
धममुद्रा—निष्प्रपञ्चा, निर्विकल्पा, अकृत्रिमा, उत्पादरहिता, करुणा स्वभावा, परमानन्दैक सुन्दरोपायभूता। किसी किसी विचारक ने इसे "निस्तरग शून्यता करुणाभिन्न" भी कहा है।—वही
महामुद्रा—इसमे ज्ञेय ज्ञाता आदि आवरण नष्ट हो जाते है। यह निर्वाण स्वरूपिणी है।

अविकल्पित सङ्कल्प अप्रतिष्ठित मानस।
अस्मृत्य मनसिकार, निरालम्ब नमोऽस्तु ते।—वही

नारोपा की सेकोद्देश टीका मे उपर्युक्त आनन्दो के १६ भेद किय है और चार चार आनन्दो की एक कोटि तैयार की है।[1] सेकोद्देश टीका म वर्णित आनन्दक्रम मे भी अतर है—उदाहरणत आनन्द, परमानन्द, विरमानन्द और सहजानन्द यह क्रम दिया गया हे। नारोपा ने स्पष्ट रूप से कहा हे 'रति क्रिया मे प्राप्त उपयुक्त आनन्द वस्तुत आध्यात्मिक आनन्दो के ही रूप है, अतएव रतिक्रिया द्वारा ही आध्यात्मिक आनन्दो की अनुभूति को ओर बढा जा सकता हे। किसी स्त्री की देखकर पुरुष को आनन्द होना हे, यह प्रथम अवस्था हे, सहवास होने पर चुम्बन आलिगनादि से उत्पन्न आनन्द 'परमानन्द' है, यह द्वितीय अवस्था है, घषण से उत्पन्न आनन्द 'विरमानन्द' है और वीर्य-क्षरण से उत्पन्न आनन्द 'सहजानन्द' है।[2] रतिक्रिया के इन आनन्द क्षणो को स्थायी बनाना ही।

(१) समयमुद्रा—सम्यकसम्बोधि की प्राप्ति अवस्था यही है। इस अवस्था मे मत्र, जप, तप, होम, मडल, आदि की आवश्यकता नही रहती।
न मत्रजापो न तपो, न होमो, न माण्डनेय न च मण्डल च
स मत्रजाप स तप स होम, तन्माण्डलेय तन्मण्डल च
—वही

(२) कामानन्द करोति प्रथम नृणा चक्षुरालोकनेन।
पश्चात्पूर्णाप्रसङ्गे पुनरपि परमानन्दमेव स्वकीय।
ज्वालाबिन्दु स्रवन्ती, रमती च बिरमानन्दवज्रेण पद्मे।
ओण्ट्रा बिन्दुत्रयान्ते क्षरगत सहजानन्दवज्र करोति—सेकोद्देश टीका—पृष्ठ २६

'हेवज्रतत्र' मे कहा गया है कि 'सहजानन्द' के लिए बोधिचित् (वीर्य) के प्रवाह को रोकना आवश्यक है। बोधिचित् जब तक स्खलित नही होगा तब तक आनन्द प्राप्त होता रहेगा यद्यपि स्थूल और बाह्य रति मे स्खलन मे भी आनन्द मिलता है, परन्तु वह स्थूल और क्षणिक आनन्द है अतएव गुह्याभिषेक मे गुरु साधक को वीर्य-स्खलन को रोक कर अधिक समय तक सम्भोग का आनन्द लने की शिक्षा देता है, और इस क्रिया के समय वह बोधिचित् के प्रवाह को रोकना भी सिखाता हे, इस प्रकार बाह्य एव आतरिक स्खलन से बचने की एक साथ शिक्षा देना ही इस गुह्याभिषेक तथा प्रज्ञाभिषेक की विशेषता है। स्खलन मे वैराग्य, वैराग्य से दुख, दुख से प्राण शक्ति का नाश और प्राण शक्ति के ह्रास से मृत्यु होती है।

सहजसाधना है, यह काय चित्तको वश मे करके ही हो सकना हे, दुबल चित्त साधको का अव पतन होना है। जगत का भोग तथा जगत पर विजय क्षोभ रहित होकर ही हो सकती है, अत ज्ञानी भोग द्वारा भी मुक्ति प्राप्त करता है और दुबलचित्त सन्यास लेने पर भी बन्धन मे पडता है। इसीलिए यह सहजमाग क्षुरी की धार पर चलने के समान है। इसमे काया और मन को दु ख देने का अवकाश नही है। सवसुखो से समायुक्त होकर भी सिद्धि प्राप्त हो सकती है।[२] परन्तु यह सिद्धि ज्ञानवान के लिए सरल है, मूर्खों के लिए कठिन।

आनन्द, क्षण एव मुद्रा की उपयुक्त सभी अवस्थाएँ नाडी योग पर भी आधारित की गई है। इसका अथ यह नही हे कि 'सहजावस्था' मे हठयोग आवश्यक है। बोधि प्राप्त हो जाने पर हठयोग व्यथ हो जाता है, परन्तु मदबुद्धि के साधको के लिए भोग एव योग साथ-साथ करना पडता है, अथवा हठयोग करने के पश्चात् पुन भोग द्वारा शिक्षा दी जाती है, अधिकारी भेद बौद्ध भी मानते है। अतएव नारोपा के अनुसार उपभुक्त चारो आनन्दो का अथ नाडी-योग के अनुसार इस प्रकार होगा—

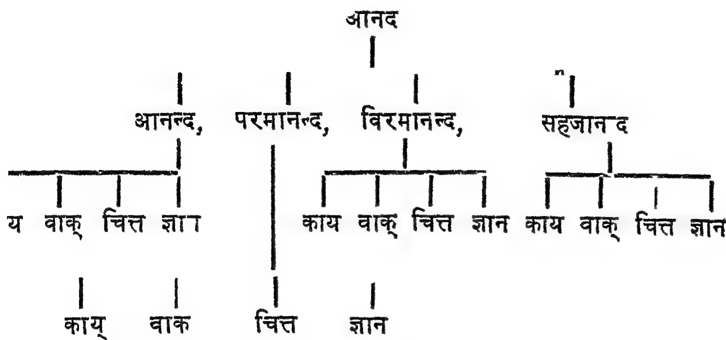
कामनाओ से विलगकर चित्त को स्व मे प्रतिष्ठित करना तथा प्राण तथा अपान के बीच मध्यम माग का ध्यान करने से ललाट मे बोधिचित प्रज्ञापूण होने पर और उपायआलिंगन से परमानन्द प्राप्त होता है। तत्पश्चात् इस आलिंगन से

> There is no greater sin than discharge and no greater merit than bliss (arising from the motionless Bodhichit)
> Discharge is the progenitor of detachment and from ditachment (विराग) arises Sorrow and from Sorrow is the loss of Vital element and from the loss of Vital element Comes death
> An introduction to Tantric Buddhism—S B Das Gupta

इस तथ्य से स्पष्ट है कि गुह्य साधना मे साधक अधिक से अधिक समय तक अस्खलित अवस्था मे युगनद्ध रहकर, आतरिक चित्तवृत्ति को क्षोभ रहित रखने का प्रयत्न करते थे। इसमे सफलता प्राप्ति के लिए ज्ञान एव हठयोग दोनो की आवश्यकता हे।

(२) कायिक मानस दु ख नावकाश प्रदापयेत्।
सवसौख्यसमायुक्त सिध्यते नात्रसशय —ज्ञानसिद्धि —इन्द्रभूति

ग्त होकर चन्द्रनाडी स्रवित होती है, यही विरमानन्द है। तत्पश्चात् काय ए, चित्त और बिन्दु के अवसारन के समय—ज्ञाता ज्ञेय भेद नष्ट होने पर ्जानन्द प्राप्त होता है। कबीर आदि इसी को 'रामनाम का रस' कहते है। मुक्त आनन्दो मे प्रत्येक चार प्रकार का है।



इसी प्रकार ये आनन्द, चार काया, चार योग, चार अवस्थाएँ (जागृत, स्वप्न सुषुप्ति, तुरीय) चार मुक्तियो आदि से भी सम्बद्ध है।

इन सोलह आनन्दो को सृजन का आनन्द कहा गया है। मैथुन जन्य आनन्द । इनकी प्रतीति होती है।[1] इनमे 'सहजानन्द' प्रथम और अंतिम है। अभि यक्ति के पूर्व यह विषय एव विषयी के रूप मे विभक्त हो जाता है। यही सारे गुणो का कोष है। यह स्वत अभिव्यक्त होकर अपना आनन्द लेता है। शैवो का परमशिव तत्व' यही है।

दूसरी दृष्टि से 'सहजानन्द' योग साधना का प्रथम सोपान है। अभिषेक के समय शिष्य को प्रज्ञा (स्त्री) के पास गुरु ले जाता है और शिष्य मैथुन मे रत होता है। 'सहजानन्द' बिन्दु के रूप मे मस्तक मे स्थित रहता है, वह द्रवित होकर निम्नगामी बनकर वज्रमणि (लिङ्ग) तक आ जाता है। योगी इसी क्षरण काल मे बिन्दु (वीर्य) की पुन उष्णीश (मस्तक) तक पहुचाता है।

(1) Sixteen Anandas, which are creative joys appearing as pleasures of intercourse in common individuals —

द्रष्टव्य—सेकोद्देशटीका की भूमिका

हिन्दुआ के नारोपा द्वारा वर्णित यह योग 'ऊर्ध्व रेतस् योग' कहलाता है। यह अत्यधिक रहस्यमय है।

'बिन्दु' ध्यान से ऊपर चढता है। कलश-गुह्य एव प्रज्ञा अभिषेक के बाद इस योग को 'अनुत्तर अभिषेक' कहा जाता है। ध्यान द्वारा 'बिन्दु' को ऊपर चढाया जाता है। यही षडङ्ग योग का वणन मिलता है। इसे 'पतजलि योग' भी कह सकते है। यद्यपि बौद्धो ने इसे विशेष रूप प्रदान किया है।

षडङ्ग योग (हठयोग)

प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति तथा समाधि षडङ्ग योग के ये छह अग है। निरभ्र गगन मे भावना करना ही प्रत्याहार है।

प्रत्याहार भगवान का वचन है कि प्रत्याहार मे विकल्पभावना नही रहती[1]। वस्तु जगत से साधक प्रत्याहार द्वारा निवृ त्त हो जाता है।

ध्यान वितक, विचार, प्रीति, सुख एव एकाग्रता का अभ्यास ध्यान द्वारा होता है। वितक का यहा विशेष अथ है, चित्त मे किसी सामान्य आदश आभार का अवतरण वितक है। वस्तु विशेष पर इस प्रकार विचार करना मानो वह पूर्ण प्रकाशमय हो, यह विचार है। प्रीति चित्त की प्रसन्न अवस्था है। विचार जन्य आनन्द का अनुभव ही सुख है। शून्यता पर ध्यान केन्द्रित करना एकाग्रता है।

प्राणायाम मे अमृत कुण्डलीबिम्ब नाम से सध्याभाषा द्वारा 'वायु' का वणन किया गया है। यह पाच प्रकार की है। पाच प्रकार की है। पाच स्कन्धो पचभूतो तथा पाच ध्यानी बुद्धो से क्रमश इनका सम्बध है।[2]

I ललना (इडा, वाम नाडी)	अमिताभ	(जलतत्व)
II रसना (पिंगला, दक्षिण नाडी)	रत्नसम्भव	(अग्नि तत्व
III मलत्याग कारिणी नाडी	वैरोचन	(पृथ्वी तत्व

(१) अतो विकल्पभावना नोपलभ्यते प्रत्याहारभावनायामिति भगवत वाक्यम् रूपादि विषय ग्रहण का त्याग ही प्रत्याहार है—
सेकोद्दशटीका—पृष्ठ ४१ ४३

(2) An Introduction to Tantric Buddhism — S B Das Gupta

IV मूत्रत्यागकारिणी नाडी	अमोघसिद्धि	(वायुतत्व)
V मध्यनाडी (अवधूती या सुषुम्णा)	अक्षोभ	(शून्यतत्व)
VI वीर्य नाडी (ज्ञानवाहिनी)	वज्रसत्व	

रेचक, पूरक, कुम्भक आदि योग से चन्द्र (ललना) सूर्य (रसना) नाडियो की शुद्धि के बाद इन्हे छोडकर मध्यमाग (अवधूती) का अवलम्बन करने से प्राणयोग सिद्ध होता है। इस नाडी योग मे चार चक्रो को पार करना पडता हे। नाभिस्थान मे निर्माण चक्र है, हृदय स्थान मे सम्भोग चक्र, कठ मे धर्म और शीश मे उष्णीश चक्र है। इस प्रकार बौद्ध तत्र षटचक्रो मे चार चक्र ही मानते है। सेकोद्देश टीका मे ललाट एव उष्णीश मे अलग अलग चक्र माने गए है। उष्णीश ही बिन्दु स्थान है। यही मध्यमाग द्वारा प्राण को चढाकर रोका जाता ह। इसी को 'धारणा' कहते है। प्रत्याहार एव प्राणायाम दोनो मे ध्यान सम्मिलित हे। ध्यान से ही 'धारणा' प्राप्त होती है। 'जप' भी साथ-साथ चलता है, इसी को 'वज्रजप' कहा है। 'वज्रजप' की अवस्था मे प्राण वायु का ललना एव रसना मे सचरण निषिद्ध है। प्राणायाम धारणा का उपसाधन है। धारणा के बल से नाभिस्थल मे ज्वलित 'चण्डाली' (शक्ति देवी) को देखता हुआ योगी बार-बार इस महामुद्रा का 'अनुस्मरण' करता है।[1] यही अनुस्मृति हे अर्थात् धारणा के अन्त मे चण्डाली की भावना की जाती हे। इस अवस्था मे ज्ञान की अग्नि से स्कन्ध, धातु, आयतन आदि दग्ध हो जाते है। चण्डाली की ज्ञान शिखा से ललाट मे चन्द्रस्थान मे स्थित बोधिचित बिन्दुरूप मे द्रवित होकर कण्ठ, हृदय, नाभि और गुह्यकमल (लिंग) तक आ जाता हे। इसी बिन्दुपात अनुभूति कराने के लिए मैथुनान्त मे वीर्य क्षरण का दृष्टान्त दिया गया है। मैथुन जन्य आनन्द से यह योगजन्य 'बिन्दुपात' का आनन्द करोडो गुना अधिक होता है।

जिस प्रकार तत्वज्ञानी मैथुन रत होकर वीर्य को इच्छानुसार रोक सकता है, उसी प्रकार प्राण योग द्वारा 'बिन्दु' को पुन उष्णीश तक पहुचा कर योगी 'अक्षर' हो जाता है। मैथुन सुख से योगज सहजानन्द महत्तर है। योगज आनन्द

(१) प्रारम्भिक अनुभूत सोपानो का स्मरण भी अनुस्मृति कहलाता है।

भी 'सहजानन्द' कहलाता है, क्योकि इन्द्रियो का आनन्द तो इसी का एक रू मात्र है।[1]

शून्यता का नाम ही समाधि है। ग्राह्य-ग्राहक भाव विरहित, सभी आवरण स अतीन अवस्था ही शून्यतावस्था है। चित्त की एकता के कारण यह अक्षयसुखा वस्था है। अक्षरसुख का नाम ही समाधि है।[2]

इस हठयोग मे प्रत्याहार आदि से नाद के अभ्यास से प्राण को मध्यमाग प्रवाहित कर उष्णीश मे बोधिचित्त बिन्दु को निरुद्ध कर अक्षर क्षण की साध की जाती है।

हिन्दूतत्रो मे कुडलिनी शक्ति मूलाधार चक्र मे स्थित मानी गई है, पर यहा शक्ति नाभि मे स्थित मानी जाती है, प्राणायाम द्वारा यही से यह दण्डरूप ऊपर उठती है। मध्यनाडी मे होकर यह शक्ति चक्रो को पार करती हुई है, मृ ललित गति से ऊर्ध्व गमन करती हुई उष्णीश तक जाती है।

खसमावस्था उष्णीश को भेदकर 'खेचरत्व' प्राप्त होना है, गगनव चेतना निश्चल होकर स्वरूप मे स्थित हो जाती है, द्वन्द्व मिट जाते है। कल्म बादलो के समान नष्ट हो जाते है, निरभ्र आकाशवत 'चेतना' अक्षय शाति व प्राप्त होती है। वाह्य विश्व इस अवस्था मे स्वप्नवत प्रतीत होता है, भूत, वतमा भविष्य का ज्ञान अकस्मात् होना है। स्वर्गादि लोक स्पष्ट दीखते है। सकल्पमात्र सृष्टि करने की शक्ति उत्पन्न होनी है। 'महासुख' प्राप्त होता है। इसी ज्ञान व 'ताथागत' ज्ञान कहा गया है। अप्रकम्प्यस्वभावी होने से यही ज्ञान, अक्षोभ्य, ज्ञा सत्वार्थ होने से, रत्न सम्भव, अलिप्त एव अमरय गुण सयोगी होने से अमिताभ, बन्ध

(१) ततश्चण्डाल्या ज्ञानार्चिषा चन्दे द्रुते सति यद्बोधिचित्त बिन्दुरूपेणाधोग कण्ठे हृदि नाभौ गुह्यकमल आनन्दपरमविरमस्वभावेन। ततो वज्र मणि यावत्सहजानन्द स्वभावेनेति। अथवा विचित्र विपाक विम विलक्षण स्वभावेनेत्येव षोडशकलापूर्ण मण्यन्तगत यदा सुख ददा भावनाबलेन सहशमिति दृष्टान्तमात्र स्वरूपतो द्वीन्द्रियज कोटीसहस्रतमीमपि कला नार्हति परमाक्षर सुखस्येति। (सेकोद्देशटीक पृष्ठ ४२)

(२) इह ग्राह्यग्राहक चित्तयोरेकत्वेन यदक्षर सुख भवति तत्सुख समाधि रुच्यते—वही, पृष्ठ ४५

रहित होने से अमोघ सिद्धि कहलाता है। इसी प्रकार सवक्षेत्रस्थ होने से 'लोचना' व्यापक होने से 'मामकी', सवतारणदक्ष होने 'तारा' सम्यक होने से 'प्रज्ञान्तक', नानोपायविचित्र होने से 'श्यामवण', सभी सृष्टि का कारण होने से षडभुज, तथा सवबुद्धमय होने से इसी ज्ञान को विघ्रातक कहते है।[1] इस अवस्था मे न उच्छेद वाद, है न शाश्वतवाद, आदि, मध्य, एव अन्त से वर्जित यह सर्वातीत अवस्था है।[2]

चक्र सिद्धान्त नाडी योगमे चक्रो पर अलग से प्रकाश डालने की आवश्यकता है। सारा ब्रह्माण्ड इस पिण्ड मे लघु रूप मे अवस्थित है, अत नाडियो के अतिरिक्त पवत, नदियो, वृक्ष आदि सभी बाह्य प्रकृति शरीर के भीतर विद्यमान है। बौद्ध योग मे चार चक्र है, इनमे प्रत्येक का सम्बध एक एक काया से है।[3]

नाभि—निर्माण काया	हृदय—धम काया
कठ—सम्भोग काया	उष्णीष—सहज काया

डा० शशि भूषण दास गुप्त ने लिखा है कि न जाने क्यो काया का क्रम यहा अव्यवस्थित है। निर्माण के पश्चात् सम्भोग काया और उसके बाद धर्म काया होनी चाहिए थी। वस्तुत जैसा कि नारोपा ने 'सेकोद्देश टीका' मे कहा है कि निर्माण काया आदि काया भी है और अतिम भी, अत क्रम वस्तुत समझाने के लिए है, क्रम का साधना मे पारमार्थिक महत्व नही है। 'सेकोद्देश टीका' मे निर्माण सम्भोग, धर्म एव सहज यही क्रम स्वीकार किया गया है।

उष्णीश चक्र मे ४ दल है, यही बोधि मडल हे। इसके बाहर एक ३२ दल का कमल है। 'ह' वण यहा स्थित है। इस कमल मे १६ चन्द्रकलाएँ स्थित है। इस कमल के दोनो ओर ललना एव रसना नाडिया है जो स्वर तथा व्यजनो की प्रतिनिधि है इनके बीच मे परमेश्वरी या अवधूतिका है।

कठ के पास सम्भोग चक्र है। इसका वण श्वेत, 'ह' बीज मत्र है। इसके ऊपर ही अमृत प्रवाहित होता है। सम्भोग चक्र के कमल मे १६ दल है।

हृदय के पास धम चक्र हे, इसमे ८ दल का कमल है। यह दुहरा है, इसका एक भाग ऊपर को तथा एक नीचे को खुलता है। 'ह' बीज हैं।

---

(१) ज्ञान सिद्धि—इन्द्रभूति

(२) खसम असम शान्तमादिमध्यान्त वर्जितम्—अद्वयवज्र

(3) An introduction to Tantric Buddhism, Dr S B Das Gupta

नाभि चक्र ६४ दल के कमल से युक्त हे। 'अ' बीज है। यह मोती के समान प्रभावान है। इसके जरा नीचे के भाग मे ७२ हजार नाडियो का केन्द्र है।[1]

चक्रो, अधिष्ठात्री देवियो, कायाओ, आनन्दो, सिद्धान्तो, आर्यसत्यो, मुद्राओ, महाभूतो, गुणो, क्षणो, अगो का परस्पर सम्बध इस प्रकार देखा जा सकता है।[2]

चक्र	नाभि चक्र	हृदय चक्र	कठ चक्र	उष्णीष चक्र
देवी	लोचना	मामकी	प।ण्ड्रा	तारा
गुण	करुणा	मेम	मुदिना	उपेक्षा
भूत	पृथ्वी	जल	अग्नि	वायु
वण	इ	वम्	म	य
मुद्रा	कममुद्रा	धममुद्रा	महामुद्रा	समय मुद्रा
काया	निर्माण	धम	सम्भोग	सहज
क्षण	विचित्र	विपाक	विमर्द	विलक्षण
अग	सेवा	उपसेवा	साधना	महासाधना
सत्य	दु ख	दु ख का कारण	दु ख का विनाश	दु खनाशका उपाय
आनन्द	आनन्द	परमानन्द	विरमानन्द	सहजानन्द
निकाय	स्थविरवाद	सर्वास्तिवाद	सवित्वाद	महासाघिक
प्रहर	प्रथम	द्वितीय	तृतीय	चतुथ

इसी प्रकार १६ (४×४) सक्रान्तिया है। ६४ दण्ड है (४×४×४) ३२ नाडिया है (४×४×२)।

(१) हेरुकतत्र के आधार पर वर्णित—An Introduction to Tantric Buddhism

(2) An Introduction to Tantric Buddhism—S B Das Gupta

उपयुक्त विवरण से स्पष्ट है कि वजयान मे सभी बौद्ध सम्प्रदायो एव सिद्धान्तो का समन्वय प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। इसीलिए तत्र को धम का सार कहा गया है। शैवधम मे काश्मीर सम्प्रदाय जिस प्रकार प्रत्यक काय त्रिक सिद्धान्तानुसार तीन तत्वो से निकालता है उसी प्रकार वज्रयान चार तत्वो द्वारा साधना-पद्धति को समझाता है।

'हेवज्रतत्र' मे चक्रो के स्थानो मे कुछ अतर दिखाया गया है। निर्माणचक्र योनि या लिङ्ग के निकट, धमकाया हृदय एव सम्भोग काया चक्र कठ के पास बतलाया गया है।[1]

वज्रजप प्राणवायु के शासन के द्वारा, वायु को मध्यममाग मे प्रविष्ट कर चक्रो का भेदन किया जाता है और उष्णीश चक्र मे वायु पहुचाकर योगी 'खसमावस्था' को प्राप्त होता है। प्राणवायु के इस शासन को ही 'वज्रजप' कहा गया है, शब्दो का उच्चारण वास्तविक जप नही है। ओ३म् के तीन भाग पूरक, कुम्भक एव रेचक है। प्राणवायु के अनुशासन की क्रिया साथ साथ जो जप किया जाता है। वही फल देता है।

प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, अनुस्मृति एव समाधि द्वारा यह षडङ्ग योग पूण होता है। मुद्रा, बन्ध तथा आसन भी इसी मे सम्मिलित है। आसनो मे वज्रोली, सहजोली तथा अमरोली आदि है। मुद्राओ मे खेचरी, महामुद्रा आश्विनमुद्रा आदि है। बन्धो मे मूलबन्ध, महाबन्ध, जालधर बध आदि है, नाडियो व मासपेशियो का आकुचन, विकोचन ही बध है। खडङ्गयोग मे कुशल हो जानेपर वीय का स्खलन नही होता और बोधिचित के निम्न प्रवाह को योगी इच्छानुसार उलट कर ऊपर चढा सकता है, यही अध्व रेतस योग है।

बौद्ध तत्रानुसार भुक्ति एव मुक्ति दोनो एक साथ प्राप्त होनी है। योग द्वारा शक्ति जाग्रत हो जाने पर योगी नाना चमत्कार कर सकता है।

सिद्धि-प्राप्ति प्रज्ञोपाय द्वारा सम्बुद्धि प्राप्ति के अतिरिक्त चमत्कारक सिद्धियो की प्राप्ति भी बौद्ध-योग से होती है। वस्तुत इन लौकिक सिद्धियो के कारण बौद्ध योगी 'सिद्ध' कहलाये। तान्त्रिको मे भुक्ति एव मुक्ति को एक साथ प्राप्त करने के

(1) An Introduction to Tantric Buddhism Dr S B Das Gupta

प्रयत्न के कारण इन सिद्धियो की प्राप्ति भी चल पडी। 'सिद्ध' उसे कहा जाने लगा जो क्रिया के बिना सकल्पमात्र से प्रत्येक इच्छा पूर्ण कर दे। अत बौद्ध 'तन्त्रो' मे 'सिद्ध' देवताओ के साथ रह सकते है, अमर हो सकते है। शकर की पत्नी पार्वती को शिव से छीनकर उस पर बलात्कार कर सकते है। नारायण का अतिक्रमण कर लक्ष्मी का भोग कर सकते है।[1]

अष्ट सिद्धियो के अतिरिक्त बौद्धो ने जन्मजा, औषधिज, मन्त्रज, तपज तथा समाधिज इन सिद्धियो का आविष्कार किया। इन सिद्धियो के द्वारा बौद्ध निम्न जनता को अधिक आकर्षित कर सके। रोग, सर्प विष, बिना पढे ही शास्त्र ज्ञान बोधि प्राप्ति, अष्ट महासिद्धियाँ अणिमा, महिमा आदि, सर्वज्ञता प्राप्ति हिन्दू देवताओ से सेवा कराने की इच्छा, रक्षा, वाद विवाद मे शत्रु को हराने की इच्छा, शत्रुनाश, गौरव वृद्धि के लिए चमत्कार की इच्छा, मृत्यु के बाद अप्सरा प्राप्ति की इच्छा, खड्ग, अजन, पदलेप, अन्तधान, रसायन, खेचर (आकाशगमन भूचर (क्षण भर मे कही भी जा सकना), पाताल प्रवेश, शान्ति (रोग नाश) वशीकरण, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन, मारण, आदि सभी चमत्कारो का प्रदर्शन बौद्ध सिद्ध करते थे।

इन चमत्कारो की प्राप्ति 'देव उपासना' द्वारा होती थी। काल, नक्षत्र, देव तथा मन्त्र द्वारा सब कुछ प्राप्त हो सकता है, यह विश्वास आज तक चला आ रहा है। इस कार्य के लिए छह प्रकार के मन्त्रो का प्रयोग होता था—ग्रथन मन्त्र, विदर्भ, सम्पुट, रोधन, योग और पल्लव।

ग्रथन मन्त्र रक्षात्मक मन्त्रो मे साध्य के नाम के प्रत्येक अक्षर पर मन्त्र का जाप किया जाता है।

विदर्भ-मन्त्र इसमे मन्त्र के अक्षरो के बीच वशीकरण के लिए किसी का नाम डाल देते है।

सम्पुट इसमे 'व्यक्ति' जिस पर प्रयोग होना है, का नाम आदि एव अन्त मे रखा जाता है।

---

(१) परमेश समाक्रम्य, प्रसह्य बलवानथ ।
उमादेवी समाकृष्य, चोपभोगैर्भुनक्त्यसौ ।
नारायण समाक्रम्य, प्रसह्य बलवानथ ।
रूपिणी तु समाकृष्य, उपभोगैर्भुनक्त्यसौ—ज्ञानसिद्धि

रोधन इसमे 'व्यक्ति' का नाम आदि, मध्य एव अत मे होता है।

योग 'उच्चाटन' के लिए इसमे 'व्यक्ति' का नाम अत मे रखते हैं।

पल्लव इसमे मत्र 'व्यक्ति' के नाम के अन्त मे बोला जाता है। इसका प्रयोग 'मारण' मे होता है।[1]

सिद्धि काय मे जिस प्रकार की इच्छा हो उसी प्रकार का देवता चुन लेना चाहिए और उसी प्रकार की मानसिक स्थिति बना लेनी चाहिए यथा क्रोध मे क्रोधी देवता तथा क्रोधमय मानसिक स्थिति से ही शत्रु-नाश हो सकता है, क्योकि फल अपनी साधक की 'भावना' देती है न कि बाहर भी कोई अन्य शक्ति, बाहर किसी को कोई सत्ता सिद्ध नही होती।[2]

कथन-पद्धति

तत्रमाग रहस्यमाग है। रहस्यतत्त्व को प्रतीको द्वारा ही व्यजित किया जा सकता है। क्योकि सत्य भाव एव अभाव से परे है अत भाषा द्वारा उसका वणन सम्भव नही है। भाषा या तो भावात्मक हो सकती है या अभावात्मक। इसीलिए तत्र प्रतीको का उपयोग करते है। 'शुक्र' को 'वैरोचन', 'मूत्र' को 'वज्रोदक', स्त्रीन्द्रिय को 'पद्म', लिङ्ग को वज्र आदि प्रतीको द्वारा वर्णित किया जाता है।[3]

साधक सामान्य जनो द्वारा गुह्यसाधना का दुरुपयोग से बचाने के लिए 'सध्या-भाषा' का प्रयोग करते थे। गुह्यमडलियो मे इस प्रकार की कथन-पद्धति प्रागैतिहासिक काल से चली आ रही है। एक उदाहरण लीजिए—

सप्तमस्य द्वितीयस्थमष्टमस्य चतुथकम्।
प्रथमस्य चतुर्थेन, भूषित तत् सबिन्दुकम्।

सप्तम् वग (अन्तस्थ) का द्वितीय वण है 'र'। अष्टम का चतुथ वण है 'ह' (ऊष्म), प्रथम का चतुर्थ वण है (स्वर) 'ई'। बिन्दु का अर्थ है 'म', अत सरस्वती का बीजमत्र हुआ 'ह्रीं'।[4]

(१) द्रष्टव्य—साधनमाला—भूमिका भाग
(२) द्रष्टव्य—साधनमाला—३६४ पृष्ठ
(३) स्वभावाद् देवनाकाय तस्माद् वक्त्र न शक्यते—ज्ञानसिद्धि-इन्द्रभूति
(४) साधनमाला—भूमिका भाग

सिद्ध योग प्रक्रिया को इसी सध्याभाषा मे कहते थे । भासुकपाद ने 'प्राणवायु' को चुहिया कहा है । इसी को मारने से 'ज्ञान' की रक्षा होती है । कन्हुपाद ने लिखा है कि मैने सास को मार डाला है, माता को मार कर मै कपाली हो गया हू । यहा सास प्राणवायु है, माता माया है ।

अन्यत्र कहा है कि सास के सो जाने पर बधू जागृत होती है । सास प्राणवायु है और वधू अवधूनिका है ।[3]

लामावाद मे अविद्या को 'अधी ऊँटिनी' कहा गया है । चेतनरहित इच्छा को 'योनि' (Sex), पाप को काला घोघा, पुण्य को श्वेत 'घोघा' विज्ञान को बन्दर, नामरूप को 'नाडी देखते हुए वैद्य, षडायतन को 'मुखावरण' स्पश को 'चुम्बन', वेदना को 'बाण', तृष्ण को 'सुरा', उपादान को 'फलो का सग्रह' भाव को 'विवाहित स्त्री', जाति को 'शिशुसहित स्त्री' कहा गया है । जरामरण को 'शव' कहा गया है ।[४]

श्री 'वैडेल' का मत है कि धम के लिए प्रतीकवाद अनिवाय नही है, क्योकि इस्लाम मे चित्र एव मूर्ति के बिना भी काय चल जाता है, अत प्रतीक कल्पना के पीछे धार्मिको की कला प्रियता है । जो भी हो, यह मानना पडता है कि बौद्ध प्रतीक प्रियता ने न केवल रहस्यवादी सिद्ध सत साहित्य को जन्म दिया है, अपितु स्थापत्य एव मूर्ति निर्माणकला को अत्यधिक प्रभावित किया हे ।

तिब्बतीमत के कुछ प्रतीक इस प्रकार है—

कमल—पवित्रता का प्रतीक रत्न—सघ, बुद्ध, धम
स्वस्तिक—जगत प्रवाह चक्र—धम की पूणता
स्त्रीरत्न—स्त्री की सेवा-भावना श्वेत हाथी—सावभौमिक शक्ति
अश्व—सूयरथ का अश्व

प्रसाद, राजसीवेशभूषा,
पदत्राण, हाथी की सूँड
राजा के कणफूल,
राजा के रत्न
} वैभवपूण जीवन एव सुरक्षा

(3) An Introduction to Tantric Buddhism S B Das Gupta
(4) Lamaism—Waddell II Edition 1934

तलवार—विजय	दपण—मगल
गजमुक्ता—मगल	दधि—मगल
द्रर्वा—मगल	बिल्वदल—मगल
शख—मगल	गरुड—ब्राह्मण्ड
सखाएँ—३ काम, रूप, अरूप, तीन गुण	४ समुद्र
५ स्कन्ध	७ सप्तर्षि
८ सप	६ कुबेर के कोष
१० दिशा	

वज्रयान सहजयान का महत्व उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि बौद्धतत्र माग अत्यधिक रहस्यमय और गम्भीर है। मनुष्य के मन मे अनन्त शक्तिया विद्यमान है, मन एव प्राणवायु के शासन से सब कुछ प्राप्त हो सकना है, तत्रो का यही सदेश है।

इसके अतिरिक्त बौद्ध तत्र भोग एव योग की एक साथ शिक्षा देते हैं, शैव-शाक्तो मे भी यही क्रम है। देवनाओ की भक्ति तथा पूजा भी तत्र। से ही विकसित हुई है, यह भी इस अध्ययन से स्पष्ट है। परन्तु तत्रो मे सभोग द्वारा मुक्ति प्राप्त करने की पद्धति विचित्र है। बाह्यनैतिकता की चिन्ता न करके साहसी सिद्धो ने इसका अभ्यास किया था। भोग को उपाय के रूप मे स्वीकार कर बौद्धतत्रो ने यद्यपि बौद्धधम के पतन के लिए माग खोल दिया था, परन्तु सहज जीवन को भी तान्त्रिको ने ही पुनप्रतिष्ठित किया सन्यासियो के विरुद्ध इन राग मार्गियो ने 'राग' को ही मुक्तिका साधन घोषित किया। सभोग द्वारा विश्व की रचना का पता लगाने का काय अद्भुत है। केवल चित्र को ही स्वीकार कर तान्त्रिको ने बाह्य जगत की सत्ता का निषेध कर दिया, अत सिद्ध घोर आदशवादी है। परन्तु साथ ही जीवन एव जगत के आनन्दो को वे 'उपाय' के रूप मे स्वीकार करते हैं। मन किस प्रकार स्थिर हो इसके लिए मन को आकषक लगने वाली वस्तुओ को ही उपाय के रूप मे सिद्धो ने स्वीकार किया। जिससे बधन है, उसी से मुक्ति होनी चाहिए क्योकि विष से विष का नाश होता है, यह उनका तक है। मैल से ही मेल छूटता है, जो लोहा समुद्र मे डूब जाता है, उसी से नावबनाकर पार हो जाते है, अन ज्ञान द्वार भोग मुक्तिदायी है, यह तत्रो की उपलब्धि है। तत्र कहते हैं कि क्रिया या वस्तु न अपने मे। हानिकर है न गुणकारक, उसका वैज्ञानिक प्रयोग

गुणकारक होता है और गलत प्रयोग नाशक होता है। आवला खट्टा है, परन्तु दूध म मिला देने पर मीठा हो जाता है रूप एव द्रव्यो की अपनी स्वतत्र सत्ता नही है अत वे न नाशकर है न लाभकर, हमारा कल्याण उनके विशिष्ट प्रयोग पर निभर ह। अत वासना मनुष्य को ऊपर भी उठा सकती है, यदि प्रज्ञा एव उपाय से वह सयुक्त हो जाय। पारमार्थिक दृष्टिकोण से रूप, द्रव्य, वासनादि सब मिथ्या है, परन्तु जैसे सप दशन जादूगर की मिथ्या क्रिया द्वारा ठीक हो जाता है, तथव क्रिया मिथ्या होने पर भी मुक्तिदायिनी हे। जगत को शून्य समझकर उसे सहायक बनाया जा सकता हैं। उसे वास्तविक मानकर हम उसी मे उलझे रहते है।

शैव शाक्त बौद्ध-तन्त्रो के इस 'रागमार्ग' का इस देश के अन्य सभी धर्मो पर प्रभाव पडा है।

तान्त्रिक-बौद्धमत का रूपान्तरण

आठवी शताब्दी के प्रारम्भ से बगाल पर मुसलमानी आक्रमण के पूव तक तान्त्रिक-बौद्धमत का प्रचार अधिकाधिक बढता गया है। तुलनात्मक दृष्टि से बगाल बिहार प्रान्त मे इस मत के अधिक प्रबल केन्द्र थे जहा से वे सारे भारतीय मानस को प्रभावित करते थे।

नालन्दा विश्वविद्यालय का यद्यपि फाहियान (३९४ ४१४ ई०) के यात्रा विवरण मे उल्लेख नही मिलता, परन्तु वसुबन्ध नालन्दा मे अध्यापक था, वसुबन्ध का समय श्री कर्न के अनुसार पाचवी शताब्दी है।[1] इसका तात्पय यह है कि नालन्दा का फाहियान मे भले ही उल्लेख न मिलता हो, परन्तु नालन्दा विश्व विद्यालय का निर्माण गुप्त-सम्राटो के समय हो चुका था।

दक्षिण के धान्यकूट के पश्चात् 'नालन्दा' तान्त्रिक बौद्धमत के आचार्यो का केन्द्र रहा है। शान्तिदेव (७ वी शताब्दी) तथा सरहपाद (७ वी शताब्दी) भी नालन्दा मे आचाय पद पर रहे थे। बगाल के पालवश के राजा धमपाल प्रथम (८ वी शताब्दी ने विक्रमशील विश्वविद्यालय की स्थापना की। महीपाल प्रथम तथा न्यायपाल (दशम शताब्दी के अतिमभाग से ११ वी शताब्दी के मध्यभाग

(1) Manual of Indian Buddhism—Part I, H Kern

तक) के समय मे बौद्धतान्त्रिकमत अपनी चरम उन्नति पर पहुच गया। दीपकर (विक्रमशील का प्रधानाचार्य) अद्वयवज्र, तथा नारोपा जैसे प्रसिद्ध तन्त्राचार्य इसी युग मे उत्पन्न हुए। सहजयान एव कालचक्रयान की गम्भीर विचारधारा तथा तान्त्रिक-बौद्ध-देवमडल का विकास अपने चरम शिखर पर इसी युग मे पहुचा। नालन्दा विक्रमशील तथा ओदन्तपुरी तन्त्र साधना के प्रकाश स्तम्भ थे।

ह्वानच्वाङ्ग के अनुसार सप्तम शताब्दी मे बगाल मे १० सहस्र सघाराम थे। श्री हरिप्रसाद शास्त्री के अनुसार १० लाख बौद्ध परिवार बगाल मे रहते थे। १२ वी शताब्दी तक ब्राह्मण एव जैन प्रभाव बगाल मे बहुत कम था, बौद्धप्रभाव अधिक था। बौद्ध सघ दृढ तथा शक्तिशाली थे। बौद्ध पुरोहितो का प्रभाव अखड था। ये धारणी रचते, बोधिसत्वो की पूजा करते और मृत्यु एव विवाहादि मे कृत्य कराते थे। प्रत्येक कृत्य मन्त्र से सम्पन्न होता था, मन्त्रयान तथा वज्रयान का प्रभाव था। १२वी शताब्दी मे बल्लाल सेन ने जनगणना करायी थी, इसमे केवल ८०० परिवार ब्राह्मणो के मिले थे। इस प्रकार मुसलमानो के आने के पूर्व पूर्वी भारत मे बौद्ध प्रभाव का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। बगाल की तीन चौथाई आबादी बौद्ध हो चुकी थी, बौद्धो ने तान्त्रिक बौद्धमत को इतने सरल रूप मे प्रस्तुत किया था कि बिना ज्ञान के ही धारणी मन्त्रो के जाप से, अथवा बोधिसत्वो की पूजा तथा ध्यान से सब कुछ प्राप्त हो सकता था। धनीवर्ग के लिए बौद्ध पुरोहित धन लेकर मन्त्र जपते थे और फल धनदाता को होता था। सारा समाज अत्यधिक सरल और अधविश्वास से पूर्ण धर्म आचारो के द्वारा इस जीवन मे भुक्ति और मृत्यु के बाद 'मुक्ति' की प्राप्ति सम्भव समझता था। ११वी १२वी शताब्दी को बौद्धमत का वाह्यरूप केवल आचार प्रधान (sacramental) रह गया था, शिक्षित बौद्ध इस आचार की दार्शनिक पृष्ठ भूमि से परिचित होने के लिए नालन्दा, विक्रमशील तथा ओदन्तपुरी मे जाते थे। परन्तु सामान्य जनता मन्त्रजप, देवमूर्ति पूजा, गुरु सेवा, ध्यान, तथा धार्मिक कृत्यो तक ही सीमित थी। गुह्यसाधको मे, जिनकी सख्या पर्याप्त थी, वामाचार का प्रचार था। स्वय विश्वविद्यालयो मे भी वामाचारप्रधान बौद्ध साधना का अभ्यास आचार्य एव शिष्य विधिवत् करते थे। नाना देवताओ तथा देवियो का अविष्कार और अनेकानेक

(1) Modern Buddhism and its followers in 1896, Strassburg
Orrisa—N N Vasu, Calcutta 1911

रहस्यमय अनुभवो एव उपलब्धियो का विस्तार इन विश्वविद्यालयो द्वारा हुआ है। स्वतत्र साधक भी इस तान्त्रिक साधना मे रत रहते थे। सघो मे भिक्षु अविवाहित रहते थे, परन्तु वज्रयान के प्रभावस्वरूप जो सघ के बाहर साधक विवाह नही करते थे। वे उसे विवाह नही करते थे शक्ति ले रहा हू' विवाह मे स्त्री के लिए ये शब्द कहे जाते थे।

वज्रयान सहजयान द्वारा मत्र, शक्ति-साधना के प्रचार के साथ साथ 'काल चक्रयान' द्वारा भूत प्रेत-राक्षस पूजा को अधिक बल मिला। इस मत के अनुसार 'गौतम बुद्ध' को एक भयकर देव demon के रूप मे स्वीकार किया गया। भयकर देवो की उपासना यकर कृत्यो द्वारा होने लगी, परिणामत अन्ध विश्वास एव कुकृत्यो को खुली छूट मिल गई। कालचक्रयान का आचार्य १२ वी शताब्दी मे 'जगत्तला' नामक विहार मे था, इसके पर्याप्त प्रमाण है।[1]

शैवो तथा बौद्धो से प्रभावित 'नाथपथ' का भी १० वी शताब्दी के आस पास विशेष प्रचार हुआ। मछन्दरनाथ नैपाल मे अवलोकितेश्वर के समान पूजित है, परन्तु नाथपथ वज्रयानी सहजयानी 'सभोग साधना' के विरुद्ध शुद्ध हठयोगी थे, अत बौद्ध 'नाथो' को उन्हे अपने सम्प्रदाय से बाहर मानते थे। परन्तु 'नाथ' मत बौद्धो से प्रभावित था। उनके मत मे वज्रयान-सहजयान शब्दावली का प्रयोग है, पर अर्थ कुछ भिन्न है।

इस प्रकार बगाल मे १२ वी शताब्दी मे धार्मिक दृष्टि से यह परिस्थिति थी—

१ ब्राह्मणधर्म—केवल ८०० परिवार (लगभग)

२ महायानधर्म—उच्चस्तर के भिक्षुओ मे प्रचलित।

३ वज्रयान—मध्यवर्ग का धर्म + विवाहित बौद्धो का धर्म

४ नाथमत—नाथपथी तथा कुछ बौद्ध जनता।

५ सहजिया—निम्नवर्ग द्वारा स्वीकृत धर्म।

६ कालचक्रयान—निम्नतम वर्ग मे प्रचलित था।

(1) Preface to Modern Buddhism and its Followers in Orissa—H P Sastri

बगाल मे जब धर्मो की यह स्थिति थी तभी मुसलमाना का आक्रमण हुआ। ये भारतीयो को हिदू या ब्राह्मण कहते थे। अत ब्राह्मणो ने इस परिस्थिति से लाभ उठाया और हिदुओ के अतिरिक्त बौद्वो का अनस्तित्व प्रमाणित किया, फलत सघ छिन्न भिन्न होने पर या तो मुसलमान हो गए अथवा निम्न हिदूजातियोमे मिल गए, परन्तु इनके विचारो तथा आचारो मे बौद्ध प्रभाव सवदा रहा, नाथपथियो का भी यही हाल हुआ। चूँकि मुसलमानो के पूव वौद्धअपने को स्वतत्र धम एव जाति के रूप मे मानते थे अत मुसलमान या निम्न हिदू जातियो को स्वीकार कर लेने पर भी इन्होने अपने को कबीर की तरह 'ना हिदू ना मुसलमान' ही कहा। 'नाथ' भी अपने को अलग मानते रहे, चूकि बौद्ध परपरा द्वारा इहे 'योग' एव 'रहस्य साधनाएँ' प्राप्त हुई थी तथा आचारवाद वण व्यवस्था आदि का ये खडन करते चले आरहे थे, अतएव ये सब प्रवृत्तिया यवन आक्रमण के पश्चात् भारतीय निम्न जातियो के सतो एव नाथा मे अब तक मिलती ह, यद्यपि इन सता पर हिन्दू पतजलि योग तथा वेदान्त का भी प्रभाव मिलता है, परन्तु बौद्ध प्रवृत्तिया उनमे बिल्कुल स्पष्ट है। अतएव यह नही कहा जा सकता कि बौद्ध धम का भारत से नाश हो गया है, यह कहना अधिक समीचीन होगा कि बौद्ध मत तान्त्रिक-बौद्धमत नाथमत सतमत वैष्णवमत इस क्रम से भारतीय समाज को एक विशिष्ट रूप देकर रूपान्तिरित होगया, आज जिहे हम शुद्ध वैदिक या स्मात आचार या उपासना समझते है उनमे तान्त्रिक उपासना के अनेक तत्त्व रूप बदल कर आगए है।

बगाल मे कैवत (माहीष्य) ब्राह्मण-योगी, धमघरिया योगी, धमदेवता के उपाशक उपासक, कर, अनाचरणीय कहलाने वाली जातिया, सुनार, बढई, चित्रकार, वैश्य, कायस्थ, आदि जातियो प्रथम बौद्व थी। नैपाल के वैश्य, सुनार, बढई, चित्रकार आदि विवाहित बौद्धो की सताने है। यवनो के आगमन के पूव ब्राह्मण एव बौद्ध दोही जाति वग थे। परन्तु यवनो के बाद बौद्धो को भी ब्राह्मणो द्वारा निर्मित वण व्यवस्था मे सम्मिलित होना पडा, अत बहुत सी जातियो ने ब्राह्मणो के 'वणसकर' को सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया, वे अपने मूल उद्गम को भूल गई, अत ब्राह्मण, जातिया क्षत्रिय बनने का प्रयत्न करने लगी।

1 Preface to Modern Buddhism H P Sastri

रहस्यमय अनुभवो एव उपलब्धियो का विस्तार इन विश्वविद्यालयो द्वारा हुआ है। स्वतन्त्र साधक भी इस तान्त्रिक-साधना मे रत रहते थे। सघो मे भिक्षु अविवाहित रहते थे, परन्तु वज्रयान के प्रभावस्वरूप जो सघ के बाहर साधक विवाह नही करते थे। वे उसे विवाह 'नही करते थे शक्ति ले रहा हू' विवाह मे स्त्री के लिए ये शब्द कहे जाते थे।

वज्रयान सहजयान द्वारा मन्त्र, शक्ति साधना के प्रचार के साथ साथ 'कालचक्रयान' द्वारा भूत प्रेत राक्षस पूजा को अधिक बल मिला। इस मत के अनुसार 'गौतम बुद्ध' को एक भयकर देव demon के रूप मे स्वीकार किया गया। भयकर देवो की उपासना भयकर कृत्यो द्वारा होने लगी, परिणामत अन्ध विश्वास एव कुकृत्यो को खुली छूट मिल गई। कालचक्रयान का आचार्य १२ वी शताब्दी मे 'जगत्तला' नामक विहार मे था, इसके पर्याप्त प्रमाण है।[1]

शैवो तथा बौद्धो से प्रभावित 'नाथपथ' का भी १० वी शताब्दी के आस पास विशेष प्रचार हुआ। मछदरनाथ नेपाल मे अवलोकितेश्वर के समान पूजित है, परन्तु नाथपथ वज्रयाना सहजयानी 'सभोग साधना' के विरुद्ध शुद्ध हठयोगी थे, अत बौद्ध 'नाथो' को उन्हे अपने सम्प्रदाय से बाहर मानते थे। परन्तु 'नाथ' मत बौद्धो से प्रभावित था। उनके मत मे वज्रयान-सहजयान शब्दावली का प्रयोग है, पर अर्थ कुछ भिन्न है।

इस प्रकार बगाल मे १२ वी शताब्दी मे धार्मिक दृष्टि से यह परिस्थिति थी—

१ ब्राह्मणधर्म—केवल ८०० परिवार (लगभग)

२ महायानधर्म—उच्चस्तर के भिक्षुओ मे प्रचलित।

३ वज्रयान—मध्यवर्ग का धर्म + विवाहित बौद्धो का धर्म

४ नाथमत—नाथपथी तथा कुछ बौद्ध जनता।

५ सहजिया—निम्नवर्ग द्वारा स्वीकृत धर्म।

६ कालचक्रयान—निम्नतम वर्ग मे प्रचलित था।

(1) Preface to Modern Buddhism and its Followers in Orissa—H P Sastri

बगाल मे जब धर्मो की यह स्थिति थी तभी मुसलमाना का आक्रमण हुआ। ये भारतीयो को हिदू या ब्राह्मण कहते थे। अत ब्राह्मणो ने इस परिस्थिति से लाभ उठाया और हिदुओ के अतिरिक्त बौद्ध का अनस्तित्व प्रमाणित किया, फलत सघ छिन्न भिन्न होने पर या तो मुसलमान हो गए अथवा निम्न हिन्दूजातियोमे मिल गए, परन्तु इनके विचारो तथा आचारो मे बौद्ध प्रभाव सवदा रहा, नाथपथियो का भी यही हाल हुआ। चूँकि मुसलमानो के पूव बौद्धअपने को स्वतत्र धम एव जाति के रूप मे मानते थे अत मुसलमान या निम्न हिदू जातियो को स्वीकार कर लेने पर भी इन्होने अपने को कबीर की तरह 'ना हिन्दू ना मुसलमान' ही कहा। 'नाथ' भी अपने को अलग मानते रहे, चूकि बौद्ध परपरा द्वारा इ हे 'योग' एव 'रहस्य साधनाएँ' प्राप्त हुई थी तथा आचारवाद वण व्यवस्था आदि का ये खडन करते चले आरहे थे, अतएव ये सब प्रवृत्तिया यवन-आक्रमण के पश्चात् भारतीय निम्न जातियो के सतो एव नाथा मे अब तक मिलती है, यद्यपि इन सता पर हिन्दू पत जलि योग तथा वेदान्त का भी प्रभाव मिलता है, परन्तु बौद्ध प्रवृत्तिया उनमे बिल्कुल स्पष्ट है। अतएव यह नही कहा जा सकता कि बौद्ध धम का भारत से नाश हो गया है, यह कहना अधिक समीचीन होगा कि बौद्ध मत तान्त्रिक-बौद्धमत नाथमत-सतमत वैष्णवमत इस क्रम से भारतीय समाज को एक विशिष्ट रूप देकर रूपान्तिरित होगया, आज जिन्हे हम शुद्ध वैदिक या स्मात आचार या उपासना समझते है उनमे तान्त्रिक उपासना के अनेक तत्त्व रूप बदल कर आगए ह।

बगाल मे कैवत (माहीष्य) ब्राह्मण योगी, धमघरिया योगी, धमदेवता के उपाशक उपासक, कर, अनाचरणीय कहलाने वाली जातिया, सुनार, बढई, चित्रकार, वैश्य, कायस्थ, आदि जातियो प्रथम बौद्ध थी। नैपाल के वैश्य, सुनार, बढई, चित्रकार आदि विवाहित बौद्धो की सताने है। यवनो के आगमन के पूव ब्राह्मण एव बौद्ध दोही जाति वग थे। परन्तु यवनो के बाद बौद्धो को भी ब्राह्मणो द्वारा निर्मित वण व्यवस्था मे सम्मिलित होना पडा, अत बहुत सी जातियो ने ब्राह्मणो के 'वणसकर' को सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया, वे अपने मूल उद्गम को भूल गई, अत ब्राह्मण, जातिया क्षत्रिय बनने का प्रयत्न करने लगी।

1 Preface to Modern Buddhism H P Sastri

नेपालमे सारे धर्म दो भागो बाटे जाते है (१) बौद्ध गुरु पूजक है (२) ब्राह्मण देवता पूजक। किन्तु नेपाल से कही अधिक मिश्रण मैदानी भागो मे हुआ अत यवनो के पश्चात् के हिन्दू धम मे गुरुवाद एव देवतावाद घुल मिल गया, सतो मे वह गुरुवाद स्पष्ट दिखायी पड जाता हैं, क्योकि उन पर बौद्ध प्रभाव सबसे अधिक हैं। वैष्णवो मे भी 'गुरुवाद' कम नहीं है। यह स्पष्ट तान्त्रिक प्रभाव हैं। उच्च वेदवादी ब्राह्मणवग तान्त्रिक परपरा से कम प्रभावित है, परन्तु चैतन्यमत के गोस्वामियो तथा भक्तो को भी हर प्रसाद शास्त्री स्पष्टत गुरुवादी मानते है।

अक्षयकुमार दत्त ने लिखा हे कि महाराष्ट्र का 'बिठोवा' बौद्ध देव मण्डल का अवशेष है।[1] जगन्नाथ, धमठाकुर, सहजिया वेष्णव, नाथमत, बगाल के 'सराकी तातिस' बौद्धो से प्रभावित है। 'सराकी' स्पष्टत श्रखक' का अपभ्र श है।

श्रीयुत नगेन्द्रनाथ वसु ने लिखा है कि ११ वी शताब्दी मे बौद्ध माग प्रवृत्तिमाग तथा निवृत्रिमाग दो भागो मे विभाजित हो गया था। प्रवृत्तिमाग मे सहजिया साधना प्रचलित थी, अत यवनो के शासनकाल मे भी सहजिया सम्प्रदाय प्रवृत्तिमार्गी गृहस्थो को प्रभाति करता रहा।[2] वैष्णवधम के रूप मे यह अबतक जीवित है।

निवृत्तिमार्गीय साहित्य मे रामाई पडित ने 'शून्यपुराण' लिखा। धम-सम्प्रदाय के प्रवनक रामाई थे। 'शून्य पुराण' को महायानमत स्वीकृत है। 'शून्य' को एक निराकार ब्रह्म के रूप मे स्वीकार किया गया है।

शून्यरूप निराकार सहस्रविध्ननाशनम्।
सवपर परोदेव, तस्मात्त्व वरदाभव।

रामाइ के अनुसार 'शून्यमूर्ति' का न आदि है, न अन्त वह कर चरणादि से रहित है। वह निराकार है, जरामरण से रहित है सवलोको का स्वामी यह शून्य ज्ञानगम्य है। भक्तो की कामनाएँ इसी मूर्ति के ध्यान से पूरी होती है।[3]

---

(1) Preface to Modern Buddhism—H P Sastri

(2) Modern Buddhism—N N Vasu

(३) यस्यान्तोनादिमध्यो न च कर चरणौ नान्ति कायो निनाद।
नाकारो नैवरूप न च भयमरणे, नास्ति जन्मनि यस्य।
योगीन्द्रैर्ज्ञानगम्य, सकलदलगत सर्वलोकैक नाथ
भक्ताना कामपूर सुरनरवरन्द, चिन्तयेद् शून्यमूर्तिम्—वही

निराकार शून्य (ब्रह्म) को भक्ति का विषय रामाई पडित ने किस प्रकार बनाया हैं, यह स्पष्ट है। 'निगुण भक्ति' के विकास मे 'शू यपुराण' एक महत्त्व पूण शृ खला हे ।

यवन आक्रमण के पश्चात् बौद्धो ने दक्षिणी भारत मे—विजयनगर, कलिंग, कोकण मे अपने केन्द्र स्थापित किये। उडीसा मे आज भी बौद्धधम जीवित है। उडीसा मे बाथुरी जाति का विश्वास हे कि प्रारम्भ मे 'शून्य' था, इस 'शू य' की भुजा से बादुरी या बाथुरी (भुजा से उत्पन्न) जाति की उत्पत्ति हुई हैं।

नैपाल के 'स्वयभूपुराण' मे आदि बुद्ध या स्वयभू को 'शू यमहाप्रभु' कहा गया है। वेदमाता आदिमाता तथा प्रज्ञा भी इसी के नाम है। सिद्धा तडम्बर [1] मे बीजमत्र इस प्रकार है—

'ओ शू य ब्रह्मणे नम '

इस ग्र थ की गायत्री विचित्र है—

ओ सिद्धदेव सिद्ध धम्म वरेण्यमस्य धीमही।
भगदेवी धीयो यो, न सिद्धध्रुवो प्रचोदयात्।

'बुद्ध शरण गच्छामि' आदि के स्थान पर इस गायत्री का पाठ होता है। इसमे 'सिद्ध' शब्द सिद्धाथ (गौतम बुद्ध) के लिए, सिद्धधम, प्रज्ञापारमिता के लिए, तथा सिद्धध्रुव सिद्धसघ के लिए प्रयुक्त हुआ है।

'सिद्धा तडम्बर' मे वक्ता शिव है। कौलावली निणय मे एक 'वातुलतत्र' का उल्लेख हे 'मदनपारिजात' मे भी इस तत्र का उल्लेख है। इस तत्र मे भी वक्ता शिव हैं, अत इस तत्र का सम्बध सम्भवत 'बाथुरी' जाति के साथ रहा होगा, ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

उडीसा मे १६ वी शताब्दी मे अच्युतानन्ददास, जगन्नाथदास, यशवन्तदास तथा चैतन्यदास नामक महान वैष्णाव कवि हुए हैं। अच्युतानन्ददास की रचना है 'शून्य सहिता'इसमे चैतन्यसम्प्रदाय के सिद्धा तो के साथ-साथ शून्य उपासना एव स्तवन भी मिलता है। इसके 'विराटगीता' मे कहा गया है कि शून्य ही ब्रह्म है,

(१) सिद्धान्तडम्बर—१६ वी शताब्दी मे उडीसा मे बलरामदास द्वारा रचित, यह 'गगेशविभूति' नामक ग्रन्थ की टीका है—द्रष्टव्य—
Modern Buddhism—N N Vasu

उसमे 'निरजन' हुआ, [२] इस प्रकार एक परम अवतार हुआ। महाशून्य, शू्यपुरुष तथा नाम एक ही ब्रह्म की सज्ञा कही गई है। शू्य पुरुष ही जात्र के रूप मे बदल जाता है। वह शून्य पुरुष बडा नटखट हे। २५ कारण, ५ मन ६ चक्र, ५० अक्षर एव ७२ नाडिया उस 'शू्य' की रक्षक है, वही शू्य तटस्थ होकर ससार का भोग करता है।

बाथुरी जाति आजकल उडीसा मे अस्पश्य है, परन्तु 'सिद्धान्तडम्बर' मे उसकी भी यह कारण दिया गया है कि कलियुग मे बाथुरी अस्पश्य रहेगे, पर तु उनके शरीर के स्पश से सारे पाप धुल सकते है, विष्णु ने मायाशक्ति से उ हे गुप्त कर रखा है। लोग इस रहस्य से अपरिचित है, अ यथा बाथुरियो को स्पश कर पापो से मुक्त न हो जाते।

बाथुरी जाति बाह्याचार का कबीर की तरह ही खडन करती है। अनमुख होकर शू्यमत्र जप से, त्रिकुटी मे ध्यान लगाने से मुक्ति होती है।

उडीसा का राधा-कृष्ण सम्प्रदाय भी शून्यवाद से प्रभावित है। वृ दावन, मथुरा एव अन्यतीथ महाशून्य मे स्थित है। गुप्त वृ दावन को कोई नही जानता। कृष्ण शून्य पुरुष है। वस्तुत यह बौद्धमत है। ब्राह्मणो को धोखा देने के लिए केवल कृष्ण, वृ दावन का नाम शू्य के साथ जोड दिया गया है। गीताभागवत का घोर खडन किया गया है। [१]

बलरामदास ने एक 'गुप्तगीता' की रचना की है। इसमे लिखा है कि कृष्ण के पुत्र अनिरुद्ध, उडीसा के राजा प्रतापरुद्र के समय बलरामदास के रूप मे अवतार

(१) **अर्जुन**—तोहर रूप रवि नाही, शून्य पुरुष देही।
कृष्ण—श्रीहरि बोइले हो शुण पाण्डुसुत।
ब्रह्ममहिमा तोते कहिवा वेदान्त
महाशून्यकु जो ब्रह्म बोलि कहि
से ब्रह्म रूप होइला निरजन देही।
निरञ्जन ढारू-हेला परम अवतार
परम ढावरु जीव, होइला बाहार

(२) गीताभागवत पुराण पढिबा, कहिबा चातुरी थिव।
तत्त्व अनाकार नाम, ब्रह्मभेद न पाई व्यथहेव—
अनाकार स हिता-अच्युतानददास

लेगा। कृष्ण जगनाथ जी मे 'दारुब्रह्म' बनेगे। बलराम के 'प्रणवगीता' मे एक मनोरजक कहानी है। राजाप्रतापरुद्र को पता चला कि बलराम ने गीता की रचना की है। ब्राह्मणो ने कहा कि शूद्र शास्त्र लिखता है, अत वह दडनीय है । तब बलराम ने कहा कि श्रीपति भगवान पर किसी का एकाधिकार नही है। ईश्वर भक्त का है, चाहे वह ब्राह्मण हो या चाण्डाल।[1] बलराम ने तब सिद्ध किया कि वह ज्ञान के अधिकारी है, उन्होने ब्राह्मणो को यह वेदान्त (वस्तुत शून्यवाद) सुनाया, ब्राह्मण पराजित हो गए ।

इस कथा से स्पष्ट है कि निम्न जातियो को अपने अधिकार के लिए शास्त्र लिखते पढते थे और छद्म रूप मे अपनी परपराओ की रक्षा करनी पड़ती थी। वर्णाश्रमधर्म एव बाह्य आचारवाद के विरोधी मर्मी सत और भक्त शताब्दियो तक ब्राह्मणवर्ग से लडते रहे। भारतीय वर्ग सघर्ष के लिए इस 'वैष्णव बौद्ध' सम्प्रदाय का अनुशीलन आवश्यक है।

चैतन्यदास ने 'विष्णुगर्भ' मे लिखा है कि विष्णु एक नही पाच है। 'अलेख' (अलख) ही शून्य है, अलेख का माया से उत्पन्न रूप है 'निराकार'। निराकार से धर्म का विकास हुआ है।

तब अलेख से ६ रग उत्पन्न हुए, ६ रगो से ६ विष्णु उत्पन्न हुए। अलख ने ही ब्रह्मा की रचना की। चार निराकारो से से चार ब्रह्मा बने। नैपाल मे अलख को ही 'महाविष्णु माना गया है। चूकि 'वज्रयान मे अक्षोभादि ध्यानी बुद्धो के पाचरग वर्णित है, अत ५ रगो से ५ विष्णु तथा अलख इस प्रकार ६ विष्णु उत्पन्न हुए, यह मान लिया गया।

उडिया वैष्णव-बौद्धो मे दो सम्प्रदाय है १ धर्म यही निरजन है। यह शून्य रूप है, सृष्टि का करण है। २ धर्म स्त्रीतत्त्व है। नैपाल मे भी धर्म को स्त्री कहा गया है, उसकी मूर्ति भी एक देवी के रूप मे है।

(१) प्रतापरुद्र महाराजा, कोपे बोइले बडपर्य्या।
प्रणव वेदवादभान, कि अधिकारे शूद्र ज्ञान।
शुण हे नृप गजपति, काहारि नोहन्ति श्रीपति।
भक्तजनकर से हरि, विप्र चाण्डाल से आदि करि—

प्रणवगीता—बलरामदास

१८वी शताब्दी मे बुद्धगुप्त तथागत नाथ नामक बुद्धभिक्षु तिब्बत से भारत-यात्रा करने आया था, वह उडीसा के 'हरिभज' चैत्य मे ठहरा था, अत बौद्धधम उडीसा मे मृत नही हुआ था।

वैष्णव मुक्ति की जगह बैकुठ को मानते है, वष्णव बौद्ध भी महाशून्य या निर्वाण को ही बैकुठ कहते है।

इनमे हठयोग का भी प्रचार था। बलरामदास के अनुसार गोरखनाथ हठयोग के प्रवतक थे। योग अतिरिक्त भक्ति भी इनके यहा स्वीकृत है। उडीसा के बौद्धो ने प्रतापरुद्र राजा के दमन से विवश होकर वैष्णवधम को स्वीकार कर लिया था, परन्तु गुप्तरूप से वे अपने को 'गुप्त बौद्ध' कहते थे, उनका विश्वास था कि कलियुग मे बौद्धरूप गुप्त रहता है। अत बुद्ध का बाह्यरूप ही जगन्नाथ, है गुप्त रूप 'बुद्ध' है। इसका क्या कारण है? इसका उत्तर ये बौद्ध देते है कि ज्ञान मे भ्रम उत्पन्न करने के लिए, वैदिक पूजा का नाश करने के लिए तथा निगु ण ब्रह्म की आराधना के लिए ही बुद्ध का अवतार होगा।[1] भागवत मे इसके विरुद्ध यह कहा गया है कि असुरों को मोहित करने के लिए ब्रह्म बुद्ध का रूप कीकर देश मे (उत्कल ?) अवतार लेगे[2] इस प्रकार श्रीमद्भागवत ने बौद्ध प्रभाव से विवश होकर ही बुद्ध को दशावतार मे सम्मिलित किया था और साथ ही बौद्धमत के विरुद्ध घृणा भी प्रकट की थी। इसके बिपरीत अच्युतानन्द ने लिखा है कि तीन सहस्र बौद्ध अपने को गुप्त रखकर समय काट रहे है और बुद्ध के अवतार की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

उडीसा मे अभी हाल मे 'चन्द्रसेन' नामक एक चैत्य खोज मे मिला है। शीतला एव धमदेवी की मूर्तिया प्राप्त हुई है। यहा एक योगी जाति है जो अभी तक 'धमदेवी' के गीत गाती है।

उडीसा मे १९वी शताब्दी से प्रचलित 'महिमा-धम' भी बौद्धमत का ही एक रूप है। इसे 'सद्धम' भी कहते है।

(१) वेदर धम छुडाइबे, निगु णधम प्रचारिबे।
सकलवण इक ढारे, बसि भुजिब सुगत रे।

(२) तत कलौ सप्रवृत्त, समोहाय सुरद्विषाम्
बुद्ध नाम्नाञ्जनसुत, कीकरेषु भविष्यति—श्रीमदभागवत

भीमभोइ अरक्षितदास ने महिमाधम का प्रचार किया । 'कलिभागवत' इसकी प्रसिद्ध रचना है। स्वय 'अलेख' (बुद्ध) ने भीम को बुद्धधम के प्रचार के लिए प्रेरित किया था । यद्यपि भीमभोइ नीच जाति का था, परन्तु भक्ति द्वारा इसने जाति-पाति के बन्धन तोडने मे बडा योगदान दिया है । उच्चजाति के लोग भी इसके शिष्य बने ।

उडीसा मे बौद्धधम का यह रूपान्तर भारतीय धमसाधना का अत्यधिक मनोरजक एव शिक्षाप्रद उदाहरण है । यवनो के आक्रमण के पश्चात बौद्धधम किस प्रकार आज तक इस देश मे नाना रूप बदल कर जीवित रहा है, उत्कल का वष्णव धम इसका साक्षी है । उडीसा तथा बगाल के अतिरिक्त मध्यदेश के वष्णव धम एव सत मत की पृष्ठभूमि मे बौद्धमत का महत्त्वपूण हाथ रहा है । तान्त्रिक बौद्धमत से प्रभावित बगाली वैष्णवो ने बल्लभ, हरिदास, हितहरिवश आदि की विचारधारा और साधना पद्धति को दूर तक प्रभावित किया है । सतमत तो बौद्ध सिद्धो की परपरा की ही एक शृ खला है ।

वैष्णव तथा सतमत के अतिरिक्त अनेक स्थानीय देवी-देवताओ, उनकी उपासना पद्धतियो, तथा लोकाचारो मे तान्त्रिक बौद्धमत अब भी जीवित है ।

संत-वैष्णव सम्प्रदाय तक पहुँचने वाले तत्त्व

सत काव्य

(१) पारमार्थिक 'सत्ता भाव, अभाव से परे है। कबीर दादू आदि के 'ब्रह्म पर प्रभाव ।

(२) आत्मा या चेतना निष्प्रपच है, जगत् प्रपच है ।

(३) कुडलिनीयोग

(४) महासुख

(५) सहज, उन्मन, खसम आदि विशेष अनुभव

(६) भक्तिभाव

(७) बाह्याचार का खडन

(८) शास्त्र निरपेक्षता, स्वानुभव पर बल

(९) विपरीत कथन–पद्धति तथा प्रतीक पद्धति

(१०) वैराग्यमूलकता

वैष्णव सम्प्रदायो पर प्रभाव

(१) ससार (जगत नही) दु खमय है (बल्लभ)—इस धारणा पर बौद्ध प्रभाव।

(२) जगत प्रपच है, दु खमय है—तुलसीदास

(३) सत्ता अवाङ्मनसगोचर

(४) सुखावती स्वर्गवाद का कृष्णभक्तो के गोलोकवाद पर प्रभाव।

(५) युगनद्ध—शक्तिसयुक्त देवता का ध्यान

(६) रागद्वारा साधना

(७) काया सिद्धान्त

(८) मुक्ति की आनदवादी कल्पना

(९) राम एव कृष्ण के जगत उद्धारक रूप पर बुद्ध का प्रभाव।

पाञ्चरात्र-मत

यद्वा भगवते तस्मै, स्वकीयात्मसमर्पणम् ।
वियुक्त प्रकृते शुद्ध, दद्यादात्मदृवि स्वयम् ।
अहिर्बुध्न्यमहिता ।

इष्टदेव को आत्मसमर्पण कर देना ही आत्महविष् अथवा आत्मयज्ञ है, यह तभी सम्भव है, जब जीव प्रकृति के आकर्षणों से अपने को मुक्त कर ले ।

यहा यह भी उल्लेखनीय है कि 'अहिबुध्न्य सहिता' की रचना हुई थी। उत्पल वैष्णव ने इस सहिता का भी अन्य सहिताओ के किया है।[1] आगे के विवेचन से स्पष्ट हो जायगा कि किस प्रकार कश दशन एव पाञ्चरात्र दशन मे आधारभूत एकता दिखायी पडती है।

स्रोत—पाञ्चरात्र मत प्राचीनमत है। डा० एस०एन० दास गुप्त के अ रात्र का स्रोत ऋग्वेद का पुरुषसूक्त है। शतपथ ब्राह्मण मे कहा गया है पाञ्चरात्र नामक यज्ञ को सम्पन्न कर सर्वोपरि प्रतिष्ठित हुए थे।[2] शतप रात्र' शब्द यज्ञ विशेष के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। महाभारत के श्वेतद्वीप की कथा है, जहा जाकर नारद को भक्ति का उपदेश नारायण यह श्वेतद्वीप कहा है, इस पर विद्वानो मे विवाद रहा है, श्री श्रेडर है कि श्वेतद्वीप की कथा से भारतवष के उत्तरीय पवत प्रदेश सकेति अनुमान सगत प्रतीत होता है, क्योकि पाञ्चरात्र सहिताओ का निर्मा उत्तरी भारत मे हुआ है। तत्पश्चात् उनका निर्माण दक्षिण मे भी होने

महाभारत को यदि पाञ्चरात्र मत का आदि स्रोत माना जाय त होगा कि महाभारत के समय मे ही पाञ्चरात्र साधना प्रचलित थी। यः वह रूप जो प्राप्त सहिताओ मे मिलता है, महाभारत से पर्याप्त भिन्न है के लिए महाभारत के शाति पव मे तान्त्रिक तत्त्वो का प्राय अभाव पाञ्चरात्र सहिताओ मे तान्त्रिक तत्त्वो का बाहुल्य है। इसके अतिरिक्त ः पाञ्चरात्र मत मे वर्णित पूजाविधि एव आचार (Rituals) नही मि

डा० एस० एन० दास गुप्त ने बताया है कि हम यह निश्चित कह सकते कि पाञ्चरात्र मत वैदिक है या अवैदिक। यदि वैदिक मा स्मृतियो मे इसकी निन्दा क्यो की गई है?[5] पाञ्चरात्र या भागवतो

---

(१) वही, पृष्ठ ९६
(२) शतपथ ब्राह्मण (१३, ६ १)
(3) Introduction to Panchratra, Page 16
(४) श्रेडर के अनुसार महाभारत मे भी तान्त्रिक तत्वो की मिलती है, यद्यपि शातिपव मे उनका अभाव है—वही,
(5) History of Indian Philosophy Dr S N D Vol III (1940) Page 15, Cambridge

ब्राह्मणो के साथ भोजन मे नही बैठने दिया जाता था। डा० दास गुप्ता के अनुसार 'सात्वत' का अथ ही 'निम्न जाति' हे[1] व्यवसाय की दृष्टि से सात्वत लोग मूर्ति पर चढी हुई भेट, दीक्षा एव दान पर निभर रहते है। वे वैदिक यज्ञ नही करते। चूकि पूजा को सात्वत लोग व्यवसाय बना लते है, अत उन्हे निम्न स्थान दिया गया है।[2] डा० दास गुप्त का अनुमान है कि वादरायण ने इसीलिए पाञ्चरात्रो का खडन किया है।

पाञ्चरात्र-शास्त्र वैदिक कर्मकाण्ड को 'फलसिद्धि' के लिए करणीय मानता है। साख्य, योग और पाशुपत मतो को साधना-सोपान के रूप मे स्वीकार करता है, अर्थात् साख्य, योगादि के पश्चात् क्रमश पाञ्चरात्र मत मे प्रवेश होता हे।

> भयास्था एव सिध्यन्ति साख्यादिष्वपि च त्रिषु।[3]
> आरोहन्तीच्छया तेऽपि सात्वत शासन परम्—

पाशुपत और साख्य स्पष्टत अवैदिक मत है, किन्तु पाञ्चरात्र उन्हे स्वीकार करता है। पाञ्चरात्रो मे गीता की तरह कमकाण्ड और भगवान की उपासना मे दूसरी 'रीति' को अधिक महत्व दिया है। यह भी एक कारण हे कि 'वदिक' पाञ्च को अवैदिक कहते आए है[4]—द्रष्टव्य—

श्रेडर महोदय के अनुसार 'पाशुपत मत' का अथ पाञ्चरात्र सहिताओ के अनुसार उस बबर और वाममार्गी 'पाशुपत मत' से नही है जिसकी निन्दा वैदिक मतावलबी करते रहे है। उनके अनुसार 'पाशुपत मत' का लम्ब 'आगमवादी शैव मत' से है जिस पर बाद के शैव सम्प्रदाय (उदाहरणत कश्मीर शैवमत) आधारित है। किन्तु 'आगमवादी शैवमत' को भी अपनी प्रामाणिकता सिद्ध करने मे बडा प्रयत्न करना पडा है और उन्हे सकुचित अथ मे वैदिक माना भी नही जाता, यद्यपि उनमे बहुत से वैदिक सिद्धान्त अपनाये गए हैं, अतएव पाशुपन शब्द का कुछ

(१) वही, पृष्ठ १५
(२) वही
(३) अहि० सहिता, द्वितीय जिल्द, पृष्ठ १३२
(४) Introduction to Panchratra, Page 17

यहा यह भी उल्लेखनीय है कि 'अहिबुध्न्य सहिता' की रचना हुइ थी। उत्पल वैष्णव ने इस सहिता का भी अन्य सहिताओ के किया है।[1] आगे के विवेचन से स्पष्ट हो जायगा कि किस प्रकार कश्‍ दशन एव पाञ्चरात्र दशन मे आधारभूत एकता दिखायी पडती है।

स्रोत—पाञ्चरात्र मत प्राचीनमन है। डा० एस०एन० दास गुप्त के अ रात्र का स्रोत ऋग्वेद का पुरुषसूक्त है। शतपथ ब्राह्मण मे कहा गया है पाञ्चरात्र नामक यज्ञ को सम्पन्न कर सर्वोपरि प्रतिष्ठित हुए थे।[2] शतप रात्र' शब्द यज्ञ विशेष के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। महाभारत के श्वेतद्वीप की कथा है, जहा जाकर नारद को भक्ति का उपदेश नारायण यह श्वेतद्वीप कहा है, इस पर विद्वानो मे विवाद रहा है, श्री श्रेडर है कि श्वेतद्वीप की कथा से भारतवष के उत्तरीय पवत प्रदेश सकेति अनुमान सगत प्रतीत होता है, क्योकि पाञ्चरात्र सहिताओ का निर्मा उत्तरी भारत मे हुआ है। तत्पश्चात् उनका निर्माण दक्षिण मे भी होने

महाभारत को यदि पाञ्चरात्र मत का आदि स्रोत माना जाय त होगा कि महाभारत के समय मे ही पाञ्चरात्र साधना प्रचलित थी। य वह रूप जो प्राप्त सहिताओ मे मिलता है, महाभारत से पर्याप्त भिन्न है के लिए महाभारत के शाति पव मे तान्त्रिक तत्त्वो का प्राय अभाव पाञ्चरात्र सहिताओ मे तान्त्रिक तत्त्वो का बाहुल्य है। इसके अतिरिक्त पाञ्चरात्र मत मे वर्णित पूजाविधि एव आचार (Rituals) नही मि

डा० एस० एन० दास गुप्त ने बताया है कि हम यह निश्चित कह सकते कि पाञ्चरात्र मत वैदिक है या अवैदिक। यदि वैदिक मा स्मृतियो मे इसकी निन्दा क्यो की गई है ?[5] पाञ्चरात्र या भागवत

(१) वही, पृष्ठ ९६

(२) शतपथ ब्राह्मण (१३, ६ १)

(3) Introduction to Panchratra, Page 16

(४) श्रेडर के अनुसार महाभारत मे भी तान्त्रिक तत्त्वो की मिलती है, यद्यपि शातिपव मे उनका अभाव है—वही,

(5) History of Indian Philosophy Dr S N D Vol III (1940) Page 15, Cambridge

ब्राह्मणो के साथ भोजन मे नही बैठने दिया जाता था। डा० दास गुप्ता के अनुसार 'सात्वत' का अथ ही 'निम्न जाति' है[1] व्यवसाय की दृष्टि से सात्वत लोग मूर्ति पर चढी हुई भेट, दीक्षा एव दान पर निभर रहते है। वे वेदिक यज्ञ नही करते। चूकि पूजा को सात्वत लोग व्यवसाय बना लते है, अत उन्हे निम्न स्थान दिया गया है।[2] डॉ० दास गुप्त का अनुमान है कि वादरायण ने इसलिए पाञ्चरात्रो का खडन किया है ।

पाञ्चरात्र शास्त्र वैदिक कमकाण्ड को 'फलसिद्धि' के लिए करणीय मानता है। साख्य, योग और पाशुपत मतो को साधना-सोपान के रूप मे स्वीकार करता है, अर्थात् साख्य, योगादि के पश्चात् क्रमश पाञ्चरात्र मत मे प्रवेश होता है।

भर्यास्था एव सिध्यन्ति साख्यादिष्वपि च त्रिषु।[3]
आरोहन्तीच्छया तेऽपि सात्वत शासन परम्—

पाशुपत और साख्य स्पष्टत अवैदिक मत है, किन्तु पाञ्चरात्र उन्हे स्वीकार करता है। पाञ्चरात्रो मे गीता की तरह कमकाण्ड और भगवान की उपासना मे दूसरी 'रीति' को अधिक महत्व दिया है। यह भी एक कारण है कि 'वदिक' पाञ्च को अवैदिक कहते आए है[4]—द्रष्टव्य—

श्रडर महोदय के अनुसार 'पाशुपत मत' का अथ पाञ्चरात्र सहिताओ के अनुसार उस बबर और वाममार्गी 'पाशुपत मत' से नही है जिसकी निन्दा वैदिक मतावलबी करते रहे है। उनके अनुसार 'पाशुपत मत' का लम्ब 'आगमवादी शैव मत' से है जिस पर बाद के शैव सम्प्रदाय (उदाहरणत कश्मीर शवमत) आधारित है। किन्तु 'आगमवादी शैवमत' को भी अपनी प्रामाणिकता सिद्ध करने मे बडा प्रयत्न करना पडा है और उन्हे सकुचित अथ मे वैदिक माना भी नही जाता, यद्यपि उनमे बहुत से वैदिक सिद्धान्त अपनाये गए है, अतएव पाशुपत शब्द का कुछ

(१) वही, पृष्ठ १५
(२) वही
(३) अहि० सहिता, द्वितीय जिल्द, पृष्ठ १३२
(४) Introduction to Panchratra, Page 17

भी अथ क्यो न ले, पाञ्चरात्र को पूणतया वैदिक मानने का कोई कारण 'प नतत्र' मे जो अपेक्षाकृ न नवीन सहिता है, शिव का का पालिक, शुद्ध पाशुपत इन मतो का प्रवतक स्वीकार किया गया है। अहिबुध्न्य सहिता पर 'पाशुपन' को बबर और वाममार्गी न मानने हुए भी 'उग्रवतधर सकता है।[२] अहि० जिल्द १, पृष्ठ १२८ अन इन 'उग्रविचारका पाञ्चरात्रो की यह सहानुभूति स्पष्ट कर देती है कि इस मत मे लोकधम तत्व सम्मिलित किए गये है। द्रष्टव्य, Introduction—to ratra, page 112)

अहिबुध्न्य सहिता मे स्पष्ट कहा गया है कि 'पाशुपत' मत को ग्रहण पर 'ब्राह्मण धम' (वैदिक कर्मकाण्ड तथा सस्कार) का अनुसरण नही सकता और फिर भी पाञ्चरात्र मत पाशुपत मत को स्वीकार करता है—

प्राप्ता पाशुपत ये हि धम ब्राह्मणपूवका
न धममनुष्ठिन्ति त्रयीस्थ ते पुनमुने।
पञ्चरात्र प्रविश्येव, नान्य धर्म वितन्वते'—

पाञ्चरात्र मत की प्रामाणिकता का प्रयत्न जिस उत्साह से किय उससे लगता है कि इस मत मे अवदिक तत्त्व मिल गए है। यामुनाचाय प्रामाण्य' मे पाञ्चरात्र मत को वैदिक सिद्ध करने का घोर प्रयत्न कि कहा है कि पाञ्चरात्र मत के प्रवतक नारायण है। उपनिषादो मे भी ना ही वणन ह। यामुनाचाय के अनुसार कापालिक, कालामुख तथा पाशुप मन है[१] जब कि पाञ्चरात्र मत वैदिक है। यह मन उन भक्तो के वैदिक यज्ञो के झगडो से दूर रहना चाहते थे[४]।

परतु यामुनाचाय के सारे तर्को के बावजूद पाञ्चरात्र मत को नही किया जा सकता, क्योकि इसमे वही शव एव शाक्त-तत्त्व मिश्रि यामुनाचाय अवदिक मानते है।

(१) द्रष्टव्य—Introduction fo panchratra, page 111
(२) (३) अहि० जिल्द १, पृष्ठ १३२
(3) A History of Indian Philosophy Dr Das Gu III Page (17)
(४) वही

पान्चरात्र पूजा-पद्धति भी अवैदिक है। डा० दास गुप्ता के अनुसार यह अवैदिक पूजा पद्धति छठी शताब्दी (ईसापूव) मे प्रचलित थी, परन्तु इसका प्रमाण डा० दास गुप्ता ने नही दिया है[3]। परन्तु बेसनगर के स्तम्भ से यह प्रमाणित अवश्य होता है कि पान्चरात्र मत अथवा भागवतमत ईसा पूव द्वितीय शताब्दी मे अच्छी दशा मे था[४]।

यद्यपि पुराणो मे पान्चरात्रमत के अनेक सिद्धान्त मिलते है, परन्तु फिर भी पान्चरात्रो की कई स्थानो पर निन्दा की गई है।

कापालम्, गारुडम् शाक्तम्, भैरवम् पूव पश्चिमम्।
पान्चरात्रम्, पाशुपतम्, तथान्यानि सहस्रश।

'कूमपुराण' के उक्त पद्य मे उपयुक्त मतो की निन्दा की गई है। कहा गया है कि पूवजन्म मे गोवध के पाप के कारण इस जन्म मे मनुष्य 'पान्चरात्री होता है।[५] 'स्कन्दपुराण' मे भी कहा गया है—

पान्चरात्रे च कापाले, तथा कालमुखेऽपि च।
शाक्ते च दीक्षिता व्यूहम्, भवेत् ब्राह्मणाधम॥
द्वितीयम् पान्चरात्रे च, तन्त्रे भागवते तथा।
दीक्षिता च द्विजा नित्यम्, भवेयुर्गर्हिता हरे।[६]

साम्बसहिता, सूतसहिता, आस्वलायन स्मति, बृहत् नारदीयपुराण वायुपुराण लिङ्ग पुराण, विष्णुसहिता, हारीति, बोधायन तथा यमसहिता मे भी पाचरात्रो की यत्र तत्र निन्दा की गई है[१] किन्तु श्रीमद्भागवत, महाभारत व विष्णुपुराण मे पाचरात्रो की प्रशशा हे। जिन्हे 'सात्विक पुराण' कहा जाता है, उनमे पाच रात्रो की प्रशसा है। उदाहरण के लिए नारदीय, गरुड, पद्म वाराह भागवत पुराणो मे प्रशसा है।[२]

(१) वही, पृष्ठ १६ (२) वही, पृष्ठ १६
(३) कूमपुराण अध्याय १६ (B J series)
(४) 'तत्त्वकौस्तुभ' मे भट्टोजि दीक्षित द्वारा उद्धृत—द्रष्टव्य A History of India Philosophy III, Page 19
(5) A History of Indian Philosophy Vol III, Dr Das Gupta, page 20
(६) वही

पाञ्चरात्रमत की 'ईश्वरसहिता' मे कहा गया है कि पाञ्चरात्रमत का नाम 'एकायन वेद' है। यह वेद से भी प्राचीनतर माना गया है, किन्तु वासुदेव ने सन, सनक, सनत्सुजाति, सनन्दन, सनत्कुमार, कपिल तथा सनातन के सम्मुख इस गुह्य मत का उद्घाटन किया। यह मत इसलिए उद्घाटित हुआ कि वेदो के पाठक परमार्थ तत्त्व को विस्मृत कर भौतिक भोगविलास मे मग्न हो गए थे। इस धारणा का अर्थ है कि 'ईश्वरसहिता' पाञ्चरात्रमत को वेद से भी प्राचीनतर मानती है और वेद को उसी की एक शाखा मानती है।[1] इसी सहिता मे यह भी कहा गया है कि मूल 'एकायन वेद' ही सात्विक शास्त्र है, किन्तु आगे चलकर इस सात्विक पाञ्चरात्र शास्त्र मे कुछ ऋषियो ने अपने नये सिद्धान्त मिलाये तब यह 'राजसशास्त्र' हुआ और जब 'मनुष्यो' ने इसमे मिश्रण किया तब यह शास्त्र 'तसशास्त्र' हुआ।[2] इस धारणा से भी यही पुष्ट होना है कि पाचरात्र मत शुद्ध वैदिकमत नही हे, इसमे अवैदिक स्रोतो से बहुत सी सामग्री आयी है।[3]

वैदिक पद्धति पर यज्ञ-याग करना ही आर्यो का प्राचीनतम धर्म है, क्रमश इस वैदिक धर्म मे अन्य जातियो के विश्वास एव साधनाएँ अनभुक्त होती गई। 'अथर्ववेद' इस विराट समन्वय का प्रबल प्रमाण है। उपनिषत्, गीता तथा महाभारत मे वैदिक यज्ञवाद के अतिरिक्त अनेक सम्प्रदायो एव साधनाओ को वैदिक धर्म के क्रोड मे समेट लिया गया है जिन्हे आर्य समाजी आजतक वैदिक नही मानते। इसी प्रकार महाभारत के समय प्रचलित भागवत या पाञ्चरात्रमत ने अवैदिक विश्वासो को स्वीकार कर लिया है। भक्ति, मूर्त्तिपूजा, गुह्ययोग, शक्तिवाद आदि तत्व जो पाञ्चरात्र मे मिलते है, बाहर से आये है। बाद मे इन्हे वैदिक सिद्ध करने की चेष्टा की गई हे जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है।

भारतवर्ष के विचारक एव साधक की यह विशेषता रही है कि वह ग्रहणीय वस्तु को ग्रहण कर उसे किसी न किसी रूप मे वेद के साथ अवश्य जोडने का प्रयत्न करता है, इससे उसके मत को स्वीकृति मिला जाती है। पाञ्चरात्र मत भी इसका

(१) वही, पृष्ठ २१

(२) वही, पृष्ठ २१ ऋषियो द्वारा निर्मित राजस शास्त्र मे दो भेद किये गए हैं—वैखानस और पाञ्चरात्र।

(3) The general trend of the panchratra is cleasly non—Vedie—Schrader, page—91

अपवाद नही है, किन्तु इतिहास के प्रकाश मे यह स्पष्ट है कि भारतीय भागवत मत द्रविड अथवा अन्य अनार्य जातियो से आर्य जातियो मे स्वीकृत हुआ है और एकबार स्वीकृत होने के पश्चात् उसे वेद के अनुकूल ढालने का अधिकाधिक प्रयत्न होता गया है। श्रेयर महोदय ने भी स्वीकार किया है कि सामान्यत पाञ्चरात्र मत अवैदिक है।

पाञ्चरात्र शब्द का अर्थ—तत्त्व, मुक्तिप्रद, भक्तिप्रद, यौगिक तथा वैशेषिक इन पाच' प्रकार के ज्ञान वर्णित होने के कारण 'पाञ्चरात्र' शब्द व्यवहृत होता है। 'रात्र' शब्द का अर्थ ज्ञान किया गया है। 'तत्त्व' का अर्थ सृष्टि की उत्पत्ति है। मुक्ति खण्ड मे आवागमन से मुक्ति प्राप्त करने के उपाय बताये गए है। भक्ति एव योग ऐसे ही उपाय है। वैशेषिक मे इन्द्रियो के विषयो का वर्णन है।

नारद पाञ्चरात्र मे 'रात्र' शब्द का अर्थ है 'किस प्रकार, हमे ज्ञात नही' 'शतपथ' मे 'रात्र' शब्द का अर्थ 'सत्र' है जो पाच दिन तक होता रहता था। ऐसा प्रतीत होता है कि शतपथ मे 'रात्र' शब्द को स्वीकार कर पाञ्चरात्र शब्द स्वीकार किया गया है और 'रात्र' का अर्थ 'ज्ञान' कर लिया गया है। इसका कारण यह है कि जिस प्रकार पाञ्चरात्र यज्ञ के कर्त्ता नारायण देवताओ मे श्रेष्ठ हो गए, उसी प्रकार पाञ्चरात्र शास्त्र का अभ्यासी श्रेष्ठता प्राप्त कर सकता है। इसके साथ साथ व्यूह भी पाच है जिन पर इस शास्त्र मे बहुत जोर दिया गया है। आजकल 'पाञ्चरात्र' शब्द से 'वैष्णव सम्प्रदाय' यह अर्थ लिया जाता है।

विषय—पाञ्चरात्र शास्त्र मे १० विषय है, दर्शन, मन्त्र, यन्त्र, माया, योग मंदिर निर्माण, प्रतिष्ठाविधि, संस्कार, वर्णाश्रम धर्म और उत्सव।

इस सूची से स्पष्ट है कि इस शास्त्र मे केवल भक्ति का विवेचन नही है, अपितु योग, मन्त्र, यन्त्र की भी विस्तृत चर्चा है और इसी से हमने इसे शैव शाक्त तत्वो से मिश्रित शास्त्र माना है।

दर्शन—शास्त्रावतार—अहिर्बुध्न्य संहिता मे दुर्वासा से भारद्वाज प्रश्न पूछते है और दुर्वासा उत्तर देते है। दुर्वासा कहते है कि यह शास्त्र सर्वप्रथम नारद को अहिर्बुध्न्य से प्राप्त हुआ था, अत नारद और अहिर्बुध्न्य के संवाद द्वारा दुर्वासा भारद्वाज के सम्मुख इस शास्त्र का आख्यान करते है। अहिर्बुध्न्य ११ रुद्रो मे से एक रुद्र है। शिव का सात्त्विक रूप ही अहिर्बुध्न्य कहलाता है। इससे यह स्पष्ट है कि

अन्य आगमो की तरह पाञ्चरात्र भी एक आगम है जो शिवोद्भूत है, इस तथ्य से यह भी प्रमाणित हो जाता है कि शैव, शाक्त एव वैष्णव मतो मे आधारभूत एकता होनी चाहिए, क्योकि तीनो मत शिव द्वारा ही उद्भूत हुए है। साथ ही यह भी पता चल जाता है कि शिव के मुख से उत्पन्न शास्त्रो मे आगमेतर तत्वो की अतर्भुक्ति सबसे अधिक हुइ है।[1]

ब्रह्म—ब्रह्म अनादि, अनन्त, अक्षर, अव्यय, अनाम, अरूप एव अवाङ्मनस गोचर है। किन्तु इतने विशेषणो द्वारा निराकार ब्रह्म के वणन के पश्चात पुन अहिर्बुध्न्य ब्रह्म के सगुण रूप का भी वणन करते है। अतएव वह ब्रह्म सवशक्तिमान है, षटगुणो से युक्त है। अपनी अनन्त शक्तियो के द्वारा ब्रह्म व्यक्त भी है और अव्यक्त भी, साकार भी है ओर निराकार भी है। गुणो के योग से वही ब्रह्म भगवान कहलाता है, समस्तभूतवासी होने से उसे 'वासुदेव' कहते है। हित एव रमणीयता के गभ होने से उसे ही 'हिरण्यगभ' कहते है। कल्याणकारक होने से उसे 'शिव' कहा जाता है।[2] ज्ञान, शक्ति, ऐश्वय, बल, वीय और तेज इन छह गुणो से युक्त ब्रह्म इस बात की रचना मे समथ होता है यद्यपि वह द्वन्द्वातीत है, तथापि अपनी शक्तियो से सृजन करता हे। गुणो की व्याख्या से ब्रह्म का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

ज्ञान का अथ है 'चेतनतत्त्व' अर्थात् ब्रह्म का प्रथम गुण चेतनता है। शक्ति का अथ है जगत् की उत्पत्ति एव प्रलय करने की सामथ्य। ऐश्वय का अथ है स्वतन्त्रतापूवक काय करने की शक्ति[3] बल का अथ है, जगत रचना करते हुए भी

(१) अहिर्बुध्न्यसहिता—एम०डी० रामानुजाचाय द्वारा सम्पादित, जिल्द, १, पृष्ठ १२
अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास, १९१६ ई० (प्रथम सस्करण)

(२) वही, पृष्ठ १५ १६

(३) अजड स्वात्मसबन्धि नित्य सर्वावगाहनम्
ज्ञान नाम गुण प्राहु प्रथम गुणचिन्तका
जगत्प्रकृतिभावो य सा शक्ति परिकीर्त्तिता
कर्तृत्व नाम यत्तस्य स्वातन्त्र्य परिबृंहितम्
ऐश्वय नाम तत्प्रोक्त वही, पृष्ठ १८

श्रान्त न होना । इसे 'श्रमहानि' कहा गया है । उपादान होने पर भी विकार से रहित रहना यह 'वीर्य' है । तेज का अर्थ है 'सहकायनपेक्षा' । किसी की सहायता के बिना ही ब्रह्म सृष्टि रचने मे समर्थ है ।[1] इस प्रकार ब्रह्म अपने गुणो द्वारा जगत का उपादान होकर भी विकार से रहित होताहै । कर्ता होकर भी अकर्ता है, चेतना होकर भी जड तत्व की सृष्टि करता है, वह परम स्वच्छन्द और स्वामी है वही भोक्ता है और अभोक्ता भी है । परस्पर विरुद्ध गुणो का आश्रय है ।

दर्शन मे सबसे बडी कठिनाई यह है कि ब्रह्म यदि 'उपादन' नही है तो ब्रह्म के अतिरिक्त किसी बाह्य पदार्थ को उपादान कारण मानना पडता है, जैसा कि साख्य ने किया है वहा प्रकृति एव पुरुष अलग अलग है किन्तु इससे 'द्वैत' का समर्थन होना है जो अन्य अनेक कठिनाइया लाता है परन्तु यदि ब्रह्म को ही उपादान कारण माना जाय तो उसमे 'विकार' आने का भय रहता है, क्योकि चेतन तत्व मे विकार आये बिना जड की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? इसीलिए आचार्य शकर ने विवर्त वाद का सिद्धान्त खोज निकाला था और जगत की सत्ता को अनिर्वचनीय माना था किन्तु भागवत मत को यह भी इष्ट नही था । जगत भी रहे और ब्रह्म भी, दोनो की सत्ता की रक्षा 'शक्ति सिद्धान्त' से इसीलिए की गई है । ब्रह्म तो सर्वशक्ति-मान है, अत वह उपादान कारण होकर भी अविकारी रहता है, ऐसा यदि मान लिया जाय तो अद्वैत की भी रक्षा हो जाती है और जगत की सत्ता भी सिद्ध हो जाती है । शक्ति एव शक्तिमान की एकता स्वय सिद्ध है और जगत ब्रह्म का नही उसकी शक्ति का कार्य है, अत जिस प्रकार शैव एव शाक्तो ने शक्ति के सिद्धान्त द्वारा अद्वैत की रक्षा की है उसी प्रकार पाञ्चरात्र मत भी जगत के अस्तित्व तथा ब्रह्म के अविकारत्व दोनो की रक्षा कर लेता है, अत सिद्धान्त शैव, शाक्त एव वैष्णव मत एक है ।

शक्तिवाद जिस शक्ति से पाञ्चरात्र मत ब्रह्म को सारे कार्यों का कर्ता बनाकर भी उसे अविकारी रखता है, उसका स्वरूप क्या है ?

१ श्रमहानिस्तु या तस्य सतत कुर्वतो जगत् ।
बल नाम गुणस्तस्य, कथितो गुणचिन्तकै । अहिर्बुध्न्य सहिता, पृष्ठ १८
तस्योपादान भावेऽपि विकार विरहो हि य
वीर्यं नाम गुण । पृष्ठ १६
सहकायनपेक्षा या तत्तेज समुदाहृतम्—पृष्ठ १६

शक्ति अवणनीय है, अचिन्त्या है, ब्रह्म से उसकी अप्रथक स्थिति है। उसे स्वरूपत नही देखा जा सकता, किन्तु शक्ति जब काय रत होती है, तब उसको जाना जा सकता है। वह सूक्ष्मा है, सारे पदार्थों मे व्याप्त है। वह 'यह है', 'यह नही ह' ऐसा कुछ नही कहा जा सकता।[१] वह ब्रह्म के साथ उसी प्रकार एकाकार है जिस प्रकार चन्द्रमा मे ज्योत्स्ना।[२]

'जयाख्यसहिता' मे बुध को सूय और शक्ति को रश्मि तथा ब्रह्म को अग्नि एव शक्ति को स्फुल्लिङ्ग और ब्रह्म को अम्बुधि और शक्ति को ऊर्म्मि कहा गया है।[३]

यह शकि स्वच्छन्द शक्ति' है, इसका प्रस्फुरण ही जगत है। यह उदित और अस्त होने वाली तथा निषेध और उन्मेषशालिनी है।[४] यह शक्ति निरपेक्ष है, आनन्दमयी है, नित्यपूण है, आत्मभित्ति पर अपना ही उन्मीलन कर यह शक्ति जगत के रूप मे परिणत होती है और उससे परे भी रहता है। काल से स्वतन्त्र होने से यह नितया, आकार न होने से पूण, देशो मे विभाजित होने से वह व्यापिनी है, यह रिक्त भी है और पूण भी है। जगत को देखकर शक्ति लक्षित होती है, अत वह 'लक्ष्मी' है विष्णुभाव का आश्रय लने के कारण यह श्री है। काम (इच्छा) पूण करने के कारण 'कमला' काल से परे होने से 'पद्मा' हे। विष्णु की सामथ्य रूपिणी होने से वह 'विष्णुशक्ति' है और अपने कार्यो से पति को प्रसन्न करती है, अत वह विष्णु 'पत्नी' हे। जगत को अपन भीतर सकुचित करती है, अत 'कुडलिनी' है। मन एव वचन से वह अदृष्ट है, अत वह 'अनाहता' है। शुद्ध सत्वाश्रया होने से वह 'गौरी' है। स्वसवित्ति से जगत को प्राण देती है, अत वह जगत्प्राणा है। गायको की रक्षिका है, अत गायत्री है। जगत का सृजन करती है,

(१) शक्तय सवभावानामचिन्त्या अप्रथक्स्थिता ।
स्वरूपे नैव दृश्यन्ते, दृश्यन्ते कायतस्तु ता ।
सूक्ष्मावस्था हि सा तेषा सवभावानुगामिनी ।
इदन्तया विधातु सा न निषेद्धु च शक्यते—अहि० सहिता, जिल्द १, पृष्ठ २०

(२) सवभावानुगा शक्तिर्ज्योत्स्नेव हिमदीधते वही, पृष्ठ २०

(३) जयाख्य सहिता—६—७८ एवम् १३—१०५—०६

(४) स्वातन्त्र्यरूपा सा विष्णो प्रस्फुरत्ता जगन्मयी ।
उदितानुदिताकारा निमेषोन्मेषरूपिणी—अहि० सहिता, पृष्ठ २१

अत वह 'प्रकृति' कहलाती है। माता, शिवा, तरुणी, तारा, मोहिनी, इडा, रति, सरस्वती, महाभासा वैष्णवी उसी के नाम है[1]

शक्ति के इस स्वरूप को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि पाञ्चरात्र मे शक्ति एव शक्तिमान ब्रह्म की एकता शैवो की ही तरह धर्म तथा धर्मी की एकता के सिद्धात पर प्रतिष्ठित है।[2] जिस अथ मे चन्द्र-चन्द्रिका, समुद्र उर्मि, सूय रश्मि की एकता है अथवा गुणी एव गुण की एकता है, उसी अथ मे ब्रह्म (विष्णु) तथा शक्ति (लक्ष्मी) का एकता है। स्वतत्रता ही शक्ति का स्वभाव है। इसीलिए वह जड रूप धारण कर भी ब्रह्म से अभिन्न रहती है। शैवो शाक्तो की तरह पाञ्चरात्रो ने "स एकाकी न रमते" श्रुति को आधार मानकर बताया है कि यह ब्रह्म मे सृष्टि इच्छा उत्पन्न होते हा ब्रह्म की स्वतत्र शक्ति 'उन्मेष' को प्राप्त होती है, अत यह सृष्टि ब्रह्म की इच्छा का उन्मेष मात्र है, अत उससे अभिन्न है। ब्रह्म की सृष्टि इच्छा ही शक्ति का प्रथम उन्मेष है। शैवो, शाक्तो ने जिस प्रकार सारा सृष्टि काम शक्ति द्वारा कराया है और ब्रह्म को 'तटस्थ' रखा है, उसी प्रकार पाञ्चरात्र मत भी सारा सृष्टि-काय शक्ति द्वारा ही कराता है। इससे ब्रह्म मे 'कर्तृत्व' का दोष नही आता है और साथ ही ब्रह्म से अभिन्न शक्ति द्वारा यह सृष्टि-काम होने से 'ब्रह्म' को जो श्रुतियों मे कर्त्ता कहा गया है वह भी साथक हो जाता है। 'परस्पर विरुद्ध धर्माश्रयी' ब्रह्म की स्थिति रक्षा शक्तिवाद द्वारा ही की गई है।

सृष्टि विकास ब्रह्म मे सर्वप्रथम सृष्टि सकल्प उत्पन्न होता है।[3] यदि यह पूछा जाय कि ब्रह्म तो पूण है, उसमे सकल्प क्यो उत्पन्न होता है, तो इसका उत्तर नही दिया जा सकता, क्योकि 'कैसे' सृष्टि विकास होता है, यह समझाना शास्त्र का काम है न कि 'अवाङ्मनसगोचर' ब्रह्म क्या सृष्टि रचता है, इसका उत्तर देना। फिर भी शास्त्र उत्तर देता है कि 'ब्रह्म आनन्दस्वरूप है, अत क्रीडा या आनन्द के लिए ही वह सृष्टि रचता है। यही 'क्रीडा का सिद्धान्त आगे लीला के सिद्धान्त

(१) वही, पृष्ठ २१, २२, २३
(२) देवाच्छक्तिमतो भिन्ना ब्रह्मण परमेष्ठिन ।
एष चैषा च शास्त्रेषु, धर्म धर्मि स्वभावत —अहि० सहिता, जिल्द, १—पृष्ठ २३

(३) तस्य स्यामिति सकल्पो भावतोऽभावतोऽपि वा ।
स्वातन्त्र्यान्नुयोज्येन-रूपेण परिवतते—अहि०—जिल्द १, पृष्ठ १२

मे विकसित हो गया है। सृष्टि ब्रह्म के स्वतत्र सकल्प का स्वत विकास है उसमे कोइ वाह्य उद्देश्य नही है।[1]

सुदर्शन 'लक्ष्मी' अपने एक (Aspect) को क्रिया शक्ति के रूप मे प्रकट करती है, यह 'क्रियाशक्ति 'सुदर्शन कहलाती है। यह 'सुदर्शन देश एव काल से परे है। 'भूति शक्ति लक्ष्मी का दूसरा अश है जो सुदर्शन से आगे की स्थिति है, क्रियाशक्ति 'निमित्त कारण है और भूत शक्ति 'उपादान कारण' है, यही दोनो मे अतर है।[2] विष्णु (ब्रह्म) सर्वातीत तत्त्व है, सृष्टि प्रक्रिया मे हमारा सम्बध केवल शक्ति' के साथ है जो शक्तिमान के सकल्प को पूरा करती है। जो भूति शक्ति के द्वारा सृष्टि रूप धारण करती है और क्रिया शक्ति के रूप मे सृष्टि का प्रेरिका बनती है और सृष्टि का शासन करती है।

शुद्ध सृष्टि प्रशान्त समुद्र म स्पदन के रूप मे क्षुभित शक्ति 'अप्राकृत' गुणो की सृष्टि करती है। ये गुण सत्त्व, रज, तम से परे, अप्राकृत गुण है। ये गुण ज्ञान, ऐश्वर्य शक्ति बल, वीर्य और तेज छह है। इन अप्राकृत गुणा के उपादान से वासुदेव के शरीर की रचना होती है और लक्ष्मी का शरीर भी इन्ही से बनता है। इन्ही अप्राकृत गुणा स निर्मित वासुदेव तथा लक्ष्मी वैकुठ म भक्तो द्वारा प्राप्त होते है। भक्त कविया के आराध्य और प्राप्य यही वासुदेव एव लक्ष्मी है।

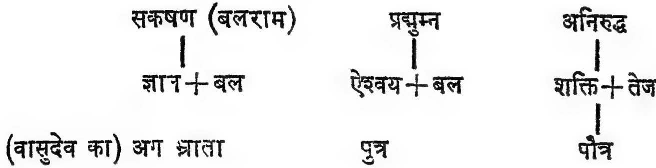
'वैकुठ का रचना भी अप्राकृत तत्त्वो से होती है। परन्तु विश्रामभूमि और 'श्रमभूमियो क निर्माण म अप्राकृत गुण द्वन्द्व प्रणाली अपनाते है और य अप्राकृत गुण भूतिशक्ति से भी सहायता लते है—

ज्ञान, ऐश्वर्य तथा शक्ति + भूति शक्ति = विश्राम भूमि
बल वीर्य तथा तेज + क्रिया शक्ति = श्रम भूमि

अप्राकृत गुणो द्वारा तथा अप्राकृत गुण, भूति एव क्रिया शक्ति के सयोग द्वारा शुद्ध-सृष्टि का रचना होती है उसे स्वरूपत 'आभासित सत्ता' कहा गया है यह आभासित सत्ता विकारो से परे हैं जैसे सूर्य से प्रकाश उत्पन्न होता है उसी प्रकार वैकुठादि आभासित होते है।[3]

(१) सर्वैरनुनुयोज्य तत्स्वातन्त्र्य दिव्यमीशितु ।
अवाप्त विश्वकामोऽपि क्रीडते राजवद्वशी—अहि० जिल्द १, पृष्ठ १२४
(2) An Introduction to Panchratra, Page 31
(3) Do, Page 34

व्यूह-सृष्टि षड्गुणो के ३ द्वन्द्वो मे सकर्षण प्रद्युम्न एव अनिरुद्ध प्रकट होते हैं इनका क्रम इस प्रकार है—



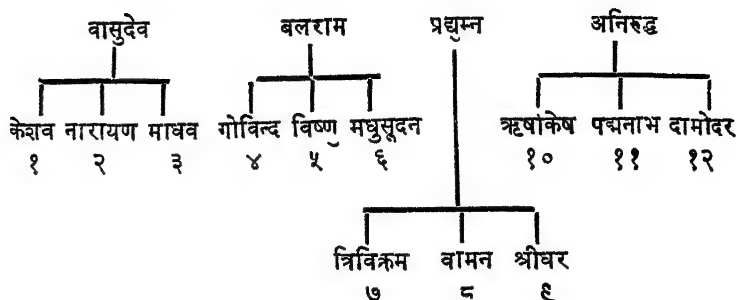
शक्तियाँ



'वासुदेव' 'ब्रह्म' है जो शान्ति और शिव (सकषण) को उत्पन्न करते हैं, प्रद्युम्न, ब्रह्मा है और सरस्वती उनकी 'शक्ति' है, अनिरुद्ध को 'पुरुषोत्तम' कहा गया है और रति उनकी शक्ति है। यह शुद्ध सृष्टि है, अविकारी है।

'सकषण' के रूप मे ब्रह्म 'बल' द्वारा 'अव्यक्त प्रकृति' को अस्तित्व मे लाता है। प्रद्युम्न के द्वारा प्रकृति एव पुरुष का द्वन्द्व व्यक्त होता है। काल, प्रकृति और आत्मा प्रकट होते है और अनिरुद्ध के द्वारा इस सृष्टि की रक्षा होती है। नवीन सहिताओ मे कही कही अनिरुद्ध को सृष्टिकर्त्ता, सकषण को सहारकर्त्ता और प्रद्युम्न को सृष्टि का रक्षक कहा गया है[1] सकषण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध सृष्टि काम के अतिरिक्त 'नैतिक' काय भी करते है। बलराम (सकषण) एकातिक माग (पाञ्चरात्रमत) की शिक्षा देते हैं। प्रद्युम्न इन सिद्धान्तो को कामरूप मे परिणत करते है और अनिरुद्ध इस 'साधना' का फल देते है।[2] इन तीनो महा शक्तियो की ब्रह्म के साथ अभिन्नता दिखाने तथा आगे सृष्टि विकास के लिए वासुदेव कृष्ण के १२ नाम चुन लिये गए है, जिनसे १२ मास उत्पन्न होते हैं—

(1) An Introduction to Panchratra, Page—37 38
(२) वही, पृष्ठ ४०



उपर्युक्त देवता बारहमासो के 'अधिदेवता' के रूप मे स्वीकृत है। इन देवताओ (शक्तियो) के वेश, प्रभा, वस्त्र, अस्त्र आदि का अन्य तन्त्रो की तरह वर्णन किया गया है। मस्तक पर वैष्णव लोग जो चदन आदि से खडी रेखाएँ खीचते है, वे इन्ही देवताओ की प्रतीक है। 'तिलक' का यही रहस्य है।[1]

अवतार शुद्ध सृष्टि मे 'अवतार' या "विभव" (Manifestation) की भी गणना होती है। अहिर्बुध्न्य सहिता मे ३९ विभवो की गणना है।[2] इनमे कपिल, लोकनाथ, दत्तात्रेय, परशुराम, राम और 'कल्कि' भी सम्मिलित है। इस प्रथम सूची मे 'बुद्ध' या 'ऋषभ' को स्वीकृत नही किया गया है, जैसा कि बाद के वैष्णव पुराणो (श्रीमद्भागवत) मे किया गया है। परन्तु 'अभेद बुद्धि' की दृष्टि से बौद्ध एव जैनधर्म प्रवर्तक भी स्वीकृत है।[3]

अवतार सिद्धान्त मे दीपशिखा का सिद्धान्त स्वीकृत है। जिस प्रकार दीप शिखा से ज्योति का प्रवाह उत्पन्न होता है, उसी प्रकार अवतार परपरा विष्णु-ज्योति की प्रवाह परपरा है। इन ज्योतियो मे से किसी एक की साधना से मुक्ति प्राप्त होती है। उपर्युक्त ३९ अवतार मुख्यावतार कहे गए है, परन्तु कुछ गौण या 'आवेशावतार' भी होते हैं। जब विष्णु शक्ति से प्रेरित होकर कोई 'जीवात्मा'

---

(१) वही, पृष्ठ ४१ ४२

(२) अहि०, जिल्द १, पृष्ठ ४६-४७

(३) बुद्धात्मना च बौद्धाना स एव जगति स्थित ।
स एव शाम्बराणा च निवारणरूपधृक्—अहि० जिल्द २, पृष्ठ ३१२

किसी विशिष्ट काम के लिए अवतरित होती है, तो उसे 'आवेशावतार' कहते हैं। इच्छा-पूर्ति के लिए ये द्वितीय प्रकार के अवतार पूज्य है।[1]

अपेक्षाकृत नवीन सहिताओ मे इन वैष्णवी शक्ति से 'आविष्ट' अवतारो मे ब्रह्मा, शिव, बुद्ध, व्यास, अजुन, परशुराम, वसु तथा कुबेर की गणना की गई है।[2] इसका अथ यह है कि मुख्य तथा गौण अवतारो के विभाजन मे सहिताओ मे मतभेद दिखायी पडता है। गौण अवतारा मे पशु, मानव, पादप, पक्षी भी अवतार हो सकते है। देवताओ की और अवतारो की मूर्त्तिया भी पाञ्चरात्र विधि से पूजित होने पर 'अवतार' हो जाती है, क्योकि उनमे विष्णु शक्ति अवतरित होती है।[3] इन मूर्त्तियो को इसीलिए 'अचावतार' कहा जाता है। मूर्त्ति पूजा वस्तुत 'शक्तिपूजा' है, प्रस्तर पूजा नही, क्योकि साधक अपनी रुचि और सकल्प के अनुसार किसी भी मूर्त्ति को चुन लेता हे और वह मूर्त्ति वैष्णवी शक्ति से आविष्ट होने के कारण फल देती है, शक्ति द्वारा (आत्मशक्ति) शक्ति की उपासना ही मूर्त्तिपूजा का रहस्य है।

एक और अवतार 'अतयामी अवतार के नाम से स्वीकृत है। अनिरुद्ध सब आत्माओ का शासक है, अत वह सब मे व्याप्त रहता है। यह अतर्यामी अवतार धूम्ररहित ज्याति के रूप मे हृदयदेश मे प्रतिष्ठित रहता है। योग प्रक्रिया द्वारा इस अतर्यामी रहस्यात्मक शक्ति को जागृत किया जाता है।[4]

स्वर्ग-सिद्धान्त शुद्ध सृष्टि मे अवतारो के अतिरिक्त वैकुण्ठ का भी वणन है। इसे 'परमव्योम' कहा गया है। आनन्द, भोग, वैभव सब कुछ यहाँ

(१) वही, पृष्ठ ४७-४८

(2) An Introduction to Panchratra Page 48

(३) वही, पृष्ठ ४८

(४) श्रेडर, पृष्ठ ४१

प्राप्त है, परन्तु यह सब अप्राकृत और विकार रहित है।[1] यह 'परम व्योम' विष्णु की तीन चौथाई शक्ति से रचित है। यह 'परम व्योम' ब्रह्माण्ड से परे है, ब्रह्माण्ड के स्वग अनेक है जो विष्णु की एक चौथाई शक्ति से बनते है। परमव्योम या वैकुठ मे पदाथ एव मुक्त प्राणी दोनो रहते है, परन्तु जिस भूततत्त्व से वैकुठ के पुष्प, माला, चदन, मोती, जवाहर, वस्त्रादि की रचना होती है, वह भूततत्त्व 'अप्राकृत' है, यह विशेषता है। इस 'परमव्योम' म वासुदेव, व्यूह, अवतार और मुक्त जीव नित्य के आनन्द, क्रीडा और सुखभोग म तल्लीन रहते है।[2]

इस परम व्योम मे मुक्त जीव लक्ष्मी मुक्त भगवान के दशन का लाभ उठाते है। भगवान का षड्गुणधारी अप्राकृत रूप केवल मुक्तो को ही सुलभ है। वैकुठ भगवान का नित्य विहार का स्थल है। महाप्रलय का भी इस परम व्योम पर कुछ प्रभाव नही होता। वैकुठलीला अपतिहृत रूप से, सृष्टि एव लय से अप्रभावित होकर चलती रहती है।[3] यद्यपि 'प्रकाश सहिता' के अनुसार यह 'परमव्योम' भी महाप्रलय के समय ब्रह्मा मे लय हो जाता है[4] वासुदेव परम व्योमवासी कौस्तुभ श्रीवत्स, गदा, शख, धनुष, असि, असिकोष, चक्र, बाण, हार आदि आभूषण धारण करते है।[6] तान्त्रिका की तरह इन आभूषणो के पारमार्थिक अथ भी दिये गए है जिनसे लगता है कि 'परमव्योम' का वणन भी उच्चतम सत्ता की प्राप्ति के लिए एक प्ररणा के रूप मे ही गृहीत हुआ है—

कौस्तुभ—आत्मा	चक्र—मन
श्रीवत्स—प्रकृति	बाण—इन्द्रिया

(१) शुद्धा पूर्वोदिता सृष्टिर्या मा व्यूहादिभेदिनी।
सुदर्शनाख्यात्संकल्पात्तस्या एव प्रभोज्ज्वला।
ज्ञानानन्दमयी स्त्याना देशभाव व्रजत्युत।
स देश परम व्योम निमल पुरुशात्परम्
तत्रानन्दमयभोगा लोकोश्चानन्दलक्षण
ज्ञानानन्दमया देहा, मुक्ताना भावितात्मनाम्—

अहि०, जिल्द १ पृष्ठ ५२-५३

(2) Introduction to Panchratra—Page 50-52

(३) वही, पृष्ठ ५०

(४) वही, पृष्ठ ५०

गदा—महत् हार—तत्त्व

शख—सात्त्विक अहकार असि —ज्ञाप

असिकोष—अज्ञान

इस परमव्योम या बैकुठ मे स्थित वासुदेव को व्यूह वासुदेव से अलग करने के लिए 'परवासुदेव' कहा गया है।[1] शैव भी सर्वातीत तत्त्व को 'परमशिव' कहते है। व्यूहवासुदेव (शैवो का 'शिव') परवासुदेव से ही उत्पन्न होता है। यह 'परवासुदेव' परमव्योम मे कभी 'लक्ष्मी के साथ और कभी कभी-तीन और आठ शक्तियो के साथ विहार करता है। इनमे श्री, भूमि और नीला जैसी देविया है। अहिबुध्न्य सहिता मे कहा गया है कि परवासुदेव के साथ-साथ अन्य देवताओ तथा शक्तियो की उपासना भी करनी चाहिए इनके अस्त्र, शस्त्र, वेष भषादि का ध्यान और मत्र साधना का विधान भी मिलता है।[2] सातोपनिषद मे स्पष्ट कहा गया है कि श्री, भूमि एव नीला, इच्छा, क्रिया तथा साक्षात शक्ति के साथ सम्बद्ध की गइ है।[3] उसी प्रकार शैवो एव शाक्तो ने इच्छा, क्रिया, ज्ञान को शक्ति ही रूप स्वीकार किया है। श्री को सौभाग्य, भूमि को प्रभाव तथा नीला को सूय, चन्द्र एव अग्नि प्रतीक भी माना गया है। 'श्री शक्ति के तीन रूप बताये गए है I योग II भोग III वीर शक्ति, इनका क्रमश योग, गाहस्थिक तथा मदिर पूजा से सम्बन्ध स्थापित किया गया है।[4] अत 'परमव्योम का सम्बध केवल ब्रह्माण्ड से बाहर स्थित कल्पित स्वग से ही नही है, अपितु वह आतरिक एव बाह्यसाधना का भी 'परमव्योम' मे वर्णित आठ शक्तियो म कीर्त्ति श्री विजया, श्रद्धा, स्मृति, मेधा, धृति तथा क्षमा की गणना का गई है।[4] स्पष्ट है कि य

(1) An Introduction to Panchratra—Page 53

(२) तथाऽस्य परिवाराणा देवाना शक्तियोषिताम् ।
मन्त्राणामस्त्रशस्त्राणा स्वै स्वैर्नामभिरचनम् । अहि० सहिता,
जिल्द १, पृष्ठ २६८

(3) An Introduction to Panchratra Page 54

(४) वही, पृष्ठ ५५

देविया पिण्ड स्थित भी हैं और स्वगस्थित भी अत स्वग भीतर भी है और बाहर भी।[1]

इस 'परमव्योम' मे जो जीव रहते है उनका भी विभाजन किया गया है। नित्य या सूरि जीव परवासुदेव द्वारा आदेशित कुछ विशेष काय करते है। इनके काम रहस्यमय है, चण्ड, प्रचण्ड, भद्र, सुभद्र आदि ऐसे ही नित्य जीव है। इनमे वासुदेव के 'पारिषद' भी है यथा 'अनन्त' (सपराज) भगवान की शैया का काम करते हैं और 'गरुड' वाहन हैं। ये 'नित्य' जीव इच्छानुसार अवतार भी धारण कर सकते है।[2]

नित्य जीवो से कुछ हीनतर जीव 'मुक्त जीव' कहलाते है जो 'त्रसरेणु' के आकार के है। इनका शरीर आध्यात्मिक है, ये सूक्ष्म शरीर धारण कर सकते हैं और जगत मे विचार सकते है, परन्तु जगत के विधान मे हस्तक्षेप नही कर सकते जैसा कि 'नित्य जीव करते हैं। वासुदेव की सेवा एव क्रीडा मे ये जीवभाग ले सकते हैं।[3] पाचरात्रों ने 'परमयोम' की कल्पना द्वारा जीवो को आध्यात्मिक उन्नति के लिए अत्यधिक प्रेरित किया है। शैवो ने 'कैलाश' की कल्पना भी इसी प्रकार की थी।

आगे चलकर रामानुजीय वैष्णवो ने ज्ञानी जीवो की केवलावस्था के वणन मे बताया है कि भक्ति द्वारा जो वासुदेव की उपासना करते है उन्हे 'परमव्योम' प्राप्त होता है, परन्तु जो 'आत्मस्वरूप' पर विचार करते है वे ब्रह्माण्ड एव स्वग के बाहर कही किसी कोने मे उस स्त्री के समान पडे रहते है जिसका पति खो गया है[4] इस प्रकार भक्तो का महत्त्व ज्ञानियो से कही अधिक है, इस पर वैष्णवो ने हमेश जोर दिया है।

(१) सात्त्वत सहिता मे लक्ष्मी, पुष्टि, दया, निद्रा, क्षमा, काति, सरस्वती, धृति, मैत्री, रति, तुष्टि तथा मति ये बारह शक्तियो के नाम है—An Introduction to Panchrntra, Page 55

(२) वही, पृष्ठ ५७

(३) वही, पृष्ठ ५८

(4) An Introduction to Panchratra-Page 58 59

शुद्धेतर सृष्टि

'भूतिशक्ति' का विकास आगे चलकर 'कूटस्थ' एव 'माया शक्ति' के रूप मे होता है। यह सृष्टि शुद्ध और अशुद्ध शक्तियो के मिश्रण से विकसित होती है।

कूटस्थ भूति शक्ति के शुद्ध एव अशुद्ध तत्त्वो से पुरुष या कूटस्थ की उत्पत्ति होती है। कूटस्थ या पुरुष को सभी आत्माओ की समष्टि कहा गया है। यह कूटस्थ अनादिवासना से कुठित रहता है,[1] अत 'कूटस्थ' से ही अनेक जीव उत्पन्न होते है, इन भिन्न-भिन्न व्यष्टि जावो की समष्टि का नाम ही कूटस्थ या पुरुष है। पुरुष शुद्ध है, परन्तु वासना के कारण अशुद्ध भी होता है, व्यष्टि जीवो मे भी यही विशेषता देखी जाती है। कूटस्थ या पुरुष प्रद्युम्न से उत्पन्न होता है। इसी कूटस्थ से चतुर्वण,—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र उत्पन्न होते हैं, 'ऋग्वेद' के पुरुषसूक्त को आधार बनाकर इन वर्णो की उत्पत्ति बतायी गई।[2] कूटस्थ की कल्पना मे पाञ्चरात्रो ने अन्य तान्त्रिको की तरह यह ध्यान रखा है कि परमशिव या परवासुदेव के सर्वातीत रूप मे बाधा न पडे, अत जीवो की समष्टि के रूप मे 'कूटस्थ' की कल्पना की गई है। उपनिषदो के 'प्रजापति' से इस कूटस्थ का सादृश्य स्पष्ट है।

मायाशक्ति इसे भगवत् शक्ति, मूलप्रकृति, शाश्वतविद्या या विद्या भी कहा गया हे। यह भौतिक प्रकृति के पदार्थों का समष्टि रूप स्रोत है। पुरुष या कूटस्थ के साथ मायाशक्ति या मूलप्रकृति की उत्पत्ति होती है और इन दोनो के सयोग से भौतिक शरीर स्थित जीवो की उत्पत्ति होती है।

शक्ति से नियति एव नियति से काल की उत्पत्ति होती है। काल से 'गुण' उत्पन्न होते हैं। नियति सूक्ष्म नियामक शक्ति है जो विष्णु के सकल्प (सुदशन) से

(१) सर्वात्मना समष्टिर्या कोशो मधुकृतामिव।
शुद्धच शुद्धिमर्यो भावो, भूते स पुरुष, स्मृत।
अनादिवासनारेणु कुण्ठित तैरात्मभिश्चित —अहि० सहिता, जिल्द १, पृष्ठ ५४

(२) वही, पृष्ठ ५०

उत्पन्न होती है। काल कलनात्मक शक्ति है कलना का अर्थ 'गणना' (Measure) काल पदार्थों का पाचन (Cooking) भी करता है।[1]

काल से सत्त्व गुण, उससे रज और रज से तमस् की उत्पत्ति होती है और इस प्रकार 'जीव' के भौतिक शरीर की रचना पूर्ण होती है।

विद्या (माया) नियति एवं काल नामक शक्तियों का यह वर्णन शैवागमों से अद्भुत सादृश्य रखता है। शैवागमों में इन्हें 'कंचुक' कहा गया है। 'कंचुक' जीव की पूर्णता को सीमित करने वाली शक्तियाँ है। शैवागमों में कंचुकों की संख्या छह है—माया, कला, विद्या, राग, नियति और काल। श्री श्रेडर भी इस तथ्य से सहमत है कि आगे चलकर शैवों के आगमों में पाञ्चरात्रों के तीन कंचुकों या कोशों या 'संकोचों' का विस्तार किया गया है। मेरी मान्यता यह है कि कोशों की कल्पना तो उपनिषदों में भी है, और उपनिषदों के इसी 'कोश' सिद्धान्त से पाञ्चरात्रों तथा शैवों ने प्रेरणा ली है। पाञ्चरात्रमत में प्राप्त वैष्णवमत प्राचीन शैवागमों से अभिन्न मत है। किन्तु प्राचीन शैवागम हमें प्राप्त नहीं हैं पाञ्चरात्र आगम भी मिश्रित शैव वैष्णव साधना का ग्रन्थ है और उत्पलाचार्य ने पाञ्चरात्र संहिताओं की अनेक बार चर्चा की है, उन्हें प्रामाणिक माना है।[2] पाञ्चरात्रों की 'नियति' को नियामक माना गया है जो जीवों की प्रत्येक क्रिया, इच्छा और ज्ञान की नियामक है। शैवागमों की विद्या, राग तथा कला के कार्य भी पाञ्चरात्र केवल 'नियति' शक्ति द्वारा कराते है। अतः वह सर्वनियामक' कही गई है। 'काल' का कार्य कलन' है, जो शैवागमों से सादृश्य रखता है। काल प्रत्येक पदार्थ एवं जीव को परिपक्वता के लिए प्रेरित करता है, काल में ही सबको परिपक्वता प्राप्त

---

(१) कालस्य नियतिर्नाम सूक्ष्मा सर्वनियामका।
उदेति प्रथमं शाक्तेर्विष्णोः संकल्पचोदितं
कालस्य पाचनं रूपं यत्तु तत्कलनात्मकम्
उदेति नियते सोऽथ कालः संकल्पचोदित

अहि० संहिता, जिल्द १, पृष्ठ ५७

(२) द्रष्टव्य-स्पन्द प्रदीपिका उत्पलाचार्य (कश्मीर—१०वीं शताब्दी में) इसमें जयाख्य, हंसपारमेश्वर, वैभाष्य, पारमेश्वर संहिताओं की चर्चा मिलती है—Introduction to Panchratra, Page--18

होती है, तट मे सरिताधारा के तुल्य काल मे ही यह जगती का प्रवाह चल रहा है।[1]

काल के दो रूप है I जिसे हम 'काल' (Time) कहते ह, भूत, भविष्य, वतमान इत्यादि, यह काल का स्थूलरूप हे II सूक्ष्मकाल, यह काल स्थल काल की प्रभावित करता रहता हे।

प्रथम काल 'कायकाल' है और द्वितीय 'अखण्डकाल' है, सूक्ष्म है। एक तृतीयकाल और है जो शुद्ध सृष्टि मे स्थित है, वह 'पर' काल है। यह 'परकाल व्यूहो की चेष्टा मे प्रकट होता है[2] परवासुदेव काल से अतीत तत्त्व है।

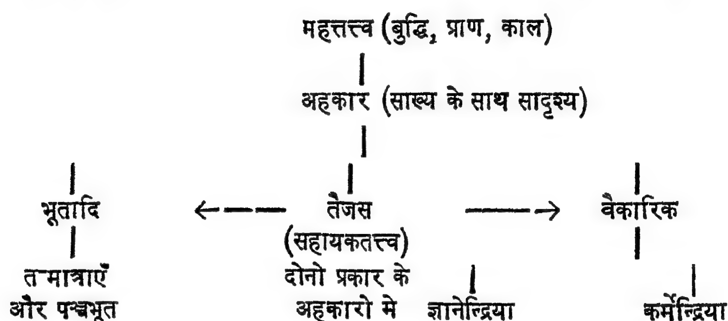
अशुद्ध सृष्टि अशुद्ध सृष्टि के विकास मे पाञ्चरात्र साख्य से सहायता लेता हे साख्य पुरुष एव प्रकृति से सृष्टि काय प्रारम्भ करता है जबकि पाञ्चरात्र पुरुष, (कूटस्थ) प्रकृति तथा काल तीन शक्तिया को स्वीकार करता हे। प्रकृति एव पुरुष का सम्बध साख्य के अनुसार 'परिणामवाद' के अनुसार वर्णित है, दूध से दधि का विकास जिस प्रकार होता हे, वैसे मूल प्रकृति से पदार्थो का विकास होता है। पुरुष के सम्पक से ही प्रकृति (चुम्बक लौह न्याय) काय करती हे। परन्तु पुरुष एव प्रकृति दोनो का काल शक्ति द्वारा पाचन होता रहता।[3] पाञ्चरात्र इसी 'कालशक्ति' द्वारा प्रकृति एव पुरुष की स्वतन्त्रता तथा शाश्वतता को सीमित करता हे और परम-तत्त्व के सकल्प (इच्छा) को अधिक महत्त्व देता है। दूसरे साख्य जहा अनेक पुरुषो की सत्ता स्वीकार करता है, वही पाञ्चरात्र केवल एक 'कूटस्थ' की सत्ता मानता है जो अनेक जीवो की उत्पत्ति का स्रोत है। द्वैत और अद्वैत दोनो की रक्षा का यही पाञ्चरात्रीय प्रयत्न हे।

(१) कल्यत्यखिल कालम (कायम्) नदीमूल यथा रय —अहि० सहिता, जिल्द १, पृष्ठ ५८

(२) स्थूलो लवादिमायकाल सूक्ष्मस्तत्त्वनिरूपक ।
व्यूहाना चेष्टितव्यापी पर कालो निरूप्यते—अहि० सहिता, जिल्द २, पृष्ठ ५५

(३) पयोमृदादिवत्तत्र प्रकृति परिणामिनी ।
पुमानपरिणामी सन सनिधानेन कारणम्
काल पचति तत्त्वे द्वे प्रकृति 'पुरुष' च ह—अहि० सहिता, जिल्द पृष्ठ ६१

उपयुक्त तीन शक्तियो पुरुष, प्रकृति एव काल के सयोग से 'महत्तत्त्व' (बुद्धि) की उत्पत्ति होती है। इसे भी 'देवी' के रूप मे स्वीकार किया गया है। अहिबुध्न्य सहिता मे इसके अन्य नाम है—विद्या, गो, अवनि, ब्राह्मी, वधू, वृद्धि, मति, मधु, अख्याति, ईश्वर तथा प्राज्ञ[1]। साख्य मे बुद्धि तथा महत् एक ही तत्त्व है, जबकि पाञ्चरात्र मे महत् के सात्त्विक रूप का नाम 'बुद्धि' है। पाञ्चरात्र मे 'महत्' के तीन रूप हैं—बुद्धि, प्राण एव काल। इसके पश्चात सृष्टि क्रम इस प्रकार है—



इस प्रकार पदाथा से निर्मित भौतिक शरीर मे मनु (चेतना) का अवतरण या पठन होता है। आदम और ईव की तरह ही पाञ्चरात्र मे ज्ञान से रहित जीव बन्धन ग्रस्त होता है। चूकि इस पतन या बन्धन मे 'परवासुदेव' की इच्छा या सकल्प ही कारण है, अत भगवान पर निभर रहकर उसकी कृपा से ही उद्धार सम्भव है।

सृष्टि और लय ब्रह्माण्ड (Cosmic egg) के दिवस के प्रारम्भ म पदार्थो की सृष्टि उक्त क्रम से होती हे। ब्रह्माण्ड का देवता ब्रह्मा का निसक है। ब्रह्माण्ड का एक दिवस चार करोड बत्तीस लाख मानुषी वर्षा के बराबर होता है। तब इसके पश्चात् ब्रह्मा की रात्रि प्रारम्भ होती है जिसमे सब रूप नष्ट हो जाते है। परन्तु पञ्चभूत एव ब्रह्माण्ड अवशिष्ट रहते हैं। यह 'अवान्तर' प्रलय है। अनेक अवान्तर या नैमित्तिक प्रलयो के पश्चात् ब्रह्मा की आयु समाप्त हो जाती है और तब महाप्रलय होती है। इसमे पञ्चभूत, तथा ब्रह्माण्ड भी लय हो जाता है। महाप्रलय की रात्रि भी ब्रह्मा की पूरी आयु के बराबर होती है। तब पुन 'पुरुष'

(१) अहिबुध्न्य सहिता—जिल्द १, पृष्ठ ६१
(2) Introduction to Panchratra, Page 72-73

ब्रह्मा द्वारा सृष्टि कराता है। लय का क्रम इस प्रकार है पृथ्वी जल मे, जल तेज मे, तेज वायु मे वायु आकाश मे आकाश अहकार बुद्धि मे बुद्धितमसि मे तम रज मे, रज सत्व मे, सत्त्व गुण काल मे काल नियति मे नियति शक्ति मे शक्ति कूटस्थ मे, कूटस्थ अनिरुद्ध मे, अनिरुद्ध प्रद्युम्न मे प्रद्युम्न सकषण मे और सकषण वासुदेव मे लय हो जाता है।[1] केवल शक्ति युक्त वासुदेव शेष रहते है इन्ही शक्ति एव शक्तिमान से पुन सृष्टि होती है।

इस प्रकार अन्य शक्तिवादी शास्त्रो—शैवागमो तथा शाक्ततत्रो की तरह, वाह्य विभाजन भेदो को छोडकर, एक ही 'शक्ति सिद्धान्त पर पाञ्चरात्र-दशन प्रतिष्ठापित है। साधना मे भी यह 'शक्तिवाद' हा स्वीकार किया गया है। शकराचाय का विवत्तवाद माया' को 'आवरण विक्षेपमय मानता है और यह नही सिद्ध कर पाता कि 'माया' की स्थिति ब्रह्म के साथ क्या है, अथवा 'माया' को ब्रह्म आवरण के रूप मे क्यो स्वीकार करता है ? किन्तु पाञ्चरात्र क्रीडा या लीला का सिद्धान्त स्वीकार करता है—

लीला के आनन्द के लिए ही ब्रह्म अपनी शक्ति से अपने अश रूप मे 'जीव' की और दूसरे अश से प्रकृति की रचना करता है और साथ ही यह सारा काय शक्ति द्वारा होने पर यह वस्तुत 'तटस्थ रहता है, इस प्रकार भेद और अभेद दोनो की रक्षा हो जाती है। माया को शकराचाय शक्ति नहीं मानते, किन्तु पाञ्चरात्री, शैव एव शाक्त सभी 'शक्ति के रूप मे स्वीकार करते है। परिणामत शक्तिवादी जडजगत् को भी शक्ति के ही एक रूप मे स्वीकार करते है जबकि शकराचाय जगत की केवल प्रतिभासिक सत्ता मानते है। पाञ्चरात्रो, शैवा एव शाक्तो मे दाशनिक दृष्टि से आधारभूत एकता है, यह स्पष्ट है।

साधना साधना के पूव जीव ब्रह्मा का सम्बध जानना आवश्यक है। ब्रह्म (पर वासुदेव) की सृष्टि, रक्षा एव नाश इन तीन शक्तियो के अतिरिक्त दो शक्तिया और हैं—निग्रह और अनुग्रह। निग्रह शक्ति से ब्रह्म क्रीडाथ अपने अश को (जीव) बधन मे बाधता है और अनुग्रह शक्ति से मुक्त कर देता है। अपनी शक्ति द्वारा 'जीव' को बधन ग्रस्त करना और मुक्त कर देने के इस सिद्धान्त पर शैव प्रभाव है।[2] जीव को जो पाञ्चरात्र मे 'अणु' कहा गया है, उसका अथ है कि

(१) अहिबुध्न्य सहिता, जिल्द १, पृष्ठ २८ से ३८ तक
(२) Introduction to Panchratra, Page 90

जीव ब्रह्म के सवव्यापकता सवशक्तिमत्ता आदि गुणो मे उसके समान नही हैं जीव साधना द्वारा मुक्तावस्था को प्राप्त करता है तब वह परवासुदेव के साथ अभिन्न हो जाना है, परन्तु यह स्मरणीय है कि इस एकता मे भी जीव का व्यक्तित्व सुरक्षित रहता है। पाञ्चरात्र मत की यह विशेषता है, परन्तु आगे के शैव, शाक्त पाञ्चरात्र या भागवत मत के इस सिद्धान्त से सहमत नही ह, व पूण अद्वैत अर्थात ब्रह्म के साथ पूण अभेद चाहते है। 'अणु' रूप जीव को पूण विभुता का प्राप्ति कराना ही साधना का लक्ष्य है, परन्तु 'विभुता' के अथ म भिन्नता ह। पाञ्चरात्र 'विभु' का अथ यह लेते है कि जीव मुक्त हो जाने के पश्चात् 'अणुता' के स्थान पर विभुता प्राप्त कर लेने पर भी 'परवासुदेव' के समान 'पूणविभु' नही हो सकता।

जीव की अणुता का कारण हे भगवान की निग्रह शक्ति। यह शक्ति ईश्वरीय गुणो का तिरोधान करती है। आकार के तिरोधान से 'अणुत्व', ऐश्वय के तिरोधान से अकिंचित्करता ह और विज्ञान के सकोच से 'अज्ञता' प्राप्त होती है। भगवान की इस तिरोधान शक्ति से त्रस्त जीवगणो को देखकर भगवान मे अनुग्रह शक्ति जाग्रत हो जाती है।[1] और इस अनुग्रह शक्ति से अणुत्व, अकिंचित्करता तथा अज्ञान का नाश करने के लिए जीव उन्मुख होता है। भगवान की 'अनुग्रह शक्तिपात' के बिना जीव अनादि वासना से जन्म मरण के बन्धन (तिरोधान परपरा) से मुक्त नही हो सकता।[2] विष्णु का जिस जीव पर

(१) एव ससृतिचक्रस्थे भ्राम्यमाणो स्वकमभि
जीवे दु खा कुल विष्णो कृपा काऽप्युपजायते।—अहिर्बुध्न्य जिल्द १
पृष्ठ १२६

विष्णु की 'कृपा का सिद्धान्त बौद्ध 'अवलोकितेश्वर' की करुणा से अद्भुत सादृश्य रखता है।

(२) 'शक्तिपात का यह सिद्धान्त शैवागमो से अद्भुत सादृश्य रखता है। पाञ्चरात्र पर शैव शक्तिपात सिद्धान्त का प्रभाव स्वीकार करते है—श्रेडरमहोदय भी। **Introduction to Panchratra, Page 115**

'करुणा' उत्पन्न हो जाती है, उस पर उनका 'शक्तिपान' होता है।[1] शक्तिपात ही जीव को इस ससार से पार उतारता है।[2]

शक्तिपात की पहिचान यह है कि इसके पश्चात् जीव 'मोक्षसमीक्षा' से युक्त हो जाता है। वह वैराग्य मे प्रवतमान तथा विवेक मे अभिनिवेश प्राप्त करता है[3] वह साख्य, योग तथा उग्रव्रत (पाशुपत मत) धारण करता हुआ क्रमश अन्त मे वष्णवतमत की ओर अग्रसर होता हे और अनाविल वैष्णवपद को प्राप्त होता है।

मनुष्य जीवन का उद्देश्य है, दु खसतति से आत्यन्तिकी मुक्ति प्राप्त करना और आत्यन्तिक आनन्द प्राप्त करना[4] आनन्द या नित्य सुख भगवन्मयता प्राप्ति से ही सम्भव है, अर्थात् ईश्वरीय गुणो की प्राप्ति से ही जीव नित्य सुख का अधिकारी बनता है।[5] इस भगवन्मयता को 'ज्ञान' और 'धम' से प्राप्त किया जा सकता है। इनमे भी धम प्रथम सोपान है।

ज्ञान के दो प्रकार है—(१) साक्षात्कारमय ज्ञान (२) परोक्ष ज्ञान[6] परोक्ष-ज्ञान साक्षात्कारमय ज्ञान का सोपान मात्र है। धर्म के भी दो प्रकार है—

(१) व्यवधान धर्म (२) साक्षात् आराधना धर्म। व्यवधानधम मे वासुदेव के किसी प्रतिनिधि देवता या अवतार की आराधना की जाती है यथा ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र आदि किसी देवता की आराधना। साक्षात् आराधना का तात्पय है वासुदेव' उपासना। इसमे अन्य देवताओ की उपासना नहीं की जाती। पाचरात्र उपासना साक्षात् उपासना है जब कि वैदिक एव पाशुपत उपासना व्यवधान

(१) शक्तिपात, शक्तिपाक तथा शक्तिभाव ये तीन पाठ अहिबुध्न्य सहिता मे मिलते हैं—अहि० जिल्द १, पृष्ठ १२७

(२) शक्तिपाक स वै जीवमुत्तारयति ससृते—वही, पृष्ठ १२७

(३) तत्पातानन्तर जन्तुयुक्तो मोक्षसमीक्षया।
प्रवतमानवैराग्यो विवेकेऽभिनिवेशवान्—वही, पृष्ठ १२७

(४) आत्यन्तिकी निवृत्तिस्तु पुसो या दु खसतते।
तयोपलक्षित नित्य सुख यत्तद्धित स्मृतम्—अहि० जिल्द १, पृष्ठ ११५

(५) वही, पृष्ठ, ११६

(६) अहि० जिल्द पृष्ठ ११६

उपासना है।[१] इसी प्रकार साख्य परोक्ष (Indirect) ज्ञान है और वेदान्त' साक्षात्कारमय ज्ञान है।[२] 'योग' भी पाञ्चरात्र साक्षात्कारमय ज्ञान के लिए सोपान के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है। योग दो प्रकार का वर्णित है 1 निरोध योग II कमयोग। निरोध योग मे चित्त वृत्ति का निरोध ध्येय है इसके भी वाह्य एव आभ्यतरिक दो भाग किये गए है। कमयोग मे अनेक कर्मो तथा धार्मिक क्रियाओ को स्वीकार किया गया है और इसके भी बाह्य एव आभ्यतर के दो भेद किए गये है।[३]

दीक्षा साधना का अधिकारी कौन है, इस विषय मे पाञ्चरात्र का मत वदिक-मत से सादृश्य रखता हे। पाञ्चरात्र सवर्णो को ही साधना का अधिकारी मानता हे। शूद्र के लिए ब्राह्मणो की सेवा ही धर्म है।[४] वण व्यवस्था का पूण समथन पाञ्चरात्र सहिताओ मे किया गया है। सन्यास धर्म केवल ब्राह्मणो एव क्षत्रियो के लिए है। सन्यासी निर्माण प्राप्त होता है, परमव्योम प्राप्त नही होता। निर्वाण का अथ है 'दीपज्योति के समान शान्त हो जाना'।[५]

पाञ्चरात्र मत के दीक्षागुरु को अन्य सभी गुणो के साथ योगस्वाध्याय तत्पर, तन्त्रान्तर विचक्षण, तन्त्र अतरज्ञ, मन्त्रज्ञ और यन्त्रविचक्षण भी कहा गया है। स्पष्ट है कि पाञ्चरात्र गुरु कोरा भक्त नही, अपितु वह योगी तथा मन्त्र-यन्त्र विशेषज्ञ भी होता है।[६]

(१) वही, पृष्ठ ११७

(२) यहा वेदान्त का अथ 'वैष्णव अद्वैतवाद' है, न कि शकराचाय का मायावाद।

(३) नकुलीश पाशुपात भी योग के योग तथा कमयोग दो भेद करते है। कर्मयोग का अथ उनके अनुसार है ध्यान, मन्त्र जाप आदि क्रियाएँ। लक्ष्मीतन्त्र मे योग के दो भेद किये गए हैं I सयम II समाधि। Introduction to Panchratra, page 111

(४) शूद्र शुश्रूषया तेषा, भगवत्कर्मसाधनात्।
अरागरोषलोभ सञ्छनैर्याति हरे पदम्—अहि० जिल्द १, पृष्ठ १३०

(५) वही, पृष्ठ १४०

(६) वही, पृष्ठ १८४-१८५

शिष्य का 'द्विजाति' होना आवश्यक है। उसे ब्रह्मचर्य व्रतधारी 'जगत के अगारो के मध्य अपने कर्मो के दाह से दु खी शिष्य मै तुम्हारी शरण मे आया हू' ऐसी वृत्ति रखने वाला शिष्य ही पाञ्चरात्र मत का अधिकारी है[1] 'शरणागति के सिद्धान्त पर यहा विशेष बल दिया गया है।

दीक्षाक्रम शिष्य को शपथ लेनी पडती है कि पाञ्चरात्र शास्त्र के रहस्य को वह गुप्त रखेगा।[2] अन्य तान्त्रिको की तरह प्रथम अगन्यास किया जाता है। 'मातृका' एव मन्त्रोच्चारण द्वारा शिष्य के विभिन्न अगो पर स्वर व्यजनो तथा देवताओ की प्रतिष्ठा की जाती है।[3] पुन 'सुदर्शनमन्त्र' दिया जाता है। इस मन्त्र के तीन ऋषि हैं। मन्त्र के परारूप के ऋषि है परमात्मा, सूक्ष्म रूप के सकर्षण और मन्त्र के स्थूल रूप के ऋषि है अहिर्बुध्न्य अर्थात् तान्त्रिको की तरह पाञ्चरात्र आभ्यतरिक अर्थ पर सर्वत्र बल देता है। 'शरीर' के भी मन्त्र की तरह तीन रूप बताये गए हैं, प्रत्यक्ष (Gross body) पुर्यष्टक या सूक्ष्म तथा आणव (Atomic)[4]।

मन्त्रदीक्षा के समय इस बात पर बल दिया गया है कि मन्त्र का प्रयोग क्षुद्र कार्यो के लिए न किया जाय। मन्त्र का प्रयोग लोकरक्षा, राज्यरक्षा आदि परोपकार के लिए किया जा सकता है, दूसरो के नाश के लिए नही।[5] पर्वत, नदी-तीर, विष्णुमदिर, आश्रम, सिद्धालय या ग्राममदिर साधना के स्थान है। एक लक्ष वार या अधिक वार जप करने से 'मन्त्रनाथ' प्रसन्न होते है।[6]

योग पाञ्चरात्र मत मे योग-साधना पर भक्ति से अधिक बल दिया गया है। वस्तुत भक्ति, योग के ही एक रूप मे यहा स्वीकृत है। शैवो एव शाक्तो के यहा भी भक्ति तथा योग दोनो को 'योग' ही माना गया है। परन्तु फिर भी पाञ्चरात्रमत

(१) ससाराङ्गार मध्यस्थ पच्यमान स्वकर्मभि ।
भवन्त शरण प्राप्त उपसन्नोऽस्म्यधीहि भो —वही, पृष्ठ १८५

(२) अहि० जिल्द १, पृष्ठ १८५

(३) वही, पृष्ठ १८५

(४) वही, पृष्ठ १८८

(५) वही, पृष्ठ १९१

(६) मन्त्रनाथ प्रसीदति—वही, पृष्ठ १९२

मे भक्ति के लिए अधिक स्थान है। यहा 'योग' को 'आत्महविस्' (Self-sacrifice) कहा गया है। देवता को स्वकीय आत्म समपण करना ही आत्म हविष्' है। यह 'आत्माहविष्' तभी सम्भव है जब जीव अपने को प्रकृति के आकषणा से मुक्त कर लेता है।[1] प्रकृति के बन्धनो से रहित जीव आत्महविषावस्था मे सवज्ञ, सवभूत, ज्ञानरूप, विकार रहित, सवभूतस्य, अक्षर अनासक्त और शान्त हो जाता है।[2] अत योग का अथ जीवात्मा तथा परमात्मा के सयोग का नाम है।[3] प्रत्येक क्षण परमात्मा के साथ एकता की अनुभूति का नाम ही 'योग' है। इस एकता की अनुभूति के बिना बाह्य क्रियाएँ फल नही देती, यह तात्पय 'जीव परमात्मा के सयोग' पर से स्वत स्फुरित होता है। इस योग के आठ अग है जिनमे यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारण, ध्यान एव समाधि को स्वीकार कर लिया गया है। समाधि की स्थिति से सभी सिद्धिया प्राप्त होती है, इसका भी वणन मिलता है।[4]

जयाख्यसहिता मे भी साधक को 'योगी' कहा गया है। अतिम सत्ता की प्राप्ति के दो उपाय है I समाधि द्वारा II मत्रो पर ध्यान के द्वारा। योग के तीन प्रकार बताए गये है I प्राकृत II पौरुष III ऐश्वय। प्रथम मे मूलप्रकृति का द्वितीय मे पुरुष का और तृतीय मे सिद्धि प्राप्त करने के लिए देवताओ का ध्यान किया जाता है। अन्यत्र सकल, निष्कल और विष्णु इन तीन योगो का उल्लेख है। शब्द, व्योम एव सविग्रह यह एक और विभाजन मिलता है। सविग्रह योग मे 'मूत्ति' पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। पुन वह चक्र का ध्यान करता है, फिर क्रमश लघु वस्तुओ का ध्यान करता है, इससे अत मे साधक का 'ब्रह्मरन्ध्र' खुल जाता है। निष्कल योग मे साधक 'सूक्ष्म सत्ता' पर ध्यान केन्द्रित करता है। फलत उसकी आत्मा का ब्रह्म के रूप मे उसके लिए उद्घाटन हो जाता है। योग के

(१) यद्वा भगवते तस्मै स्वकीयात्मसमपणम।
वियुक्त प्रकृते शुद्ध, दद्यादात्महवि स्वयम—अहि०, जिल्द २ पृष्ठ २९०

(२) वही, पृष्ठ २९० २९१

(३) सयोगो योग इत्युक्तो, जीवात्मापरमात्मनो।—वही, पृष्ठ २९२

(४) वही, पृष्ठ ३०८

तृतीय रूप मे 'मत्र' पर ध्यान केन्द्रित करना पडता है। योग प्रक्रिया द्वारा ब्रह्म रध्र भेद कर जीवात्मा अत मे 'वासुदेव' को प्राप्त करती है।[1]

परमसहिता मे 'याग' को सवश्रेष्ठ कहा गया हे।[2] योग मे शातचित्त से किसी वस्तु या देवना पर ध्यान एकाग्र किया जाता है, इस योग द्वारा अयवा सासारिक काय करते हुए (कम योग) 'विष्णु' मे चित्त को लय किये रहने से वासुदेव तत्व की प्राप्ति हो जाती है।

नाडी योग ध्यान की एकाग्रता के लिए 'नाडीयोग' अनिवाय है। पाञ्चरात्र के नाडीयोग मे कुछ नवीनता प्राप्त होती है। नाडियो का केन्द्र 'नाभि स्थन' है। इस 'नाभिचक्र' मे १२ अर (spokes) है।[3] कुडलिनी इस नाभिचक्र को आवृत किए हुये स्थित है। यह कुडलिनी अष्ठमुख वाली है और सुषुम्ना नाडी का रन्ध्र बद किए हुए है।[4] नाभिचक्र केन्द्र मे अलम्बुषा व सुषुम्मा नाडियो हैं, सुषुम्ना के पार्श्वो पर कुहू वरुणा, यशस्विनी, पिंगला, पूषा, पयस्विनी, सरस्वती, शखिनी, गाधारी, इडा हस्तिजिह्वा, नथा विश्वोदरा ये बारह नाडिया स्थित हैं। इस प्रकार नाभिचक्र मे कुल मिलाकर चौदह नाडिया है। ये मुख्य है, यो सारे शरीर मे ७२००० नाडिया है जिस प्रकार मकडी जाल मे रहती है उसी प्रकार प्राणशक्ति के साथ जीवात्मा इस नाभि चक्र मे भ्रमण करती है।[5]

इन नाडियो मे अन्य तान्त्रिको की तरह इडा, पिंगला एव सुपुम्ना को ही मुख्य कहा गया है। इडा एव पिगला को चद्र तथा सूय नाडी भी गहा गया है।

अन्य तान्त्रिको मे नाभिचक्र का ऐसा वणन नही मिलना। अन्यत्र कुडलिनी का स्थान मूलाधार चक्र (लिंग एव पायु के मध्य मे स्थिन) मे बताया गया है यही पाञ्चरात्र तथा अन्य तान्त्रिको मे अतर है। नाडियो के नामो मे भी अतर स्पष्ट है।

(1) A History of Indian Philosophy Vol III, page 30 31

(२) वही, पृष्ठ ३३

(३) तत्रैव नाभिचक्र तु द्वादशार प्रतिष्ठितिम्।
शरीर ध्रियते येन, तस्मिन्वसति कुण्डली ॥ अहि० जिल्द २, पृष्ठ २९८

(४) वही, पृष्ठ २९९

(५) प्राणारूढो भवेज्जीवश्चक्रेऽस्मिन्भ्रमते सदा।
अणनाभियथा, तन्तुपञ्चरीन्तऽवस्थित —वही, पृष्ठ ३०१

प्राणायाम द्वारा नाडी शोधन विधि प्राय पिष्ट पेष्टिन है। ध्यान योग मे अन्य तान्त्रिक देवताओ की तरह विष्णु रूप का वणन किया गया है। यह रूप अद्भुत अधिक है, इसमे भयकरता, मनोहरता, बल, वीय, ऐश्वय सभी का सम्मिलन है। आगे के वैष्णवधम मे केवल 'मृदुल' रूप का विकास हुआ है। यहा विष्णु पिंगकेश, दष्ट्राकरालवदन, भीमभृकुटिवान्, अष्टभुज, आयुधवान्, अभयप्रद रूप मे ध्यान के विषय है।[१]

मत्रयोग यह कहा जा चुका है कि सृष्टि ब्रह्म की सकल्प शक्ति या सुदशन शक्ति का परिणाम है। 'सुदशन का एक रूप 'क्रिया शक्ति' भी हे। शक्ति 'स्पन्दतत्त्व' है, यह 'स्पन्दतत्त्व' ही जगत का आधार तत्त्व है, इसीलिए सुदशनतत्त्व को 'चलनचक्र' (Wheel of Motion) कहा गया है।[२] सकल्प का यह 'चलन ही सवप्रथम 'नाद' के रूप मे प्रकट होता है। 'नाद एक दीघ घण्टाघोष के रूप मे प्रकट होता है।[३] इसे केवल योगी ही सुन सकते हैं।

ब्रह्म की क्रियाशक्ति का प्रथम प्रकट रूप जो नाप है, वही 'बिन्दु' के रूप मे प्रकट होता है। जिस प्रकार प्रशान्त समुद्र मे प्रथम कुछ 'उन्मेष' (स्पन्दन) होता है और कुछ बुद्बुद के रूपो मे वह उन्मेष लक्षित भी होता है, उसी प्रकार 'नाद' बिन्दु का रूपधारण करता हे।[४] यह बिन्दु 'ओ३म्' मे 'अनुस्वार' के समान प्रकट होता है। यह बिन्दु दो प्रकार का होता हे। I शब्द ब्रह्म II भूति। 'भूति' की स्थिति मे नाम का उदय हो जाता है और तब बिन्दु स्वर एव व्यञ्जन के रूप मे क्रमश व्यक्त होता है।[५]

(१) अहि० जिल्द २, पृष्ठ ३०७

(२) चलत्तापूवरूप य सकल्पस्तत्र वतते।
चलन नाम तच्चक्र, सुदशनमम महत्—अहि० जिल्द १, पृष्ठ ८७

(३) उद्यन्ती सा क्रियाशक्तिभजते नादरूपताम्।
त नाद परम विद्धि दीघघण्टानदीपमम्—वही, पृष्ठ १४७

(४) स बुद्बुदवदम्भोधौ क्वचिदुन्मेषमृच्छति।
अनुद्रुतगतै सोऽथ योगिभिर्बिन्दुरुच्यते—वही, पृष्ठ १४८

(५) सा हि बिन्दुमयी शक्ति स्वेच्छयवा नामता गता—वही, पृष्ठ १४८

स्वरो मे 'अ' को शैवो की तरह ही 'अनुत्तर' कहा गया है। अ, इ, और उ और इनके सयोग से अन्य स्वर व्यक्त होते है। और पुन व्यजन व्यक्त होते है।

वर्णोदय की यह प्रक्रिया अन्य तान्त्रिको की तरह परा, पश्यन्ती, मध्यमा एव बैखरी के रूपो मे ही पाञ्चरात्र मे वर्णित है।[1] भृङ्ग के निनाद के समान मूलाधार से नाभि और नाभि से हृदय देश के पश्चात् यह लक्ष्मीरूप नादशक्ति कठदेश से वैखरी रूप मे प्रकट होती है। अतएव प्रत्येक 'ध्वनि मूलन शक्ति का ही स्थूल है। पद, वाक्य, प्रमाणादि से युक्त यह शब्दशक्ति वैष्णवी शक्ति का ही रूपान्तर मात्र है, अत इस 'मातृकादेवी को मन्त्रयोनि कहा गया है।[2] विष्णु-सकल्प का बाह्य शरीर ही 'वर्ण' है। प्रत्येक वर्ण मे स्थूल, सूक्ष्म एव पर ये तीन विष्णुरूप अवस्थित है।

विष्णु शक्ति, रुद्र शक्ति एव देवी की अलग-अलग आराधना के लिए वर्णो की योजना को भी विशेष रूप देना पडता है। यथा 'क' वर्ण से वैष्णवमन्त्र सिद्धि मे कमल, कराल आदि और रौद्री शक्ति की सिद्धि के लिए क्रोधीश तथा देवी (शाक्त) की सिद्धि के लिए उसके दक्षिणहस्त के अगुष्ठ के साथ 'क' की एकता स्थापित करनी पडती है।[3] शक्तियो की भिन्नता के कारण ही मन्त्रो मे भिन्नता है। साधक रुचि के अनुसार विष्णु, रुद्र या शक्ति जिसकी भी सिद्धि करना चाहता है, उस देवता विशेष के ही मन्त्र विशेष का प्रयोग करता है। साधना मे विशिष्ट मन्त्रो के आग्रह का यही कारण है। यह सम्भव नही कि किसी देवता के मन्त्र का प्रयोग किसी अन्य देवता के लिए किया जाय तो सफलता मिलेगी। पाञ्चरात्रो का 'मन्त्रसिद्धान्त' एव 'मन्त्रसाधना' अन्य तान्त्रिको के साथ पूर्ण सादृश्य रखती है।

चक्र-साधना पाञ्चरात्र मत मे चक्र वाममार्गी चक्र-साधना स्वीकृत नही है यद्यपि उग्रसाधनाओ का वह खडन नही करता। पाञ्चरात्री चक्रसाधना का अर्थ है 'सुदर्शनचक्र' का ध्यान और जप। जिस प्रकार वाममार्गी 'चक्र' को सारे ब्रह्माण्ड का प्रतिनिधि मानते है वैसे ही पाञ्चरात्रमत मे ब्रह्माण्ड को सुदर्शनचक्र-

(१) मूलाधारात्समुद्यन्ती सा शान्ता सा निरञ्जना—अहि०, जिल्द १ पृष्ठ १५१

(२) मन्त्रयोनिरियम् देवी मातृकाऽधिष्ठिता सदा—वही, पृष्ठ १५८

(३) An Introduction to Panchratra, Page 120

मय माना गया है। इस चक्र के 'अरो' का विस्तृत और कवित्वपूण वणन मिलता है, इस चक्र का ध्यान एव मत्र जप करने से शक्तियो वश मे हो सकती है।[१]

रक्षा या यत्र तत्रो की तरह पाञ्चरात्रमत मे मत्रस्थित देवताओ का ध्यान भी स्वीकृत है। मत्रसाधना मे 'ध्यान' की ही प्रभुता है। 'रक्षा' के दो प्रकार है **I** ज्योतिर्मयीरक्षा **II** मन्त्रमयी। प्रथम मे अक्ष, नाभि, नेमि, तथा शक्तियो के रूपो का कल्पना की प्रधानता है और दूसरे मे मत्रो पर विशेष बल दिया गया है।[२] यत्र रचना मे विष्णु के 'चक्र' की रचना का विस्तृत वणन किया गया है, इस चक्र को किसी वस्त्रादि पर अकित करके पूजा की जाती है, इससे विघ्नो पर विषय, शत्रुनाश, बल, वीयादि की वृद्धि हाती है। यत्रसाधना मे सुरक्षित है। मत्र मे जिस प्रकार के देवता का ध्यान किया जाता है, वैसा ही फल मिलताहै। मत्रो के वितरण मे 'द्विज' को ही सर्वाधिकार दे दिया गया है।[३]

यत्रसाधना मे देवता के वेष, भूषा, अस्त्र आदि का विस्तार है औण 'अथर्ववेद' की परपरा मे राजाओ द्वारा विजय प्राप्ति, शत्रुनाश आदि अभिचारो का वणन हे, परतु इनमे 'विजय पर अधिक बल दिया गया है।[४] रोगो और उनके नाश के लिए 'अथववेद' की ही तरह आध्यात्मिक उपाय वर्णित हैं। सारे रोगो का केवल एक उपाय 'महाभिषेक' बताया गया है। यह एक प्रकार का 'होम है जो ८ पुरोहितो द्वारा ६ कुम्भो की स्थापना द्वारा होता है।[५] यत्रसाधना मे प्रयुक्त मत्रो के लिए स्पष्ट कहा गया है कि वे 'अथववेद' से लिए गए है —

आथवणान्मया वेदा महामन्त्र परिष्कृतात्।[६]

निष्कष (१) ऐतिहासिक दृष्टि से पाञ्चरात्रमत उपनिषत्-युग के अत मे विकसित हुआ है। पाञ्चरात्रमत के प्रारम्भ के पूर्व प्राचीन उपनिषदो—छादोग्य, वृहदारण्यक आदि का निर्माण हो चुका था।

(१) अहिबुध्न्य सहिता—जिल्द १, पृष्ठ ७३—६५
(२) अहि० जिल्द १, पृष्ठ—१६३—२०४
(३) वहा, पृष्ठ २२५
(४) अहि०—जिल्द १, पृष्ठ २५७—२७१ तथा जिल्द २, पृष्ठ ४१७
(५) अहि०—जिल्द २, पृष्ठ ३८६—३६१
(६) वही, पृष्ठ ४१६

(२) पाञ्चरात्रमत ऋग्वेद के 'पुरुषसूक्त तथा शतपथ ब्राह्मण के 'पाञ्चरात्रसत्र' से सम्बध जोडता है।

(३) अथर्ववेद की परपरा मे विकसित योग का प्रभाव पाचरात्रमन पर पर्याप्त मात्रा मे दिखायी पडता है।

(४) साख्य के 'गुण सिद्धान्त' ने पाञ्चरात्रो को प्रभावित किया है। किन्तु साख्य का प्राचीन रूप ही पाञ्चरात्रमत मे प्राप्त होता हे, इससे इस मत की प्राचीनता पुष्ट होनी है।

(५) 'पाञ्चरात्रमत' का शैव एव शाक्त साधना तथा दशन से घनिष्ट सबन्ध है। विष्णु, शिव एव शक्ति के सम्प्रदाय प्रारम्भ मे किस प्रकार, वैदिकधम के समानान्तर विकसित हुए होगे यह तथ्य पाञ्चरात्रमत से स्पष्ट होता है।

(६) दाशनिक दृष्टि से पाञ्चरात्रमत 'शक्तिवादी' हे मायावादी या विवत्तवादी नही। जगत,जीव एव परब्रह्म की भिन्नता तथा अभिन्नता दोनो ही यहा स्वीकृत है।

(७) शैवो का आभासवाद (त्रिक दशन) इस मत मे व्यूहवाद के रूप मे स्वीकृत है। शुद्ध एव अशुद्ध सृष्टि का शैव सिद्धान्त भी इस मत को गाह्य है, शैवो को कचुक सिद्धान्त पाञ्चरात्रा का मायाकोष या सकोच सिद्धान्त का ही पयाय है। पुरुष एव प्रकृति से परे चिन्मयसत्ता से शैव तथा पाञ्चरात्र दोना सृष्टि का विकास दिखाते है।

(८) यद्यपि पाञ्चरात्रमत शैवो के समान भक्ति को स्वीकार करते है तथापि मत्र, यत्र, मुद्रा, न्यास, भूतसिद्धि कुडलिनी योग मदिर तथा मूर्त्ति का निर्माण (किया) चर्या, उत्सव एव मायायोग (व्यावहारिक योग) यहा शैव-दशन की तरह स्वीकृत है।

(९) पाञ्चरात्रमत स्त्री एव शूद्र के प्रति उतना उदार नही, जितना उदर शैवमत है। वर्णाश्रमधम पर पाञ्चरात्रमत अधिक बल देना है। 'वामाचार' के लिए इस मत मे स्थान नही, परन्तु तत्रो मे वर्णित 'दक्षिणाचार' को स्वीकार करता है।

मय माना गया है। इस चक्र के 'अरो' का विस्तृत और कवित्वपूण वणन मिलता है, इस चक्र का ध्यान एव मत्र जप करने से शक्तियो वश मे हो सकती है।[१]

रक्षा या यत्र तत्रो की तरह पाञ्चरात्रमत मे मत्रस्थित देवताओ का ध्यान भी स्वीकृत है। मत्रसाधना मे 'ध्यान' की ही प्रभुता है। 'रक्षा' के दो प्रकार है **I** ज्योतिमयीरक्षा **II** मन्त्रमयी। प्रथम मे अक्ष, नाभि, नेमि, तथा शक्तियो के रूपो का कल्पना की प्रधानता है और दूसरे मे मत्रो पर विशेष बल दिया गया है।[२] यत्र रचना मे विष्णु के 'चक्र' की रचना का विस्तृत वणन किया गया है, इस चक्र को किसी वस्त्रादि पर अकित करके पूजा की जाती है, इससे विघ्नो पर विषय, शत्रुनाश, बल, वीयादि की वृद्धि होती है। यत्रसाधना मे सुरक्षित है। मत्र मे जिस प्रकार के देवता का ध्यान किया जाता है, वैसा ही फल मिलताहै। मत्रो के वितरण मे 'द्विज' को ही सर्वाधिकार दे दिया गया है।[३]

यत्रसाधना मे देवता के वेष, भूषा, अस्त्र आदि का विस्तार है औ॰ 'अथर्ववेद' की परपरा मे राजाओ द्वारा विजय प्राप्ति, शत्रुनाश आदि अभिचारो का वणन है, परन्तु इनमे 'विजय' पर अधिक बल दिया गया है।[४] रोगो और उनके नाश के लिए 'अथववेद' की ही तरह आध्यात्मिक उपाय वर्णित है। सारे रोगो का केवल एक उपाय 'महाभिषेक' बताया गया है। यह एक प्रकार का 'होम है जो ८ पुरोहितो द्वारा ६ कुम्भो की स्थापना द्वारा होता है।[५] यत्रसाधना मे प्रयुक्त मत्रो के लिए स्पष्ट कहा गया हे कि वे 'अथववेद' से लिए गए हे —

आथर्वणान्मया वेदान्महामन्त्र परिष्कृतात्।[६]

निष्कष (१) ऐतिहासिक दृष्टि से पाञ्चरात्रमत उपनिषत् युग के अत मे विकसित हुआ है। पाञ्चरात्रमत के प्रारम्भ के पूव प्राचीन उपनिषदो—छादोग्य, बृहदारण्यक आदि का निर्माण हो चुका था।

(१) अहिबुध्न्य सहिता—जिल्द १, पृष्ठ ७३–६५
(२) अहि० जिल्द १, पृष्ठ—१६३–२०४
(३) वहा, पृष्ठ २२५
(४) अहि०—जिल्द १, पृष्ठ २५७—२७१ तथा जिल्द २, पृष्ठ ४१७
(५) अहि०—जिल्द २, पृष्ठ ३८६–३६१
(६) वही, पृष्ठ ४१६

(२) पाञ्चरात्रमत ऋग्वेद के 'पुरुषसूक्त तथा शतपथ ब्राह्मण के 'पाञ्चरात्रसत्र' से सम्बध जोडता है ।

(३) अथववेद की परपरा मे विकसित योग का प्रभाव पाचरात्रमन पर पर्याप्त मात्रा मे दिखायी पडता है ।

(४) साख्य के 'गुण सिद्धान्त' ने पाञ्चरात्रो को प्रभावित किया है । किन्तु साख्य का प्राचीन रूप ही पाञ्चरात्रमत मे प्राप्त होता हे, इससे इस मत की प्राचीनता पुष्ट होती है ।

(५) पाञ्चरात्रमत का शैव एव शाक्त-साधना तथा दशन से घनिष्ट सबन्ध है । विष्णु शिव एव शक्ति के सम्प्रदाय प्रारम्भ मे किस प्रकार वैदिकधम के समानान्तर विकसित हुए होगे, यह तथ्य पाञ्चरात्रमत से स्पष्ट होता हे ।

(६) दाशनिक दृष्टि से पाञ्चरात्रमत 'शक्तिवादी' हे मायावादी या विवत्तवादी नही । जगत जीव एव परब्रह्म की भिन्नता तथा अभिन्नता दोनो ही यहा स्वीकृत है ।

(७) शैवो का आभासवाद (त्रिक-दशन) इस मत मे व्यूहवाद के रूप मे स्वीकृत है । शुद्ध एव अशुद्ध सृष्टि का शैव सिद्धान्त भी इस मत को ग्राह्य है, शैवा को कचुक सिद्धान्त, पाञ्चरात्रो का मायाकोष या सकोच सिद्धा-त का ही पयाय है । पुरुष एव प्रकृति से परे चिन्मयसत्ता से शैव तथा पाञ्चरात्र दोनो सृष्टि का विकास दिखाते है ।

(८) यद्यपि पाञ्चरात्रमत शैवो के समान भक्ति को स्वीकार करते हैं, तथापि मत्र, यत्र, मुद्रा न्यास, भूतसिद्धि, कुडलिनी योग मदिर तथा मूर्त्ति का निर्माण (किया) चर्या, उत्सव एव मायायोग (व्यावहारिक योग) यहा शैव-दशन की तरह स्वीकृत है ।

(९) पाञ्चरात्रमत स्त्री एव शूद्र के प्रति उतना उदार नही, जितना उदर शैवमत है । वर्णाश्रमधम पर पाञ्चरात्रमत अधिक बल देना है । 'वामाचार' के लिए इस मत मे स्थान नही, पर-तु तत्रो मे वर्णित 'दक्षिणाचार' को स्वीकार करता है ।

(१०) पाञ्चरात्र-मत के अध्ययन से स्पष्ट है कि प्रारम्भिक वैष्णवमत एव शैवमत मूलत एक ही मत था, कालान्तर मे ये पृथक पृथक विकसित हुए। प्रारम्भिक वैष्णवमत 'दक्षिणाचारी तान्त्रिकमत' है और वैदिक कर्मकाण्ड के समानान्तर विकसित हुआ है।

परवर्ती वैष्णवो तक पहुँचने वाले तत्त्व

(१) शक्तिवाद

(२) शक्तिपात् या अनुग्रह का सिद्धान्त ।

(३) अवतारवाद या व्यूह उपासना ।

(४) लीलावाद ।

(५) भक्तिभाव पर सर्वाधिक बल ।

(६) योग, ज्ञान एव भक्ति का अविरोध।

(७) लक्ष्मी के स्थान पर राधा सीता आदि की उपासना की वृद्धि।

(८) वैदिक कर्मकाण्ड वर्णव्यवस्था की स्वीकृत, किन्तु भक्ति के क्षेत्र मे सभी वर्णो की स्वीकृत।

(९) नाम जप, गुरभक्ति, देवताध्यान, मन्त्र आदि।

शाक्त-मत

अय तु परम कौल मार्ग, सम्यड् महेश्वरि
असिधाराव्रतसमो, मनोनिग्रहहेतुक ।
स्थिरचित्तस्य सुलभ, सफलस्तूर्णसिद्धिद ।

—परशुराम तत्र

यही श्रेष्ठ कौल मार्ग है। इसकी साधना, तलवार पर चलने के समान दुष्कर है। यह साधना मन को वश मे करने के लिए है। यह स्थिरचित्त वालो के लिए सुलभ और अस्थिर चित्रवालो के लिए दुर्लभ है। इसमे सफल होने पर शीघ्र ही सिद्धि मिलती है।

शाक्त-साधना का विकास

शक्तिया की उपासना आर्यो मे सामान्य जनता से ग्रहण की गइ है। शक्तियो का पूजा प्रगैतिकासिक काल मे भी मिलती है।

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से विचार करने वाले सभी विद्वान एक मत से यह स्वीकार करते है कि तन्त्रो मे निम्न जनता के विश्वास ही गृहीत हुए है। डा० कोशाम्बी ने बताया है कि तान्त्रिक क्रियाओ के रूप मे प्राचीन फसल पक जाने पर किये जाने वाले आचारो को आर्यो ने स्वीकार किया था। कुछ रहस्यमय या जादू की क्रियाओ द्वारा बाह्य कठोर जीवन और जगत को अधिक अनुकूल बनाने की भावना से ही, जादू, नृत्य, चित्रकला, कविता एव सगीत का उद्भव हुआ है[1] दार्शनिको ने इन कियाओ की सैद्धान्तिक व्याख्या करके इनका आर्यीकरण कर लिया।

स्थानीय देवियो को आर्यो ने काली का रूप मानकर स्वीकार कर लिया है। जापान मे स्त्रिया अब तक दात काले करती है[2] भारतवर्ष मे भी इसका प्रचार है।

असम मे 'त्रिपुरबाला' की पूजा के लिए एव कुमारी की तलाश करते ह पञ्चमकार का प्रयोग करते है, 'शबरोत्सव' कहलाता है[3] अर्थात् शबर जाति से यह शाक्त पद्धति ग्रहण की गई है। बेनीकात काकाती के अनुसार यह शबरोत्सव सम्भवत विन्ध्याचल के प्रदेश से असम मे प्रचलित हुआ, इसका तात्पर्य यह हुआ कि मध्य प्रदेश मे भी यह मनाया जाता होगा।

योगिनीतन्त्र के अनुसार यह शाक्तपूजा किरातो से ग्रहण की गई है[4]

(१) D D Koshambı An Introductıon to the study of Indıan Hıstory, Bombay, 1956, page 23–48

(२) The Mother goddess of Kamakhya—Benı Kant Kakatı, Gohatı, 1948, Page 40

(३) वही, पृष्ठ ४८

(४) वही, पृष्ठ ५०

निम्न जातियो के मुक्तयौन सम्बध को स्वीकार कर आर्यो ने परवर्ती पुराणो मे यह स्वेच्छाचार देवताओ मे भी दिखाकर 'धार्मिक आज्ञा' स्वयमेव स्वीकार कर ली है। 'कालिका पुराण' मे ब्रह्मा तथा उनकी पुत्री सन्ध्या वराह, पृथ्वी, कपोत मुनि, तारावती, काकुस्थ, उवशी, शिव, सावित्री आदि के यौन सम्बध के उदाहरण देकर कपोतमुनि द्वारा कहाया गया है "पुरातन काल मे भरद्वाज ने विवाहिता पद्मा को जिस प्रकार भोगा था, उसी तरह मै भी किसी की विवाहिता 'तारावती' को चाहता हू" [१]

असम मे प्रचलित 'त्रिपुरासम्प्रदाय' को विद्वान दक्षिण से आया हुआ मानते है। क्योकि उस सम्प्रदाय मे कुमारी की पूजा होती है और कुमारी पूजन काञ्ची-पुर मे होता हैं, अत इस अनुमान के पुष्ट आधार है। 'रुद्रशिव' के लेखक एन० वेकटरमैया का भी यही विचार है। वेंकटरमैया के अनुसार केरल के त्रावन-कोर मे अब भी इसके अवशेष मिलते है। तमिल देश मे नवयुवक विवाह के पूर्व अब भी कन्या का वेष धारण करते है। देवदासी प्रथा भी दक्षिणी है[२]

असम मे हयग्रीव, मत्स्य, माधव, वाराह एव वासुदेव के पीठ है। इनमे हयग्रीव के विषय श्री मे बेनीकात का मत है कि यह देवता भिन्न उत्पत्तिका है, वैष्णवो ने इसे शुद्ध कर लिया है, इसके साथ वामाचार सयुक्त है, भूटानी लोग इसे अब भी पूजते है[3] बेनीकात जी का यह भी स्पष्ट मत हे कि वैष्णवो की पाञ्चरात्र सहिताओ मे सवप्रथम शाक्ततत्वो को स्वीकार किया गया था,[४] और ये शाक्ततत्व सामान्य जनता मे प्रचलित थे। वैष्णवधम मे मातृपूजा की छाया 'नायिका' के रूप मे बराबर रही है[५]

दक्षिणी भारत के द्रविण धम को आर्यो ने उसी प्रकार समेट लिया है, जिस प्रकार अन्य प्रदेशो के विश्वासो और क्रियाओ को। फिर भी आर्यो मे इस स्वीकृति के विरुद्ध कुछ न कुछ कहा जाता रहा है। अनार्य धर्मो को शिव के साथ सम्बद्ध कर

(१) बेनीकात काकती—पृष्ठ ५१

(२) वही, अध्याय २ मे विस्तृत वणन

(३) वही (४) वही (५) वही

दिया गया है। गणेश एव हनूमान सम्भवत टाटम थे, बाद मे इन्हे शिवपुत्र बना दिया गया। हनूमान को राम का सेवक बना दिया गया जो स्पष्ट ही मामनी प्रवृत्ति के अनुकूल था।

दक्षिणी भारत मे सतमाताओ की पूजा प्रचलित है। इन देवियो का रूप आर्यों द्वारा स्वीकृत शास्त्रीय शाक्तमत से पर्याप्त सादृश्य रखता है—ये देवियाँ कष्ट देकर अपनी पूजा के लिए विवश कर देती है[1] पालरेम्मा देवी तेलगू प्रदेश मे चेचक की देवी है। यह अन्य कष्ट भी देती है।

देवी को भगाने का उपाय यह है कि नागफनी की पत्तियो को द्वार पर डालना चाहिए इसमे जादू की भावना यह है कि इन पत्तिया को देखकर देवी समझ लेगी कि यह जगह बस्ती रहित है। आम शाक्त-धर्म की पूजा पद्धति मे यह जादूमिश्रित आचार सर्वत्र मिलता है।

इन देवियो की प्रसन्नता के लिए दक्षिण मे 'जात्रा' निकाली जाती है, देवी की मूर्ति का उत्सव मनाया जाता है। इसमे बलि भी होती है।

शिवचन्द्र बोस ने शाक्त पूजा मे अनेक भयकर कृत्यो का उल्लेख किया है।[2] इन कृत्यो को द्रविडादि जातियो से ही लिया गया है। द्रविड साधक भी देवियो को 'पार्वती' का अवतार मानते है, तन्त्रो मे यही विश्वास दुहराया जाता है।[3]

शाक्त शैव धर्म से सम्बद्ध कथाओ म भी द्रविड तत्व मिलते है[4] द्रविडो मे नारी मानवी और देवी—दोनो रूपो मे प्रभावशालिनी एव प्रबल है। उसके प्रेम तथा शाप अब भी पुरुषो पर प्रभाव डालने वाले माने जाते है, जब मृत्यु के बाद वह प्रेत बनती है तब तो प्रलय ही कर देती है[5]

(१) इनके नाम ये है, Poleramma, Ankamma, Muthyalamma, Dilli Polasi, Bangaramma, Mathamma, Renuka.—Dravidian Gods in Modern Hinduism—
W Theodore Elmore Madras 1925 Page 11

(२) वही, पृष्ठ ३७ (३) वही (४) वही,

(५), वही, अध्याय—द्रविड प्रेत पूजा

वृक्षो, नदी, नालो, टीलो, पवतो या अन्य किसी वस्तु की पूजा अब तक आम नारियो मे प्रचलित है, यह पूजा भी अधिकाशत अनार्यो से ग्रहण की गई है।

इसका यह अथ नही है कि आर्यो मे सभी अधविश्वास अनार्या से ही आया है, परन्तु उनके अधविश्वास के स्वरूप ने आय अधविश्वास को दूर तक प्रभावित किया है, यह भा सत्य है।

ईसा की छट्ठी शताब्दी तक यह आदान उस सीमा तक पहुच चुका था जबकि उसने ब्राह्मण धम साहित्य, दशन, कला आदि सभी क्षेत्रो को प्रभावित करना प्रारम्भ कर दिया था।

यह प्रभाव केवल ब्राह्मण धम पर ही नही पडा, उसने बौद्ध एव जैन सम्प्रदायो को भी प्रावित किया, फलत वज्रयान शैव, तथा वैष्णव साधना का शास्त्रीय रूप जनता के सामान्य धम से अलग करके नही समझा जा सकता।

शाक्त-दर्शन और साधना

फकुहर ने ५०० ई० से ९०० ई०त क के युग को 'शाक्त युग' कहा है[1] और यह नामकरण प्रमाणो से पुष्ट होता है। इसी युग मे शाक्त दशन और साधना का रूप निश्चित होता है और उसका अन्य साधनाओ पर व्यापक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इसी युग मे फकुहर के अनुसार 'चण्डीमाहात्म्य' लिखा गया [2] आगे बाणभट्ट ने 'चण्डी शतक' लिखा। फिर तो शात्य प्रभाव बढता ही जाता है,। इसी युग मे बौद्धमत शैवागमो एव पुराणो मे शाक्त प्रभाव का विपुल प्रभाव दृष्टिगोचर होता हे, अत उपयुक्त 'युग' को हम शाक्त युग कह सकते है।

फकुहर ने इस युग की निम्नविशेषताएँ बताई हे—

१ देवी या शक्ति की महात्म्य-वृद्धि

२ मत्र प्रयोग वृद्धि

३ कुडलिनीयोग मे विश्वास-वृद्धि

४ पाञ्चमकारोपासना की प्रभाव-वृद्धि

(1) The Religious Quest of India—J N Farquher, Page 167

(2) Ibid—Page 190

शाक्तो मे अनेक सम्प्रदाय हैं, प्रत्येक एक एक उपनिषद् एक एक क्रिया शिक्षा की पुस्तक (Manuals) को लेकर प्रचार करता है, प्रत्येक मे गुरु तथा दीक्षा का अमित माहात्म्य माना जाता है। प्रत्येक सम्प्रदाय का अपना अलग मत्र है।

शाक्तो के धर्मग्रन्थ हैं, 'तन्त्र'। इन तत्रो का निर्माण शाक्तयुग मे ही अधिक हुआ है, यद्यपि 'गुह्य सम्प्रदाय' के रूप मे यह शाक्त सम्प्रदायो के विभिन्न रूप प्राचनीतम सम्प्रदायो मे से हैं। तत्रो की बहुत सी सामग्री पुराणो मे भी पायी जाती है।

शाक्त तत्रो के विषय मे सब कुछ अनिश्चित है। फर्कुहर के अनुसार कुब्जिका तत्र (७ वी शताब्दी ?) परमेश्वरमततत्र तथा महाकौल ज्ञान विनिर्णय तत्र प्राचीन तत्र माने जाते हैं।[1] कश्मीरी शैवदर्शन मे शाक्तमत भी स्वीकृत है, अर्थात् कश्मीरी शैव शाक्त भी हैं और शैव भी। शाक्त दर्शन के विकास मे कश्मीरी शैवो का ही मुख्य योगदान रहा है।

फर्कुहर के अनुसार ६०० से १३५० ई० के बीच 'यामल' साहित्य बहुत लिखा गया। ब्रह्मयामल, विष्णुयामल, रुद्रयामल, लक्ष्मीयामल, उमायामल, स्कन्दयामल, गणेशयामल आदि। इनमे देवता शक्तियो के साथ 'रति निमग्न' दिखाये गए हैं—बौद्धतत्रो एव शैवतत्रो मे भी इस युग मे यही विशेषता दिखाई पडती है। इसी युग मे 'कौल उपनिषद्' तथा 'परशुराम कल्पसूत्र' की रचना हुई है। परशुरामकल्पतत्र कौलमार्ग का श्रेष्ठ ग्रन्थ माना जाता है।

त्रिपुरतापिनीय, त्रिपुरषट्चक्र, भावना तथा देवीउपनिषद् भी इसी युग की है। शारदातिलक मत्रशास्त्र की दृष्टि से श्रेष्ठ तत्र है, यह भी इसी युग का है।

इसी युग मे दक्षिणपथी शाक्तधर्म की ओर (पचमकार का प्रयोग न करने वाले) प्रवृत्ति अधिक दिखायी पडती है। आज अधिकतर मदिरो मे दक्षिणपथी शाक्त धर्म का ही प्रभाव अधिक है। वैदिक आचारो की ओर उन्मुखता १३वी शताब्दी के बाद बढती जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि १३वी शताब्दी के बाद शाक्तधर्म मे सुधार होता जाता है, परपरा कहती है कि शकराचार्य ने वाममार्ग की जगह दक्षिणपथी साधना प्रचलित की इससे भी उक्त सुधारवाद पुष्ट ही होता है। इस सुधारवाद के प्रवर्तक इसी युग मे (१२६८ ई०–१३७६ ई०) सम्भवत लक्ष्मीधर

(1) Ibid—Page (200–201)

या विद्यानाथ थे। लक्ष्मीधर ने सौन्दर्यलहरी की टीका मे ६४ तन्त्रो के नाम दिये हैं।[1] लक्ष्मीधर ने कौल, मिश्र तथा समय—इन तीन मार्गो का उल्लेख किया है।

समयमत के तन्त्र 'शुद्धतन्त्र' कहलाते हैं, इसमे केवल मुक्ति प्राप्ति का उपाय वर्णन ही प्रमुख है। इस मत के आचार्यो के वसिष्ठ, सनक, शुक, सनन्दन तथा सनत्कुमार की गणना की जाती है।

कौलमार्ग वामाचारी तान्त्रिक है, भोग के द्वारा मुक्तिप्राप्ति ही इनमे वर्णित है मिश्रमार्ग मे भोग एव मुक्ति दोनो का विधान है अर्थात् लौकिक सिद्धि तथा मुक्ति—दोनो पर बल देने वाले तन्त्र मिश्रमार्गी हैं—इनमे चन्द्रकला, ज्योत्स्नावती, कला निधि, कुलारावि, आदि अनेक आठ मार्ग है।

भिन्न-भिन्न आचार्यो के नाम से भी अनेक तन्त्र मिलते हैं। उदाहरण के लिए परशुरामकल्परूप आचार्य दत्तात्रेय का तन्त्र माना जाता है। अगस्त्य के 'शक्तिसूत्र'

(१) रामदास गौड ने आगम तत्त्वविलास से ६४ तन्त्रो के नाम दिये हैं—हिन्दुत्व—रामदास गौड—पृष्ठ ४८५ गौड महाशय ने 'कुछ और तन्त्र' शीर्षक से ८३ अन्य तन्त्रो (६४ तन्त्रो के अतिरिक्त) के नाम दिये है (पृष्ठ ४८५ ४८६) 'महासिद्धि सारस्वत' के आधार पर गौड जी ने सिद्धीश्वर नित्यतन्त्र, राधातन्त्र कामाख्यातन्त्र आदि का उल्लेख किया है। (पृष्ठ ४८६)। कुछ अन्य 'प्रचलिततन्त्र' शीर्षक से गौड जी ने अनेक तन्त्रो का उल्लेख किया है (पृष्ठ ४८६) तथा वाराही-तन्त्र से भी एक सूची दी है जिसमे श्लोक सख्या भी दी गई है। वाराही तन्त्र के मत से अन्य लोको के तन्त्रो के श्लोको की सख्या ६ लाख है। (पृष्ठ—४८४) भारत-वर्ष मे तन्त्रो की श्लोक सख्या १ लाख है। (पृष्ठ ४८४)

इस प्रकार तन्त्र साहित्य एक विराट साहित्य है, इनमे से अभी बहुत कम तन्त्र प्रकाशित हुए है। 'तान्त्रिकटैक्स्ट सीरीज' कलकत्ता, तथा गायकवाड ओरियटल सीरीज, आड्यार (मद्रास) तथा श्रीनगर से कुछ ग्रथ प्रकाशित हुए हैं। 'तान्त्रिक आडर' न्यूयार्क मे 'तान्त्रिकटैक्स्ट्स बुक्स' मे प्राय सभी तन्त्रो के अँगरेजी अनुवाद प्राप्त है परन्तु मुझे पत्र-व्यवहार द्वारा यह पता चला है कि न्यूयार्क या अन्यत्र 'तान्त्रिक आडर' जैसी सस्था का अब अस्तित्त्व ही शेष नही रह गया है। पाठको को External issue International Journal of Tantric Order Vol V No I, कलकत्ता के National Library मे प्राप्त हो सकता है।

कविराज गोपीनाथ ने प्रकाशित कराये हैं। गौडपाद के सुभगोदय तन्त्र तथा श्री विद्यारत्नसूत्र तन्त्र प्रसिद्ध तन्त्र हैं, शंकराचार्य की 'सौन्दर्यलहरी' का उल्लेख ऊपर हो चुका है (फर्कुहर इसे शंकरकृत नहीं मानते) 'सौन्दर्यलहरी' की टीका में भावनात्मक भक्ति का लक्ष्मीधर (१३वीं शताब्दी) सुन्दर विवेचन हुआ है। फर्कुहर का अनुमान है कि श्रीमद्भागवत पुराण के प्रभाव से शाक्तों में भक्ति का प्रचार बढ़ा है। उनके अनुसार 'देवीभागवत' एक उपपुराण है जो श्रीमद्भागवत के पश्चात् तथा भागवत के टीकाकार श्रीधर (१४वीं शताब्दी) के बीच कभी लिखा गया है, इस पुराण में नारद शाण्डिल्य सूत्रों की तरह भक्ति का प्रभाव दिखायी पड़ता है।

श्रौत, ब्राह्मण, आरण्यक उपनिषद् साहित्य के अन्तर्गत शक्तिवाद पर सायणाचार्य (१३०० ई०) भास्करराय (१७२४ ई०) उपनिषद्ब्रह्म (१७५० ई०) तथा कौलाचार्य सदानन्द के भाष्य हैं। इनमें केवल भास्करराय के भाष्य शाक्तमत के अनुकूल लिखे गए हैं। अप्पयदीक्षित (शिवाद्वैत मतावलम्बी) की 'आनन्दलहरी' तथा उसकी व्याख्या मार्मिक है। भास्करराय ने श्रीसूत्र, कौल उपनिषद्, ललितासहस्रनाम, दुर्गासप्तशती, योगिनि हृदयतन्त्र पर टीकाएँ लिखी हैं, उनका 'वीरवस्यारहस्य' ग्रंथ मन्त्रशास्त्र एवं उपासना काण्ड के लिए प्रामाणिक माना जाता है।

भास्कर के शिष्यों में उमानन्द नाथ ने श्री विद्या सम्बन्धी 'नित्योत्सव' लिखा तथा उनके शिष्यों में रामेश्वर (१८२१) में परशुराम कल्प सूत्र पर वृत्ति लिखी है।

रहस्यस्तोत्रों में गौडपादाचार्य का सुभगोदय, शंकर की सौन्दर्य-लहरी, आनन्दलहरी, अप्पयदीक्षित की आनन्दलहरी, दुर्वासा का त्रिपुरमहिम्न, ललितात्रिशती (शंकराचार्य का भाष्य) तथा आर्यपञ्चाशत आदि ग्रंथ हैं।

पौराणिक साहित्य में देवी भागवत, ब्रह्माण्डपुराण के द्वितीय भाग में 'ललितासहस्र', मार्कण्डेय पुराण में देवीमाहात्म्य तथा सप्तशती, सूतसंहिता का शक्तिस्तोत्र। कालिका पुराण शक्तिवाद का मुख्य ग्रंथ है।[1]

शाक्तों की प्रयोग पद्धतियों का वर्णन योगिनी तन्त्र, वाराहीतन्त्र, कात्यायनी तन्त्र, मरीचितन्त्र, डामरतन्त्र, हरगौरीतन्त्र, शक्ति संगमतन्त्र तथा लक्ष्मीतन्त्र आदि में वर्णित है।

(१) श्रीमद्भागवत पुराण में भी अधिकांशतः शक्ति सम्बन्धी रहस्य और तत्व का ही वर्णन है—शक्ति अंक (कल्याण) पृष्ठ ६२८

देवी भागवत के टीकाकार नीलकठ का 'शक्तितत्वविमर्शिनी' ग्रथ विद्वत्ता पूण है।

कश्मीरी साधको के सवित्सिद्धि, अजड प्रमातृसिद्धि, तन्त्रालोक, तन्त्रसार, तन्त्रसुधा, तन्त्रवटधानिका, परात्रिशिका, प्रत्यभिज्ञासूत्र, महार्थमजरी मालिनी विजय, कामकलाविलास, स्पन्दकारिका तथा स्पन्दसदोह आदि ग्रथ शाक्त मत पर प्रकाश डालते हैं, इन ग्रथा को 'त्रिपुरसु दरी या श्रीविद्या सम्प्रदाय' का माना जाता है। दार्शनिक पक्ष इन्ही से व्यक्त होता है।

'श्रीतत्वचिंतामणि' के प्रसिद्ध लेखक पूर्णानन्द (१४४८ १५२६) थे, इसी का षष्ठ प्रकरण 'षट्चक्रनिरूपण' नाम से अति प्रसिद्ध है।

शाक्तो ने भारतवष तथा एशिया महाद्वीप को तीन भागो मे विभाजित किया है—

विष्णुक्रान्ता—भारत का उत्तरपूर्वीय प्रदेश—विन्ध्याचल से लेकर चटगाव तक।

रथक्रान्ता—उत्तर पश्चिमी भारतवष—विन्ध्य से लेकर तिब्बत तक

अश्वक्रान्ता—इसके सम्बध मे मतभेद है। कुछ तत्र इसे 'दक्षिणीभारत' तक सीमित रखते हैं और कुछ 'जावा' द्वीप तक का भाग मानते हैं।

कामाख्या, कश्मीर एव काञ्ची शाक्त पूजा के गढ माने जाते है। इनमे कामाख्या (असम) कौलमत का तथा काश्मीर तया काञ्ची श्रीविद्या के उपासक (दक्षिण-पथी) माने जाते है। यद्यपि 'कश्मीर' मे कौलमत का प्रभाव मिलता है। 'काशी' को इस त्रिकोण का 'मध्यविन्दु' माना जाता है, जहा उक्त तीनो स्थानो की विशेषताओ का समन्वित रूप मिलता है।[1] कश्मीर मे त्रिपुरा, केरल मे तारा तथा गौडदेश मे काली की पूजा होनी है।

तान्त्रिक विश्वास के अनुसार प्रत्येक 'क्रान्ता' के अपने-अपने ६४ तत्र है, जो दूसरी क्रान्ताओ से भिन्न हैं, इस प्रकार १९८ तत्रो का प्रचार किसी युग मे इन तीन क्रान्ताओ मे रहा होगा, ऐसा कहा जाता है।

शिव के षट् मुखो से तत्रो का जन्म माना जाना है। कुलाणवतत्र के अनुसार पूर्वाम्नाय सृष्टिरूप और मत्रयोग है, दक्षिणाम्नाय स्थिति-रूप और भक्ति

(१) भारतीय दर्शन बलदेव उपाध्याय, १ अध्याय—शाक्ततत्र, १९४८

योग, पश्चिमाम्नाय सहार रुप तथा कर्मयाग है, उत्तराम्नाय अनुग्रहरूप और ज्ञानयाग है। ऊर्ध्वाम्नाय से कौलमत का प्रकाशन होना है।[1] मर जान वुडरफ के अनुसार प्रत्येक शिवमुख से भिन्न भिन्न देवियाँ-देवताओ का उद्‌भव हाना है। देवताओ मे सभी वैदिक-अवैदिक देवताओ की गणना कर ली गई हे।[2] पूर्वाम्नाय से भुवनेश्वरी, त्रिपुरा, ललिता, पद्मा, शूलिनी, सरस्वती, त्वरिता, नित्या, अन्न पूर्णा, महालक्ष्मी, आदि देवियाँ प्रकट हुइ है। दक्षिण मुख से प्रमादमदाशिव, बटुक, मञ्जुघोष (यह बौद्ध देवता है) भैरव आदि पश्चिममुख से—गोपाल, कृष्ण, नारायण, वासुदेव, नृसिह, वमन, वराह, रामचन्द्र, अग्नि, यम, सूर्य, हनुमान आदि। उत्तर-मुख से महाकाली, गुह्यकाली श्मशानकालिका, भद्रकाली, आदि तथा ऊर्ध्वमुख से त्रिपुरासुन्दरी, भैरवी, आदि प्रकट हुई है।

अधाम्नाय' से देव स्नान आसन, माला, नैवेद्य, बलिदान, भावना, पुरश्चरण, मन्त्रसिद्धि आदि प्रकट हुए हैं। परशुराम कल्पतन्त्र मे केवल शिव के पाच मुखो का उल्लेख है। सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष तथा ईशान।

आम्नाय शब्द के अर्थ श्रुति, स्त्री तथा वेद किये गए हैं। यहा आम्नाय का अर्थ 'तन्त्र' ग्रहण किया गया है। इस तन्त्र मे कहा गया है कि वेद न जानने वालो के लिए तन्त्र प्रकट किया गया है।[3]

कुछ परपरावादी विद्वानो का विचार है कि छादोग्य उपनिषद् मे सूर्यबिम्ब को देवमधु कहा गया है। इसकी किरणें चारो वेदो के पुष्परसो को खीचती हैं। एक सूर्य का ऊर्ध्व-मुख है। इसकी किरणे गुह्य-आदेश को खीचती हैं। इस गुह्य-आदेश को ही 'आगम' कहते है। आगमवादी इसे ही शिव का पचममुख कहते हैं।[4]

यह आगमवादियो द्वारा वस्तुत छादोग्य उपनिषद् की अपनी व्याख्या मात्र है।

यह जो कहा गया है कि गौतम बुद्ध की मृत्यु के बाद तन्त्रो का आविर्भाव हुआ है, यह सही है। इनमे पाचरात्र, सात्वत, गाणपत्य, शैव तथा शाक्तो की भ

(१) वही, चतुर्थसस्करण, काशी
(2) Shakti and Shaktia—Sir John Woodroff, Page 149 Edition IV 1957, Madras
(३) परशुराम कल्पतन्त्र—गायकवाड ओरियटल सीरीज, १९२३ पृष्ठ २०
(४) 'शक्ति-अक' (कल्याण, गोरखपुर) पृष्ठ ६२४-२५

गणना है । जैन एव बौद्धतत्र भी इसी समय से प्रारम्भ हुए है ।[1] यद्यपि इनका प्रचार ई० छठी शताब्दी के बाद अधिक दिखायी पडता है ।

परपरा के अनुसार शाक्त-सम्प्रदाय निम्नलिखित है—

मनु सम्प्रदाय, चन्द्र, कुवेर, लोपामुद्रा, मन्मथ, जगस्त, अग्नि, सूम, इन्द्र, स्कन्द, शिव तथा दुर्वासा सम्प्रदाय । इनमे लोपामुद्रा एव मन्मथ सम्प्रदाय अब भी प्रचलित है, अब मन्मथ सम्प्रदाय का प्रचार ही मुख्य रह गया है । यह विश्वास है कि शकर के द्वारा भस्म हो जाने पर कामदेव ने श्रीविद्या की उपासना से जीवन प्राप्त किया था ।

युरोप मे १९१३ ई० के बाद शाक्तधम के कतिपय ग्रथो का प्रचार हुआ । आथर एवेलान या सर जान वुडरफ ने शाक्त तत्रो की प्रथम बार अँगरेजी भाषा मे व्याख्या की । पाइने के अनुसार ये दो भिन्न व्यक्ति है । परन्तु एवेलान अपना वास्तविक नाम प्रकाशित नही करना चाहते । अत पाठक को इन्हे भिन्न भिन्न दो व्यक्ति मान कर इनके ग्रन्थो को पढना चाहिए । ये दोनो सज्जन विचारो के इतिहास मे रुचि नही लेते, केवल वे व्याख्याएँ प्रस्तुत करना चाहते है, जो एक सच्चे साधक को भारतवष मे ज्ञात है ।[2] जमन लेखको मे ग्लैस्नैप्प (Glasenapp) तथा कोनो (Konow) ने इस मत पर लिखा है । जिमर ने भी इस मत पर प्रकाश डाला है, किंतु इन तीनो ने आथर एवेलान एव वुडरफ को आधार बनाया है । इस प्रकार एवेलान एव वुडरफ शाक्तमन के प्रचार मे सबसे महत्त्वपूण लेखक हैं ।

प्रत्येक धम के दो रूप दिखायी पडते हैं I दाशनिक या सैद्धान्तिक II प्रचलित (Popular) दाशनिक सावभौमिक तथा प्रचलित रूप स्थानीय होना है । दाशनिक रूप अध्यात्मिकना प्रधान होता है जबकि प्रचलित रूप मे जादू या अध-विश्वास मिल जाते हैं । पाश्चात्य लेखको मे हापकिंस, विलियम वाड, विलसन, मोनियर विलियम्स, बाथ, विलियम क्रुक आदि ने जो शाक्तमन की निन्दा की है, उसका कारण यह यह है कि इन सब पाश्चात्यो ने प्रचलित रूप पर

(१) वही, पृष्ठ वही

(2) The Saktas—Earnest A payne, page 2 3
Calcutta, 1933

ही ध्यान दिया है।[1] धर्म के सैद्धान्तिक रूप की कम से कम उपेक्षा नहीं होनी चाहिए।

शाक्तमत के विषय मे यह स्मरणीय है कि यह मत शैवधर्म से सम्बद्ध रहा है, काली, दुर्गा, चंडी, भैरवी, पार्वती, कुमारी उमा, गौरी, स्वतंत्र स्थानीय देवियां थीं, इनके नाम के साथ अनेक कथाएँ जुड़ती गई।[2]

शाक्तमत के उद्भव के विषय मे कथा यह है कि सती के शरीर को लेकर शिव विश्व भ्रमण करने लगे। विष्णु ने सती के शरीर को काट डाला जहां जो अंग गिरा, वहीं उसकी पूजा होने लगी—कामाख्या मे योनि एवं ज्वालामुखी (पंजाब) मे जीभ गिरी अतः वहां इन्हीं अंगों की पूजा होती है। कांगड़ा, उज्जैन, काशी, काञ्ची आदि मे शक्तिपीठ है।

इन पीठो मे शाक्तों द्वारा भयंकर कृत्य होते थे। नर बलि तो १८३५ ई० मे गैरकानूनी की गई है, उससे पूर्व नर-बलि भी दी जाती थी।

दर्शन शाक्त-दर्शन मे सांख्य तथा अद्वैत वेदान्त का समुचित रूप मिलता है। उपनिषद् के अद्वैतवाद (Monism) की प्रतिक्रिया में सांख्यमत का उद्भव हुआ था। अद्वैतवाद के साथ कठिनाई यह थी कि यदि चैतन्य ही सत है तो जड जगत् की स्थिति उस चैतन्य के साथ कैसे स्वीकार की जा सकती है? सांख्य इसीलिए पुरुष (चैतन्य) और प्रकृति को भिन्न भिन्न स्वतंत्र सत्ता मानता है, किन्तु यह स्पष्टतः ही द्वैतवाद है, और सांख्य को 'सृष्टि' कैसे और क्यों प्रारम्भ होती है, यह समझाने मे बड़ी उलझन हुई है, अतः शैव शाक्त और वैष्णव दार्शनिकों ने 'शक्तिवाद' को अपना कर पुरुष और प्रकृति के मेल का सिद्धान्त स्वीकार किया है अर्थात् शक्ति और शक्तिमान एक ही सत्ता है। शक्ति शक्तिमान का ही रूप (Aspect) है, चन्द्र-चन्द्रिका जिस प्रकार अभिन्न होने पर भी भिन्न हैं और भिन्न होने पर भी अभिन्न, इसी प्रकार शक्तिमान की शक्ति ही प्रकृति का रूपधारण कर लेती है। इस प्रक्रिया मे शक्तिमान को निष्क्रिय, सर्वातीत, निराकार सत्ता के रूप मे स्वीकार किया जाता है और शक्ति को उसी शक्तिमान का क्रियाशील रूप मात्र जाता है और इसमे द्वैतवाद एवं अद्वैतवाद दोनों की कठिनाइयों का समाधान हो जाता है।

---

1 Ibid—page 1   2 Ibid—page 7

शाक्तमत विष्णु शिव (शक्तिमान) की शक्ति के रूप में मानवीकृत करके उपासना का विषय बनाता है। शक्ति और शक्तिमान की एकता को ही सारे रहस्यो का आधार माना गया है। शक्ति को सहायक करण प्रकृति को उपादान कारण तथा शिव को निमित्त कारण माना गया है।

शाक्तदशन का विकाश सवाधिक रूप मे कश्मीरी शैवो द्वारा हुआ है। हम "कश्मीरी शैवमत-अध्याय" मे त्रिपुरारहस्य के आधार पर 'शाक्तमत' पर कुछ प्रकाश डाल चुके है, यहा उसकी पुनरावृत्ति की आवश्यकता नही है।

शाक्त-दशन 'शक्ति' को अधिक महत्त्व देता है, इस शक्ति को 'पराशक्ति' कहा गया है। इसे ब्रह्म या शिव की 'स्वतन्त्र शक्ति' कहा गया है। शक्ति को 'स्वतन्त्र' इसलिए कहा गया है क्योकि यह शिव की इच्छानुसार सृष्टि रचने मे स्वतन्त्र है।

जड जगत् का उत्पत्ति के लिए यह आवश्यक है कि ब्रह्म या चैतन्य मे कोई धम मानना पडता है, यह धम है 'स्वरूपस्फूर्त्ति', यह स्फूर्त्ति दो प्रकार की है—अहम् और इदम्। इदम्-इस स्फूर्त्ति मे पर की अपेक्षा की आशक्ति से चेतना मे अहम् की स्फूर्त्ति होती है, यही शरीराभिमान, क्रोध आदि है। इस सीमित की अनुभूति ब्रह्म द्वारा प्रेरित कला माया आदि आवरणो या कचुको द्वारा होती है। अखिल कलादि साधनभूत समष्टि चिति को ही पूणहन्ता कहा जाता है, आवरणो से परे समष्टिरूप चैतन्य की अनुभूति मे ही जब व्यष्टि जीवगत अहता लीन हो जाती है तब 'पूर्णाहन्ता' की अनुभूति होती है। यह 'पूर्णाहन्ता' (समष्टि अह) सृष्टि के आदि मे सृष्टि की इच्छा करती है, वह सृष्टि करने मे स्वतन्त्र है, अत उसे ब्रह्म की 'मायाशक्ति' भी कहते हैं। शकरचाय की 'माया' जड है, वह ब्रह्म के साथ एकीभून (Identified) नहीं है जबकि शैव शाक्तो के यहा 'शक्ति' चैतन्य का ही एक रूप है, वह शुद्धचिति है। यही 'शुद्धचिति' सृष्टि करती है, अत ब्रह्म की ही तरह शक्तिरूप जगत् भी सत् पदाथ है, भ्रम नहीं।

शुद्धचिति रूप शक्ति न तो क्रियाहीन परिस्पन्दरूप है और न परिणाम रूप बल्कि यह दपण प्रतिबिम्ब के अवभासवत 'अवभास रूपा' है, अत जगत् ब्रह्म का विवत नही है, ब्रह्म का आभास है।

यह अवभासरूपा शक्ति ज्ञान, इच्छा, क्रिया—तीन रूप धारण करती है। यह काल-देश, पात्रादि से स्वतन्त्र है यह स्वतन्त्र शक्ति अपने को दो रूपों में विभाजित करती है १ अपूर्ण अहंभाव २ पूर्णाहन्ता।

परिच्छिन्न अहंभाव युक्त चैतन्य का अंश सदाशिव कहलाता है। उपनिषदों में इसी को 'इश्वर' कहा गया है इस प्रकार चैतन्य अपने ही अंश (चित् शक्ति) के आवरण से अभिमानयुक्त हो जाता है।[1]

सृष्टि प्रलयकाल में यह जगत् शिव की कुक्षि में रहता है। जीवों का भी कुछ व्यक्तित्व शेष रहता है परन्तु उनमें आत्म चेतना Self consciousness) नहीं रहती। सृष्टि के प्रारम्भ में परावक्शक्ति या शब्द ब्रह्म "सर्वातीत पर ब्रह्म" को व्यक्त करता है। यह परावाक या शब्द ब्रह्म से संयुक्त रहता है जो अनन्त, अतीत एवं असीमित तत्त्व है 'परब्रह्म' की प्राप्ति का उपाय है 'परावाक् शक्ति' का जागरण, इसीलिए 'शाक्त' शक्ति को जागृत करने में विश्वास करते हैं।

सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्म की क्रियाशक्ति अपने को उद्घाटित (unfold) करती है और यह क्रियाशक्ति जगत् के रूप में बदल जाती है, जबकि परब्रह्म स्थिर और तटस्थ रहता है। वह इस शक्ति का साक्षी बनाता है, अतः जगत् शक्ति रूप है और ब्रह्म इस क्रिया का साक्षी है, द्रष्टा है।[2]

तन्त्रों में शक्ति को विमर्श (क्रिया) शक्ति तथा शिव को 'प्रकाश' कहा गया है।

प्रकाश का संयोग होने पर ही जगत् की उत्पत्ति होती है इस संयोग को नारी एवं पुरुष के संयोग की उपमा दी गई है, जिस प्रकार स्त्री पुरुष के संयोग से सृष्टि होती है उसी प्रकार प्रकाश (शिव) तथा विमर्श की संयोगावस्था से 'बिन्दु' का जन्म होता है जो दोनों की एकता (Union) का द्योतक होता है। बिन्दु की अवस्था में शक्ति एवं शिव दोनों का सामरस्य रहता है, इसे 'स्वायंभूलिङ्ग' भी कहा जाता है। शक्ति तथा शिव के इस समागम और सामरस्य को ही 'कामरूपपीठ' कहा जाता है[3]

१ विस्तार के लिए द्रष्टव्य—त्रिपुरारहस्य जिल्द ४ में गोपीनाथ कविराज की भूमिका।

2 Some Aspects of the Philosophy of Sakta Tantra—G N Kaviraj (princess of waee's series—Vol II)

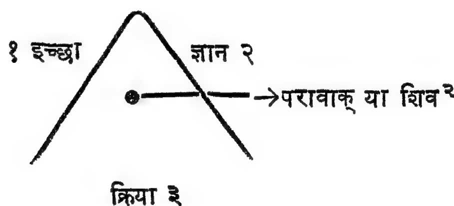
3 Some Aspects of the Philosophy of Sakta Tantra

गोपीनाथ कविराज के अनुसार विमश एव प्रकाश दोनो सर्वातीत शक्ति के ही दो रूप (Aspect) है, इसका तात्पर्य यह है कि शाक्त शैव दाशनिक परमशिव को 'परब्रह्म' के अर्थ मे प्रयुक्त करते है और इस परब्रह्म की शक्ति को 'सर्वातीत-शक्ति' कहते है, शिव एव विमश (क्रियात्मक) शक्ति उस सर्वातीत शक्ति के ही दो रूप है, अत परमशिव शिवोत्तीर्ण अवस्था है—यह स्मरणीय है।

अत शिव (प्रकाश) रूप को 'अम्बिकाशक्ति' तथा विमश शक्ति को 'शान्ता' भी कहा जाता है। इनके सामरस्य के बाद इच्छा (वामा) ज्ञान (ज्येष्ठा) तथा क्रिया (रौद्री) का विकास होता है। इन्ही को शाक्त पूर्णगिरि जालधर तथा उड्डीयान पीठ कहते है। यही पश्यन्ती, मध्यमा तथा बैखरी वाणी की स्थितिया कहलाती है और इन सबके परे है 'परावक्' या सर्वातीत शक्ति।

इच्छाशक्ति के उत्पन्न होते ही चैतन्य मे स्थित सूक्ष्म ब्रह्माण्ड के एक अश अपने को (जो वास्तव मे ब्रह्म का ही रूप है) अवभासित करने लगता है इस आभास को ही सृष्टि कहते है, यह आभास देश एव काल मे होता है। प्रलयकाल मे यह आभास रूप सृष्टि फिर चैतन्य से समा जाती है, उसी प्रकार जिस प्रकार दपण से आभास उत्पन्न होता है और फिर उसी दपण मे समा जाता है। जिस प्रकार दपण एव आभास भिन्न भिन्न प्रतीत होने पर भी एक है, उसी प्रकार सृष्टि शक्तिरूप ही है, और शक्ति तथा शक्तिमान की एकता हम बता ही चुके है।

ओकार द्वारा इन अवस्थाओ का ही प्रकट किया जाता है।[1]



क्रिया ३

(1) Some Aspects of the Philosophy of Sakta tantra

(२) शक्ति अक (कल्याण) मे कविराज जी ने त्रिकोण स्थित विन्दु को 'शिव रूप' भी कहा है यद्यपि विन्दु' सवदा शक्ति सहित है। त्रिकोण योनि है और विन्दु शिव का विन्दु (वीर्य)—(द्रष्टव्य शक्ति अक पृष्ठ ५८)।

सम्पूर्ण जगत इसी त्रिकोण और विन्दु से ही उत्पन्न होता है। पुरुष एव स्त्री का मिलन भी इसी की पुनरावृत्ति मात्र है।

१	२	३
पश्यन्ता	मध्यमा	बैखरी
अ	इ	म् = आइम्
सृष्टि	रक्षा	नाा
वामा	ज्येष्ठा	ौद्री
इच्छा	्ान	्रिया

शिव शक्ति (प्रकाश विमश) की सामरस्यावस्था तत्त्वा म परे की अवस्था है। शक्ति तत्त्वो के रूप मे शिव से भिन्न रूप धारण कर लेती है और साथ ही शिव मे अभिन्न भी रहता है। इसी शक्ति को शाश्वत योनि' (सृष्टि का कारण) कहा गया है, यही शिव (या पुरुष) के आनन्द का सार है क्योकि सृष्टि द्वारा वह 'शिव' को आनन्द देती है। शिव अपने ही अश द्वारा अपने को आवरण म बाधकर (जीव रूप धारण कर) सृष्टि का खेल रचता है और क्याकि यह सृष्टि रूपी क्रीडा शिव के भीतर ही होती है, अत इस आत्मानुभूति (Self realisation) कहा गया है, जैसे दपण म हम अपना ही रूप देखकर आनन्दित होते है, उसी प्रकार शक्ति जगत के रूप मे शिव का अवभासित (Reflected) कर देती है और जगत् रूपी अपना ही प्रतिबिम्ब देखकर शिव आनन्दित होत है अतएव सृष्टि शिव की आनन्दमय लीला है। जब शिव के साथ हम तादात्म्य स्थापित कर हम भी अपने को 'शिव समझते हैं तब सारा जगत् हमारे लिए भी आनन्दमय लीला बन जाता है और हम मुक्त हो जाते हैं—कचुक कट जाते है, "यह सब मैं ही हू' ऐसा अनुभव होने लगता है। इसीलिए आगम मे शक्ति को 'दपण' की उपमा दी गई है। शक्ति दपणवत् शिव के आत्मज्ञान को आभासित करती है । इस शक्ति द्वारा ही शिव 'आत्मसाक्षात्कार' करता है, इस शक्ति के बिना शिव को इसीलिए 'शव' कहा गया है क्याकि शक्ति के बिना शिव आत्म साक्षात्कार (Self Knowledge) या आत्मज्ञान नही कर सकते। इस 'आत्मज्ञान' को ही तत्र 'अहम्' कहते है। अपनी शक्ति का दशन ही आत्म-साक्षात्कार है, अपने का जानना है। यही 'पूर्णाहन्ता चमत्कार' कहलाता है[1]।

(१) It (शक्ति) is likened in the Agam to a mirror, serving to reflect the self-knowledge of Shiva For it is through it,

जिस प्रकार एक दपण किसी दृश्य को तब तक आभासित नही कर सकता जब तक कि दृश्य बाहर न हो, यदि कोई दृश्य बाहर हो भी और यदि प्रकाश न हो तो उस दृश्य का आभास दपण मे प्रकट न होगा अत 'पराशक्ति' को भी जगत् रूपी आभास के लिए 'परशिव' की आवश्यकता पडती है। यद्यपि वस्तुत पराशक्ति एव परशिव एक और अभिन्न हैं। इसको अन्य प्रकार से भी समझाया जा सकता है—

तत्त्वातीत पदाथ या अनुत्तर अवस्था (परमशिव) के बोध के लिए 'अकार का प्रयोग होता है। यह प्रथम अवस्था है। द्वितीय अवस्था मे शिव व शक्ति का सामरस्य होता है, इसमे शिव को 'अकार' या प्रकाश तथा शक्ति को 'हकार' या विमश कहते है। शिव अग्नि रूप है, शक्ति सोमरूपा है, इन दोनो का बिन्दु रूप मे परिणत होना (रज+बीज) ही 'अहम्' है। साम्यभग होने पर यह बिन्दु शुक्ल व रक्त बिन्दु रूप मे व्यक्त होता है जैसे अग्नि के स्पश से घृत द्रवित होता है, वैसे ही प्रकाशात्मक शिव के सपक से विमश रूपा पराशक्ति द्रवित होती है और उससे परमानन्द अमृत धारा का स्राव होता है, यही धारा 'चित्कला' या ब्रह्मानन्द का स्वरूप है[२]।

जब प्रकाशबिन्दु विमशबिन्दु मे प्रविष्ट होता है, तब बिन्दु मे—उच्छूनता (Swelling) उत्पन्न होनी है, तब इस बिन्दु से 'नाद' उत्पन्न होता है, इस 'नाद' मे समस्त 'तत्व' रहते है, यही नाद व्यक्त होकर 'त्रिकोण' रूपधारण कर लेता है।

शाक्त विचारक सृष्टि के विकास को समझाने समझने के लिए तथा साथ ही आध्यात्मिक अनुभूतियो की प्राप्ति के लिए अनेक त्रिकोणो (चक्रस्थित) का ज्ञान

that Shiva, eternally knows himself which Self-knowledge constitutes the essence (चैतन्य) and without it Shiva is no more than a (शव), a lump of lifeless matter This self knowledge is is technically known as अहम् to see one's own Sakti is to see and enjoy one's own self This (अहम्) is in reality the supreme self revealed in and to it self as an Infinite Delight (पूर्णाहन्ताचमत्कार)

Quoted from the Some Aspects of the Philosophy of Sakta Tantra

(२) शक्ति अक—(कल्याण-गोरखपुर) गोपीनाथ कविराज

प्राप्त करते है, इनकी व्याख्या अत्यधिक रहस्यमय और साकेतिक है—उदाहरण के लिए उपर्युक्त त्रिकोण मे एक विन्दु प्रकाश है एक विमर्श है, इन दोनो के सयोग मे 'काम या रवि' नामक मिश्रविन्दु व्यक्त होता है—अग्नि तथा सोम इसी 'काम' के कला रूप मे माने जाते हैं। अत 'कामकला' कहने मे—प्रकाश विमर्श तथा काम या रवि—इन तीनो का बोध होता है। इसी प्रकार आगे त्रिकोणात्मक पद्धति पर सृष्टि विकास होता है, यही कारण है कि किसी भी देवता के मूल तत्व के अनुसधान मे लिङ्गयोनि का समन्वयरूप त्रिकोणस्थित 'मध्यविन्दु' ही दिखायी पडता है[1]—तात्पर्य यह कि शाक्तो के प्रत्येक देवता के अनुसधान मे योनिस्थित वीर्य विन्दु के ही दर्शन होते हैं और इस वह सृष्टि प्रक्रिया के रूप मे समझते हैं, इसलिए भोग तथा मोक्ष दोनो को एक ही पद्धति द्वारा यहा समझाया जाता है। व्यष्टि, समष्टि एव महासमष्टि—सबमे एक ही क्रिया होती है।

प्रपच के लय हो जाने के बाद, वृत्तिनाश हो जाने के बाद भी 'एककला' जागृत रहती है। निर्वाण के बाद यही कला जीव की 'उन्मनी' अवस्था मे रहती है। इसकी भी निवृत्ति के बाद जिस निष्काम अवस्था की प्राप्ति होती है, वही शिव शक्ति तत्व है, यही 'महावैन्दवावस्था' है, इसमे किसी का कोई अस्तित्व शेष नही रहता[2]

इस अवस्था से स्थूल जगत् पुन व्यक्त होता है जिस प्रकार दीप-कलिका से प्रभा मडल विकीर्ण होता है, उसी प्रकार यह स्थूल, जगत् ही प्रभा मडल के समान व्यक्त होता है और शिव शक्तितत्व ही वह दीप-कलिका है। साधक इस स्थूलरश्मि माला को इन्द्रियो प्रत्याहार से समेटने का प्रयत्न करते हैं। इसी प्रकार आन्तरिक अन्त करण रूपी रश्मिमाला भी आत्मविन्दु मे लीन हो जाता है। इस प्रकार त्रिकोणात्मक अभिव्यक्ति के बीच मध्य विन्दु मे दिव्य मिथुन शिव-शक्ति का शृगारादि विलास चलता रहता है। श्री गोपीनाथ कविराज के अनुसार राधा कृष्ण का युगल मिलन, आदि बुद्ध एव प्रज्ञा पारमिता के युगनद्धरूप यही है। यही त्रिकोण ही 'प्रणव' है। सुप्त कुडलिनी शक्ति भी यही है—कुडलिनी जागृत होने पर शिव शक्ति का भेद विगलित हो जाता है और जीवशक्ति एव शिवशक्ति—एकाकार हो जाते हैं। विन्दु तथा त्रिकोणत्व का भेद दूर हो जाने के कारण विन्दु

(१) शक्ति अक—कल्याण—गोपीनाथ कविराज,

(२) वही द्रष्टव्य—'शक्ति साधना' शीर्षक निबध

का विन्दुत्व व त्रिकोणत्व कुछ भी शेष नही बचता, जो शेष रहना हे वह आदि सत्ता हे—ॅ।वाङ्गमासगोचर हे ।[1]

शिव शक्ति की एकता ही शाक्त साधना का विषय हे । शिव को अकुल और शक्तिको कुल भी कहा गया हे, अत अकुल एव कुल का अनुसधान ही शाक्तदशन तथा उद्देश्य है,[1] इमीलिए यह 'कौलदशन' कहलाता है ।

तत्त्वजाल उपयुक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि परमशिव अपना शक्ति पराशक्ति से किस प्रकार शिव एव शक्ति के रूप मे आभासित होता है और किस प्रकार शिव शक्ति सामरस्य या समागम से सृष्टि होती है ।

(१) अत परमशिव जब स्वेच्छा से उपाधि से आछन्न होकर ही 'शिव' कहलाता है, यह प्रथम 'तत्त्व' है ।

(२) शक्ति—यह द्वितीय तत्व है—इसे पूर्वोदितासृष्टि की 'प्रपचवासनारूपा' इच्छा कहा गया हे ।[3]

(३) सदाशिव—अहम् के उदय की अवस्था ही 'सदाशिवतत्त्व' है ।

(४) ईश्वर—भेद विषयिणीवृत्ति से युक्त तुरीयावस्था का तत्त्व ही इश्वर कहलाता है । इसमे 'इदम्' का बोध होता है यह तत्त्व भेद को विषय करता है ।

(५) विद्या—'जगत् मे ही हू'—यह जो सदाशिवसम्बधिनी वृत्ति है, वही विद्या तत्त्व है ।

(६) माया—यह जगत् हे—ऐसी भेदबुद्धि ही माया है ।

(७) अविद्या—विद्या का तिरोधान करनेवाली वृत्ति ही अविद्या है ।

(८) कला—जीव मे निष्ठ जो सर्वकत्तत्त्व है, जब वह 'किंचित्कत्तत्व' से सकुचित हो जाता है, तब उसे 'कला तत्त्वास्था' कहते है ।

(१) शक्ति-अक—शाक्त-साधना

(२) अकुल शिव हत्युक्त, कुल शक्ति समीरितम् ।
कुलानुकुलासन सन्धान निपुणा कौलिका प्रिये ॥
—हसविलास, पृष्ठ ११४

शुरामकल्प तत्र से उक्त इनके अनुसार इन सभी तत्त्वो की व्याख्याएँ की गई हैं ।

(९) राग—जीव में निष्ठ जो नित्यतृप्ति है, वही जब किसी विषय में तृप्ति से सकुचित हो जाती है, तब 'रागतत्त्व' कहलाती है।

(१०) काल—आच्छादनग्रस्त चैतन्य की वृत्ति ही काल है जिसमें जन्मता है, बढता है, नष्ट होता है आदि प्रयोग होते है।

(११) नियति—अविद्या द्वारा सर्वस्वतन्त्रता के तिरोधान हो जाने पर जिसे 'कारण' रूप में माना जाता है, वही नियति है अर्थात् अविद्या के कारण स्वातंत्र्य का लोप हो जाता है, तब अज्ञ जीव असफलता सफलता, लाभ-हानि आदि अवस्थाओं में जिस कारण की खोज करता है, वह तत्त्व नियति है।[1]

उपर्युक्त ११ तत्त्वो के अतिरिक्त जीव, प्रकृति मन, बुद्धि, अहकार, १० इन्द्रिया, पाच तन्मात्राएँ (शब्द, रूपादि), तथा पचभूत २५ तत्त्व और है, कुल मिलाकर ३६ तत्त्व ही हैं, शैव-दर्शन मे भी यही ३६ तत्त्व माने जाते है, जिनकी चर्चा कश्मीरी शैवदर्शन मे हम कर चुके है।

किंचित् ध्यान से देखने पर ज्ञात होता है कि साख्य के २५ तत्त्वो का यथावत् शाक्तशैव दर्शन स्वीकार करता है, उनमे ११ तत्त्वो को और जोड दिया गया है और इन ११ तत्त्वो के, द्वारा प्रकृति एव पुरुष के द्वैतभाव को समाप्त कर दिया गया है, प्रकृति को परमशिव की शक्ति मान कर साख्य के द्वैतवाद का अस्वीकृति कर दिया गया है, इस प्रकार शाक्त एव शैव दार्शनिक दृष्टि मे ऐसे अद्वैतवादी है जो ब्रह्म तथा जगत—दोनो को 'सत्' मानते है और फिर भी अद्वैतवादी है क्योकि उनकी दृष्टि से जडजगत् चैतन्यतत्त्व का ही एक रूप है—चैतन्य से ही चैतन्यतत्त्व जडतत्त्व व्यक्त होता है। किन्तु शाक्त-शैव दर्शन न परिणामवादी है, न आरम्भवादी है, न विवर्तवादी है, इसे हम 'अविकार परिणामवादी' कह सकते है। क्योकि शिव तटस्थ और उदासीन होकर 'सृष्टि' को देखते हैं, अत इसे 'सृष्टिवाद' भी कह सकते है, पारमार्थिक दृष्टिकोण से ही इस मत का यह सज्ञा दी जा सकती है।

(१) तस्य सर्वस्वतन्त्रस्य तिरोधान पूर्वोक्ताविद्ययाकृत, तदेव कारणान्तरापेक्ष यत्कारणामपेक्षते, तन्नियतिपदवाच्य एकादश तत्त्वम्—परशुरामकल्प-तन्त्र (पृष्ठ २३) विस्तार के लिए द्रष्टव्य—'कश्मीरी शैवदर्शन'

का विंदुत्व व त्रिकोणत्व कुछ भी शेष नही बचता, जो शेष रहना है वह आदि सत्ता हे—ऽ ावाङ्मा ासगोचर हे ।[1]

शिव शक्ति की एकता ही शाक्त साधना का विषय हे । शिव को अकुल और शक्तिको कुल भी कहा गया हे, अत अकुल एव कुल का अनुसधान ही शाक्तदशन तथा उद्देश्य हैं,[1] इसीलिए यह 'कौलदशन' कहलाता हे ।

तत्त्वजाल उपयुक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि परमशिव अपनी शक्ति पराशक्ति से किस प्रकार शिव एव शक्ति के रूप मे आभासित होता है और किस प्रकार शिव शक्ति सामरस्य या समागम से सृष्टि होती है ।

(१) अत परमशिव जब स्वेच्छा से उपाधि से आछन्न होकर ही 'शिव' कहलाता हे, यह प्रथम 'तत्त्व' है ।

(२) शक्ति—यह द्वितीय तत्व है—इसे पूर्वोदितासृष्टि की 'प्रपचवासनारूपा' इच्छा कहा गया हे ।[3]

(३) सदाशिव—अहम् के उदय की अवस्था ही 'सदाशिवतत्त्व' है ।

(४) ईश्वर—भेद विषयिणीवृत्ति से युक्त तुरीयावस्था का तत्त्व ही इश्वर कहलाता है । इसमे 'इदम्' का बोध होता है यह तत्त्व भेद को विषय करता है ।

(५) विद्या—'जगत् मैं ही हू'—यह जो सदाशिवसम्बधिनी वृत्ति है, वही विद्या तत्त्व है ।

(६) माया—यह जगत् हे—ऐसी भेदबुद्धि ही माया है ।

(७) अविद्या—विद्या का तिरोधान करनेवाली वृत्ति ही अविद्या है ।

(८) कला—जीव मे निष्ठ जो सर्वकत्तत्त्व है, जब वह 'किंचित्कत्तत्व' से सकुचित हो जाता है, तब उसे 'कला तत्त्वास्था' कहते है ।

(१) शक्ति-अक—शाक्त-साधना

(२) अकुल शिव हत्युक्त, कुल शक्ति समीरितम् ।
कुलानुकुलासन सन्धान निपुणा कौलिका प्रिये ॥

—हसविलास, पृष्ठ ११४

शुरामकल्प तत्र से उक्त इनके अनुसार इन सभी तत्त्वो की व्याख्याएँ की गई है ।

(९) राग—जीव में निष्ठ जो नियतृति है, वही जब किसी विषय में शक्ति से सकुचित हो जाती है, तब 'रागतत्त्व' कहलाती है।

(१०) काल—आच्छादनग्रस्त चैतन्य की वृत्ति ही काल है जिसमें जन्मता है बढ़ना है, नष्ट होना है आदि प्रयोग होते हैं।

(११) नियति—अविद्या द्वारा सर्वस्वतन्त्रता के तिरोधान हो जाने पर जिसे 'कारण' रूप में माना जाता है, वही नियति है अर्थात् अविद्या के कारण स्वातन्त्र्य का लोप हो जाता है, तब अन्त जीव असफलता सफलता, लाभ हानि आदि अवस्थाओं में जिस कारण की खोज करता है, वह तत्त्व नियति है।[1]

उपर्युक्त ११ तत्त्वों के अतिरिक्त जीव, प्रकृति, मन, बुद्धि, अहकार, १० इन्द्रियों, पाच तन्मात्राएँ (शब्द, रूपादि), तथा पचभूत २५ तत्त्व और हैं, कुल मिलाकर ३६ तत्त्व ही हैं, शैव-दर्शन में भी यही ३६ तत्त्व माने जाते हैं, जिनकी चर्चा कश्मीरी शैवदर्शन में हम कर चुके हैं।

किंचित् ध्यान से देखने पर ज्ञात होता है कि सांख्य के २५ तत्त्वों को यथावत् शाक्तशैव दर्शन स्वीकार करता है, उनमें ११ तत्त्वों को और जोड़ दिया गया है और इन ११ तत्त्वों के, द्वारा प्रकृति एव पुरुष के द्वैतभाव को समाप्त कर दिया गया है, प्रकृति को परमशिव की शक्ति मान कर सांख्य के द्वैतवाद को अस्वीकृति कर दिया गया है, इस प्रकार शाक्त एव शैव दार्शनिक दृष्टि से ऐसे अद्वैतवादी हैं जो ब्रह्म तथा जगत—दोनों को 'सत्' मानते हैं और फिर भी अद्वैतवादी हैं क्योंकि उनकी दृष्टि से जडजगत् चैतन्यतत्त्व का ही एक रूप है—चैतन्य से ही चैतन्यतत्त्व जडतत्त्व व्यक्त होता है। किन्तु शाक्त-शैव दर्शन न परिणामवादी है, न आरम्भवादी है, न विवर्तवादी है, इसे हम 'अविकार परिणामवादी' कह सकते हैं। क्योंकि शिव तटस्थ और उदासीन होकर 'सृष्टि' को देखते हैं, अत इसे 'सृष्टिवाद' भी कह सकते हैं, पारमार्थिक दृष्टिकोण से ही इस मत का यह संज्ञा दी जा सकती है।

(१) तस्य सर्वस्वतन्त्रस्य विपिधान पूर्वोक्ताविद्ययाकृत, तदेव कारणान्तरापेक्ष यत्कारणामपेक्षते, तन्नियतिपदवाच्य एकादश तत्त्वम्—परशुरामकल्पतन्त्र (पृष्ठ २३) विस्तार के लिए द्रष्टव्य—'कश्मीरी शैवदर्शन'

दीक्षा शाक्तो मे भी शैवो की तरह शाक्ती, शाम्भवी एव मात्री दीक्षा प्रचलित है। शाक्ती दीक्षा मे गुरु शिष्य मे शक्ति का प्रवेश कराता है। शाम्भवी दीक्षा मे कामेश्वर (शिव) कामेश्वरी (शक्ति) के रक्त शुक्ल चरणो की भावना करके दीक्षा दी जाती है।

मात्री दीक्षा मे शिष्य के कान मे गुरु मत्र पढता है।

वस्तुत तीना दीक्षाओ मे 'ध्यान' की प्रक्रिया ही स्वीकृत है। उदाहरण के लिए शाक्ती दीक्षा मे शिष्य से कहा जाता है कि वह ध्यान करे कि उसके मूलाधार चक्र से ब्रह्मविल तक अग्नि प्रज्वलित हो रही है।[1] इस प्रकार के ध्यान कराने से शिष्य की कुडलिनी जाग्रत हो जाती है, ऐसा विश्वास है, परन्तु यह सब गुरु-कृपा से होता है, यह बार-बार कहा गया है।

दीक्षा मे गुरु का महत्व सर्वोपरि है। गुरु और देवता और मत्र—इन तीना की एकता प्रतिपादित की गई है। जब शिष्य इन तीनो के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है, सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

दीक्षा के बाद शिष्य का नामकरण होता है यथा आनन्दनाथ, गणनाथ आदि।

देवी रहस्य मे इस दीक्षा का विस्तृत वणन मिलता है।[2] नवरात्रि मे नदी तट पर, ईशानदिशा मे वेदी बनाकर परादेवी का 'चक्र' बनाना चाहिए। मूलमत्र का उच्चारण करते हुए सिंदूर से देवी का यत्र बनाये, इस मत्र मे विन्दुयुक्त त्रिकोण से युक्त छना ६ त्रिकोण होते है, गगेश, धर्म, वरुण तथा कुबेर की स्थापना की जाती है। खटकोणो मे मोहिनी की पूजा होती है, त्रिकोण के मध्यविन्दु मे परादेवी की पूजा होती है। पुन गुरु की पूजा की जाती है। योनिरूप कुड मे होम किया जाना

(१) तस्यामूलमाब्रह्मविल प्रज्वलन्ती प्रकाशलहरी ज्वलदननिभा
ध्यात्वा तद्रश्मिभिस्तस्य पापपाशान् दग्ध्वा (परशु० सूत्र ३६ सूत्र)

(२) देवीरहस्य रामचन्द्र काक, हरभट्ट शास्त्री
प्रथम पटल १६४१, श्रीनगर, कश्मीर

'देवीरहस्य' 'रुद्रयामल' का भाग माना जाता है, यद्यपि इसमे कुछ भाग मुसलमानी शासन मे लिखे गए है तथापि इसमे गुरु शिष्य परपरा से प्राप्त प्राचीन साधना का वणन है (द्रष्टव्य—देवीरहस्य की भूमिका)

है। न्यास द्वारा भूत शुद्धि की जाती है। प्राणयाम एवं ध्यान के बाद गुरु मन्त्र देता है। देवीरहस्य में जप, होम, पुरश्चरण आदि का विस्तार से वर्णन है।

शक्तिपात शाक्तयोग में शक्तिपात का विशेष महत्व है। शक्तिपात का विस्तृत वर्णन कश्मीर शैवदर्शन में किया गया है। शक्ति-साधना में भी शक्तिपात का अर्थ ब्रह्म या गुरु का अनुग्रह है, इससे दिव्य शक्तियाँ अकस्मात् जागृत हो जाती हैं।

कहा गया है कि शक्तिपात से शिष्य अनुग्रह प्राप्त करता है। जहाँ शक्ति अवतरित नहीं होती, वहाँ सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती।[1]

दीक्षाओं के शाक्त साधना में कई भेद है।[1] कलावती दीक्षा 'शारदातिलक' में इसका वर्णन किया गया है। तत्त्वाध्वा, भुवनाध्वा, वर्णाध्वा, मन्त्राध्वा इन पांच दीक्षाओं का विधान है। कश्मीर शैवदर्शन में इसका विवरण दिया गया है।

हंसविलास तन्त्र में एक मनोरंजक बात कही गई है कि कलयुग में तो सभी वर्णसंकर है, अतः कौन सी दीक्षा दी जाय? इसका समाधान यह है कि ब्रह्मचर्य से सन्यास से गायत्री-दीक्षा या वैदिकदीक्षा दी जा सकती है, किन्तु मोक्ष प्राप्ति के लिए तुर्याश्रम में शिवदीक्षा या शाक्तदीक्षा ही विवेय है। क्योंकि श्रुति शुष्क है, अतः कर्मयोगी, भक्तियोगी तथा राजयोगी तुर्याश्रमी बनते हैं और शिवदीक्षा प्राप्त करते हैं।[2]

दीक्षा का वास्तविक तात्पर्य गुरु द्वारा ज्ञान के प्रकाश का दान है (दीयते ज्ञानम्) जिससे पापावरण का नाश हो जाय। सामान्यतः इसका अर्थ शिष्य के कान में मन्त्र पढ़ना होता है।[3] ताराभक्तिसुधार्णव में क्रियावती, वर्णमयी कलावती तथा वेधमयी—दीक्षा के ये भेद किये हैं।[4]

---

(१) शक्तिपातानुसारेण शिष्योऽनुग्रहमर्हति।
यत्र शक्तिर्न पतति, तत्र सिद्धिर्न जायते। हंसविलास, पृष्ठ १०२

(२) हंसविलास, पृष्ठ ११० १११

(३) ताराभक्तिसुधार्णव, Tantric Texts XXI 1940, Calcutta introduction, Page 7

(४) वही, पृष्ठ ८

शक्ति साधना शाक्तो के अनुसार स्वविमर्श ही पुरुषार्थ है (स्वविमर्श पुरुषार्थ [1]) अर्थात् साधक जब यह अनुभव करे कि परशिव ही हू, सोऽह, ऐसा प्रत्यभिज्ञान ही उद्देश्य है, प्राप्तव्य है। जैसे कण्ठस्थ आभूषण का विस्मरण हो जाने पर उसके अन्वेषण के लिए इधर उधर भटकते है और जब उसका पुन स्मरण हो आता है (प्रत्यभिज्ञान) उसी प्रकार जीव अवस्था मे हम यह भूल जाते है कि हम परशिव ही है। यह 'ज्ञान' हमे भगवत्कृपा से ही प्राप्त होता है।

अत शाक्त दर्शन मे भी सर्वप्रथम शक्ति की कृपा की ही आकाक्षा की जाती है। बिना देवी की कृपा के कुछ भी प्राप्त नही होता। शैव एव वैष्णव भी यही मानते है।

भगवत्कृपा को प्राप्त करने के लिए उपासना की आवश्यकता है। [2] योगद्वारा प्राप्त मोक्ष मे पुनरावृत्ति की—पुन जन्मधारण की सम्भावना रहती है, अत उपासना अनिवार्य है।

शाक्त शैव उपर्युक्त कारण से ही योग के साथ भक्ति या उपासना को आवश्यक मानते है।

उपासना मे मन्त्र महत्त्वपूर्ण है क्योकि वे साक्षात् पराशक्ति स्वरूप है, परा शक्ति बैखरी वाणी के रूप मे स्फुरित होती है अत मन्त्रो द्वारा उस सूक्ष्म सर्वातीत सत्ता या परावाक् की अनुभूति सहज ही हो सकती है। इसीलिए मन्त्रो मे अचिन्त्य-शक्ति मानी गई है [3]

मन्त्र केवल किसी वर्ण के मात्र उच्चारण को नही कहते अपितु गुरु, मन्त्र, देवता, आत्मा, मन तथा पवन (प्राणवायु)—इनकी एकता स्थापित करनी पडती है, इस ऐक्य की अवस्था मे मंत्र का उच्चारण होता है, अत मन्त्र के साथ ध्यान मिला रहता है, यह एकता 'भावना' से सिद्ध होती है। भावनारहित मन्त्र का जाप निष्फल रहता है। मन्त्र एव विद्या मे शाक्त साधक अतर बताते है। मन्त्र का सम्बध

(१) परशुराम कल्पसूत्र—सूत्र ६

(२) वही, सूत्र ६ की व्याख्या

(३) वही—मन्त्राणामचिन्त्यशक्तिता—सूत्र ८

पुरुष देवताओ से और विद्या सम्बद्ध स्त्री देवताओ से होता है। शिव शक्ति की एकता के लिए विद्या का प्रयोग मत्र के साथ किया जाता है।[१]

साधक की चित्तवृत्ति के अनुसार भिन्न भिन्न देवियो के जनक विद्याओ का विधान किया गया है। कालिका के यत्र (विद्या) को तामसी षोडशी के मत्र का राजसी तथा परादेवी के मत्र को सात्विक माना जाता है[२]

वालादेवी का मत्र—ऐ क्ली सौ वालायै नम

काली का मत्र—क्री क्री क्री हू हू ह्री ह्री दक्षिणे कालिके

क्रीं क्री क्री हू हू ह्री ह्री स्वाहा

सरस्वती—ओ ह्री ऐ ह्री ओ सरस्वत्यैनम

षोडशाक्षरी मत्र (१६ वणवाला) } श्री ह्री क्ली ऐं सौ ओ ह्री श्री कएइलह्री हसकहलह्री

सकलह्री सौ ऐ क्ली ह्री श्रीं

इसी प्रकार अन्य देवियो के अलग अलग तत्र है[३]। देवीरहस्यतंत्र मे शिव एव विष्णु के भी मत्र दिये गए है। इससे स्पष्ट है कि विष्णु को तात्रिक देवता माना जाता है।[४] इन मत्रो के तत्रो मे 'विद्या' (शुद्धज्ञान) कहा जाता है।

तत्रो का विश्वास है कि मत्रजप से ही सिद्धि होती है, वैष्णवो का भी यही विश्वास है। देवी रहस्य मे मत्रजप के दक्षिण मार्गी एव वाममार्गी-दोनो-उपाय वर्णित है। वाममार्ग के अनुसार 'मधुपानपरायण' साधक को किसी नग्न परस्त्री के साथ समागम-अवस्था मे ही मत्र का १ लाख बार जप करना चाहिए—आशुसिद्धि का यह श्रेष्ठ उपाय है।[५]

(१) ललिता सहस्रनाम ब्राह्माण्डपुराण के उत्तरखड मे प्राप्त—भास्कर राय की टीका सहित, अनतकृष्ण शास्त्री द्वारा अँगरेजी मे अनूदित, द्वितीय सस्करण ओटकमड १९२५, भूमिका भाग

(२) देवीरहस्य रामचन्द्र काक—१९४१ श्रीनगर कश्मीर पटल १ पृष्ठ ७१ ७२

(३) वही, पटल २ (४) वही, पटल ४

(५) वही, पटल १०, पृष्ठ २५

सिद्धि का अथ 'शक्ति प्राप्ति' किया गया है। शक्ति का अर्थ यह है—जप के अन्त मे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और सहारक जो 'मति' उत्पन्न होती है, उसी को 'शक्ति' कहते है।[1]

मत्र नादात्मक है, इस नाद का अनुसधान ही शाक्त-साधना का मुख्य विषय है, किन्तु दु ख की बात यह है कि सामान्य लोग बाह्य बातो पर अधिक बल देते हैं।

ललिता सहस्रनाम मे कहा गया है कि देवी का ध्यान स्त्री या पुरुष—दोनो रूपो मे किया जा सकता है क्योकि देवी न स्त्री लिङ्ग है, न पुल्लिङ्ग। ललिता सहस्रनाम मे इस देवी के लिए अक्षरो की सख्या के अनुसार मत्रो का विधान किया गया है यया—

पिंडमत्र एकाक्षरी मत्र

कत्तरिमत्र २ अक्षर के

बीज ३ से ६ अक्षरो तक के

मत्र १० से २० अक्षरो तक के

माला २० से अधिक अक्षरा की माला होती है

मत्र या विद्या को 'कादि' या 'हादि' विद्या के नाम से पुकारा जाता है। प्रारम्भ मे 'क' होने पर 'कादिविद्या' अन्यथा 'हादि विद्या' होती है।

कुडलिनी योग 'षट्चक्रभेद' द्वारा नादानुसधान ही शाक्त योग का मुख्य विषय है। आज्ञाचक्र के भेदन के बाद ज्ञान का उदय होता है। इसके बाद विन्दु स्थान है जो योगियो का तृतीय नेत्र हे। इसमे स्थित होकर द्रष्टा प्रपच को तटस्थ होकर देख सकता है। अत यह समझना कि हठयोग केवल सिद्धि के लिए है, गलत है यद्यपि बहुत से योगी हठयोग को केवल सिद्धिदाता मानते है।

'विन्दु के बाद अधचन्द चक्र है। विन्दु को चन्द्रविन्दु तथा अधविन्दु को अध-चन्द कहते है इसी मे अष्टकला शक्ति का विकास होता है। इसके बाद घोर अवरोधकारी अवस्था का उदय होता है, यह 'रोधिनी' कहलाती है। इस भेदकर साधक नाद-भूमि मे प्रतिष्ठित होता है। ब्रह्मरन्ध्र मे नाद का लय होता है। इसके बाद चित् शक्ति का उदय होता है, तत्पश्चात् त्रिकोणस्वरूपा 'व्यापिका' है, वह

(१) वही, पटल १४, पृष्ठ १३

विन्दु के विलासस्वरूप वामादि शक्तित्रय से सघटित है। इसके पश्चात् 'समना' शक्ति का उदय होता है, यह शिव से संयुक्त रहती है। 'समनावस्था' में आकर मन स्पन्दन हीन होकर समाप्त हो जाता है, इसके बाद 'चिद्रूपा' एक कला रहता है, इसे 'निवाणकलारूप' कहा गया है, यही 'उन्मनाभूमि' है, सांख्य इसी को 'कैवल्य' कहते हैं इसके पश्चात् विन्दु भी लय हो जाता है, महाशक्ति का आविर्भाव हो जाता है, यही पूर्णता की अवस्था है।[1]

विन्दु का जब लय होता है, तो एक रिक्त दशा उत्पन्न होती है, इसी को योगी अमावस्या कहते हैं, इसके बाद महाशक्ति के आविर्भाव के बाद पूर्णदशा' को ही 'पूर्णिमा कहा जाता है। महाशक्ति की 'अमावस्या की ओर जो स्फूर्ति है, वही 'कालीरूप' है और पूर्णिमा के रूप में षोडशी त्रिपुरा सुन्दरी या श्रीविद्या व्यक्त होती है भयंकर एवं कोमल देवियों के रूप का रहस्य यही है, इसी को 'कालीकुल' या 'श्रीकुल' भी कहा जाता है। इन दोनों के मध्य में तारा या तारिणी विद्या है[2] कुडलिनी जाग्रत होने पर ही यह अवस्था प्राप्त होती है।

कविराज जी के अनुसार शक्ति-साधना में सकल निष्कल तथा मिश्र शक्ति की ये तीन अवस्थाएँ हैं। क्रम का ध्यान रखने से सकलभाव की उपासना निकृष्ट है, मिश्रभाव की उपासना मध्यम है तथा निष्कल उपासना ही श्रेष्ठ है, कविराज जी बिना गुरु कृपा के और कुडलिनी के जागरण के किसी को शक्ति उपासना का अधिकारी नहीं मानते।

मूलाधार से आज्ञा चक्र पर्यन्त चक्रेश्वरी रूप में शक्ति की आराधना निकृष्ट उपासना है। परन्तु जो साधक इन्द्रिय तथा प्राण की गति का अवरोध कर कुलपथ में प्रविष्ट नहीं हो सकता उसके लिए देवी की अधम उपासना भी नहीं है[3]।

भेद-बुद्धि जब तक है, तब तक मूलाधार से सहस्रदल कमल तक, देवतादि सहित समग्र देवी-चक्र की उपासना ही क्रमात्मक अपरा पूजा है। कुडलिनी योग के पूर्ण होने पर साधक के हृदय में नाद की अभिव्यक्ति ही आन्तर जप या मानसजप

(१) शक्ति अंक—'शक्ति-साधना'—कल्याण गोरखपुर
(२) वही (३) वही

सिद्धि का अथ 'शक्ति प्राप्ति' किया गया है । शक्ति का अर्थ यह है—जप के अन्त मे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और सहारक जो 'मति' उत्पन्न होती है, उसी को 'शक्ति' कहते है ।[1]

मन्त्र नादात्मक है, इस नाद का अनुसधान ही शाक्त-साधना का मुख्य विषय है, किन्तु दु ख की बात यह है कि सामान्य लोग बाह्य बातो पर अधिक बल देते हैं ।

ललिता सहस्रनाम मे कहा गया है कि देवी का ध्यान स्त्री या पुरुष—दोनो रूपो मे किया जा सकता है क्योकि देवी न स्त्री लिङ्ग है, न पुल्लिङ्ग । ललिता सहस्रनाम मे इस देवी के लिए अक्षरो की सख्या के अनुसार मन्त्रो का विधान किया गया है यया—

पिंडमन्त्र एकाक्षरी मन्त्र

कत्तरिमन्त्र २ अक्षर के

बीज ३ से ६ अक्षरो तक के

मन्त्र १० से २० अक्षरो तक के

माला २० से अधिक अक्षरो की माला होती है

मन्त्र या विद्या को 'कादि' या 'हादि' विद्या के नाम से पुकारा जाता है । प्रारम्भ मे 'क' होने पर 'कादिविद्या' अन्यथा 'हादि विद्या' होती है ।

कुडलिनी योग 'षट्चक्रभेद' द्वारा नादानुसधान ही शाक्त योग का मुख्य विषय है । आज्ञाचक्र के भेदन के बाद ज्ञान का उदय होता है । इसके बाद विन्दु स्थान है जो योगियो का तृतीय नेत्र हे । इसमे स्थित होकर द्रष्टा प्रपच को तटस्थ होकर देख सकता है । अत यह समझना कि हठयोग केवल सिद्धि के लिए है, गलत है यद्यपि बहुत से योगी हठयोग को केवल सिद्धिदाता मानते है ।

'विन्दु के बाद अधचन्द चक्र है । विन्दु को चन्द्रविन्दु तथा अधविन्दु को अध-चन्द कहते हैं इसी मे अष्टकला शक्ति का विकास होता है । इसके बाद घोर अवरोधकारी अवस्था का उदय होता है, यह 'रोधिनी' कहलाती है । इसे भेदकर साधक नाद-भूभि मे प्रतिष्ठित होता है । ब्रह्मरन्ध्र मे नाद का लय होता है । इसके बाद चित् शक्ति का उदय होता है, तत्पश्चात् त्रिकोणस्वरूपा 'व्यापिका' है, वह

(१) वही, पटल १४, पृष्ठ १३

विन्दु के विलास्वरूप वामादि शक्तित्रय से सघटित है। इसके पश्चात् 'समना' शक्ति का उदय होता है, यह शिव से सयुक्त रहती हे। 'समनावस्था' म आकर मन स्पन्दन हीन होकर समाप्त हो जाता हे, इसके वाद 'चिद्रूपा' एक कला रहती है, इसे इसे 'निवाणकलारूप' कहा गया है, यही 'उन्मनाभूमि' है, सांख्य इसे ही 'कैवल्य' कहते हे इसके पश्चात् विन्दु भी लय हो जाता है, महाशक्ति का आविर्भाव हो जाता हे यही पूणता की अवस्था है।[1]

विन्दु का जब लय होता है, तो एक रिक्त दशा उत्पन्न होती है, इसी को योगी 'अमावस्या' कहते है, इसके बाद महाशक्ति के आविर्भाव के बाद 'पूणदशा' को हो 'पूर्णिमा' कहा जाता है। महाशक्ति की 'अमावस्या' की ओर जो स्फूर्ति है, वही 'कालीरूप' है और पूर्णिमा के रूप म षोडशी त्रिपुरा सुन्दरी या श्रीविद्या व्यक्त होती है भयकर एव कोमल देवियो के रूप का रहस्य यही है, इसी को 'कालीकुल' या 'श्रीकुल' भी कहा जाता है। इन दोना के मध्य म तारा या तारिणी विद्या है[2] कुडलिनी जाग्रत होने पर ही यह अवस्था प्राप्त होती है।

कविराज जी के अनुसार शक्ति-साधना मे सकल निष्कल तथा मिश्र शक्ति की ये तीन अवस्थाएँ है। क्रम का ध्यान रखने से सकलभाव की उपासना निकृष्ट है, मिश्रभाव की उपासना मध्यम है तथा निष्कल उपासना ही श्रेष्ठ है, कविराज जी बिना गुरु कृपा के और कुडलिनी के जागरण के किसी को शक्ति उपासना का अधिकारी नही मानते।

मूलाधार से आज्ञा चक्र पर्यन्त चक्रेश्वरी रूप मे शक्ति की आराधना निकृष्ट उपासना है। परन्तु जो साधक इन्द्रिय तथा प्राण की गति का अवरोध कर कुलपथ मे प्रविष्ट नही हो सकता उसके लिए देवी की अधम उपासना भी नही है[3]।

भेद-बुद्धि जब तक है, तब तक मूलाधार से सहस्रदल कमल तक, देवतादि सहित समग्र देवी चक्र की उपासना ही कमात्मक अपरा पूजा है। कुडलिनी याग के पूण होने पर साधक के हृदय मे नाद की अभिव्यक्ति ही आन्तर जप या मानसजप

(१) शक्ति अक—'शक्ति-साधना'—कल्याण गोरखपुर
(२) वही (३) वही

है, इसमे साधक पूणत अतमुख होने पर ही सफल होता है। वस्तुत यह चित्त को निरन्तर अतमुखता के अतिरिक्त और कुछ भी नही हे।[1]

षट्चक्र निरूपण ७२ हजार नाडियो के इस शरीर का आधार मेरुदण्ड है। शरीर या पिण्ड ब्रह्माण्ड का ही लघुरूप है।

षट्चक्र सुषुम्णा के भीतर स्थित माने जाते है। ये कमल के आकार के है और प्रत्येक चक्र कमल के दल एव वण भिन्न है।

आगे का विवरण षट्चक्र निरूपण (पूणानन्द) के आधार पर दिया जाता है।[2] जिसे पृथक् चाट पर देखा जा सकता है।

उपयुक्त विवरण 'षट्चक्रनिरूपण' के आधार पर 'शक्ति-अक' से दिया गया है। अन्य ग्रथो मे कुछ भिन्नता भी पायी जाती है, जैसे 'बाला पद्धति' मे गणेश, सरस्वती, लक्ष्मी, नारायण आदि देवी देवताओ का उल्लेख है।

कुछ योगी कद एव कुडलिनी को नाभिस्थल मे मानते है। कुछ कुडलिनी को 'अनाहतचक्र' मे मानते है।[3] जर्मनी के गिखितेल (१७ वी शताब्दी) महाशय ने कुछ 'मौलिक' चक्र चित्र बनाए हैं जो शक्ति-अक मे दिए गए है। गिखितेल के अनुसार चक्रो का सम्बध सोम, बुध, शनि आदि नक्षत्रो से है।[4] ललिता सहस्र नाम मे 'बैन्दव' नाम से एक नवम् चक्र का भी उल्लेख मिलता है। इसे विन्दुओ का समूह कहा गया है। यथा ह + विन्दु = ब्रह्म (ह) स + विन्दु = स = सग।[5]

कुडलिनी योग का वणन शाक्ततत्रो मे स्त्री पुरुष रति रहस्य के माध्यम से वर्णित हुआ है। जिस प्रकार कोई स्त्री राज माग पर चलती हुई किसी गुप्त स्थान मे अपने पति या प्रेमी से मिलती है और आलिङ्गन के बाद अमृत (वीय) गिराती

(१) वही
षट्चक्रो का विस्तृत विवरण शक्ति अक, (पृष्ठ ४५१—४५६) मे द्रष्टव्य।
(२) षटचक्र निरूपण—शक्ति अक, पृष्ठ ४५३२ से उद्धृत
(३) वही (४) वही
(५) ललिता सहस्रनाम—अगरेजी अनुवाद, मे बैन्दव शब्द की व्याख्या

चक्र	स्थान	शक्ति	यन्त्रमध्यदेव	
मूलाधार	मेरुदंड के नीचे	ाकिनी		स्वयंभूलिङ्ग को वलयित करके कुंडलिनी-शक्ति पूंछ मुख में दबाकर स्थित है।
स्वाधिष्ठान	लिङ्ग-स्थान के	ाकिनी		
मणिपूरक	नाभि-प्रदेश के सम्मुख	ाकिनी		
अनाहत	हृदय के सम्मुख	ाकिनी	शक्ति त्रिकोण है।	इस चक्र में 'बाण' नामक एक लिङ्ग भी है, एक अष्टदलकमल है। 'हृत्पुंडरीक' यही है।
विशुद्ध	कंठ के सम्मुख	ाकिनी		
आज्ञा	भ्रूमध्य सम्मुख	ाकिनी		
सहस्रार	मेरुदंड के ऊपरी सिरे पर			

* देखिए पृष्ठ २१

है उसी प्रकार कुडलिनी शक्ति सुषुम्ना-माग (राजमाग) पर चल कर, गुप्त स्थानो मे (चक्रो मे) निवास करती हुई महानपति (शिव) का आलिङ्गन करती है और अमृत गिराती है। यह कुडलिनी, सदा ही सर्प की तरह शब्द किया करती है, कान बन्द कर इस शब्द को सुना जा सकता है। 'देवी पुराण' के अनुसार इसका रूप शृ गाटक की तरह होता है। जिस प्रकार स्त्री के मिलने पर पुरुष के भीतर अग्नि जागृत हो जाती है, उसी प्रकार कुडलिनी शक्ति के मिलने पर अग्नि से चन्द्रमा द्रवित होता है।[1]

वाणी की अभिव्यक्ति को भी कुडलिनी योग से समझाया गया है। बीज के समान वाणी का अव्यक्त रूप (परा शक्ति) मूलाधार मे स्थित रहता है। पश्यन्ती अवस्था मे यह बीज अकुरित होने की ओर उन्मुख होता है। मध्यमा वाणी की वह अवस्था है जब दो पत्तिया प्रकट होती है किन्तु परस्पर सयुक्त रहती है बैखरी वाणी की वह अवस्था है जब अलग-अलग पत्तियो की तरह वाणी प्रकट होती है, किन्तु मूल मे वह मूलाधार से सयुक्त रहती है। नित्यतत्र के अनुसार वायु के द्वारा परावाणी सवप्रथम मूलाधार मे जाग्रत होती है, तत्पश्चात् वह वायु ऊपर उठती है और स्वाधिष्ठान चक्र मे व्यक्त होती है, यह अवस्था पश्यन्ती कहलाती है।

अनाहत चक्र मे आकर बुद्धि के सयोग से यही वाणी मध्यमा कहलाती है और तत्पश्चात् वह विशुद्धि चक्र मे व्यक्त होकर जब कठ से प्रकट होती है तब वह बैखरी कहलाती है।[2]

शक्तियाँ शक्तिपूजा की देवता अनेक देविया हैं। इनमे दस महाविद्याएँ, दुर्गा आदि है।

शक्ति पूजा मे इनमे से कोई एक देवी उस पूजा की अधिष्ठात्री देवी मानी जाती है, उसी के सम्मुख सारी क्रियाएँ की जाती है। इनका विवरण इस प्रकार है।

(१) ललिता सहस्रनाम—अगरेजी अनुवाद मे द्रष्टव्य 'कुडलिनी' की व्याख्या ।

(२) ललिता सहस्रनाम—अँग्रेजी अनुवाद मे द्रष्टव्य उपयुक्त शब्दो की व्याख्या ।

दशमहाविद्या—शक्तिपूजा मे १० शक्तियाँ मुख्य है, यद्यपि अन्य अनेक शक्तियो के उपासना क्रम तन्त्रो मे वर्णित है। महाकाली, तारा, षोडशी, भुवनेश्वरी, छिन्नमस्ता भैरवी, वल्गामुखी, मातङ्गी, कमला एव धूमावती, ये क्रमश महाकाल, अक्षोभ्य, पञ्च मुखशिव, त्र्यम्बक शिव, कबन्ध शिव, दक्षिणामूर्ति काल भैरव, एकमुख महारुद्र, मतङ्ग शिव तथा सदाशिव पुरुष की शक्तिया है। धूमावती पुरुष शून्य है, अत उसे 'विधवा' भी कहा गया है।

यह विभाजन महाभारत मे नही मिलता, ऐसा प्रतीत होता है कि दुर्गा-सम्प्रदाय दशमहाविद्या सम्प्रदाय से प्राचीन है।

दशमहाविद्या के अतिरिक्त सात माताएँ है—ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, ऐन्द्राणी, तथा चामुण्डा।

दशमहाविद्याओ मे षोडशी को श्रीविद्या, ललिता, महा त्रिपुर सुदरी, बाला आदि नामो से अभिहित करते है—इसके दस रूप माने जाते है—कुमारी, त्रिरूपा, गौरी, रमा, भारती, काली, चण्डिका, दुर्गा तथा ललिता। इनकी उपासनाविधि भिन्न है और इनके सम्प्रदाय भा अलग अलग है।

इनके अतिरिक्त नवदुर्गाएँ हैं। दुर्गा का अथ यहा देवी है। शैलपुत्री, ब्रह्मचारिणी, चन्द्रघण्टा, कूष्माण्डा, स्कन्दमाता, कात्यायनी, कालरात्रि महागौरी तथा सिद्धिदात्री। शक्ति अक (कल्याण) मे इनके चित्र ध्यानादि दिये गए है।

आयु की दृष्टि से देवियो की पूजा का भी विधान किया जाता है। १ वर्ष की देवी 'सन्ध्या' २ वष की 'सरस्वती' ७ वर्ष की 'चण्डिका' ८ वर्ष की 'सम्भवी' ९ वष की 'दुर्गा' या 'बाला' १० वष की 'गौरी' १३ की 'लक्ष्मी' तथा १६ वष की देवी 'ललिता' कहलाती है[1]

शाक्त लोग 'शक्ति' से ही सृष्टि का विकास मानते हैं, अत शिव, विष्णु एव ब्रह्मा देवी से हा उत्पन्न हुए है, इस विकास को यो दिखाया जाता है।[2]

(1) Elements of Hindu Iconography G N Rao Vol (1) Prt (11)

(2) Ibid Vol (1) part (11)

आदि शक्ति— सात्त्विक अश → गौरी + विष्णु

आदि शक्ति— राजस— लक्ष्मी → महालक्ष्मी + हिरण्याभ

आदि शक्ति— तामस—महाकाली →सरस्वती — रुद्र

देश की दृष्टि से देवी के १२ स्थान कहे गए है—कामाक्षी (काचीपुर) कुमारी (केरल) सुदरी (बगाल) गुह्लकेश्वरी (नेपाल) भ्रमरी (मलाया) अम्बा (आनत) महालक्ष्मी (किरवीर) कालिका (मालवा) ललिता (प्रयाग) विन्ध्यवासिनी (विन्ध्याचल) विशालाक्षी (वाराणसी) तथा मगलवती (गया)।

त्रिपुरा देवी के तीन पीठ बनाये जाते है—कामगिरि (कामाख्या पवन) जालधर तथा पूर्णगिरि। इसे ही त्रिपुरबाला त्रिपुरसुदरी तथा त्रिपुरभैरवी कहा गया है।

तोडलतत्र मे देवियो के विशेषकर दस महाविद्याओ के दस भैरवो के नाम भी दिये गए है,[1] महाकाल (काली) अक्षोभ्य (तारा) शिव (त्रिनेत्र+पचमुख) (षोडशी) त्र्यम्बक (भुवनेश्वरी) दक्षिणामूर्त्ति (भैरवी) कबध (छिन्नमस्ता) एकवक्त्र के (बगला) मातगशिव (मातगी) विष्णु या सदाशिव (कमला)। विधवा धूमावती के भैरव का उल्लेख नही मिलता।

सम्मोहन तत्र मे चडश्वरी, लघुश्यामा, त्रिपुटा वनदुर्गा, शूलिनी, अश्वारूढा, त्रिलोक्यविजया, वाराही एव अन्नपूर्णा का भी उल्लेख है।[2]

शक्ति पूजा परशुराम कल्पतत्र म ललितात्रम, श्यामात्रम आदि कई देवियो की उपासना का वर्णन है, साधक की चित्तवृत्ति के अनुसार ही भावनाओ का विधान किया गया है, प्रत्येक देवी का रूप मत्र आदि अलग अलग है, परन्तु सभी साधनाओ का आधारभूत सिद्धान्त एक ही है, देवी के साथ तादात्म्य। यह अनुभव करना कि मै देवी ही हूँ। यह स्मरणीय है कि देवी या शक्ति को स्त्रीलिङ्ग या पुल्लिङ्ग से परे माना जाता है केवल साधना को सुविधाजनक बनाने के लिए उसे 'स्त्रीरूप' माना गया है। इसका भी एक विशेष सिद्धान्त कल्पित किया गया है। शाक्तो शैवो एव वैष्णवो के अनुसार सार्वभौमिकसत्ता का सहसा साक्षात्कार

(1) Gleanings from the Tantras—Gopinath Kaviraj Vol (ii)

(२) वही

साधना की अशिक्षित चेतना सहन नही कर सकती, अत उस सर्वातीत सत्ता का अश एकदेश मे अभिव्यक्त रूप ही साधना का विषय बनाया जाता है।

देवी मन्त्रोच्चारण के साथ साथ ध्यान करने से स्वत मानसिक क्षितिज पर स्फुरित होती है, बाहर की मूर्ति तो आतरिक मूर्ति को जागृत करने का साधनमात्र है, अत 'मूर्ति का वास्तविक अर्थ है—'साधक की चेतना मे स्फुरित दिव्य सत्ता का रूप।[1] यही देवी का दशन देना है।

पूजा पद्धित परशुरामतत्र कौलो का तत्र है, अन कौल साधना के लिए इस तत्र को प्रमाण माना जाता है।

इस तत्र मे देवी पूजा मे पचमकार की को आवश्यक कहा गया है। "कलियुग मे केवल शुभ आसन से ही देवी की पूजा करे', ऐसा स्पष्ट कहा गया है।[2] कुलाणव मे कहा गया है कि सुरा एव मास के पूजन बिना निष्फल होता है।[3]

किन्तु पचमकार सेवन के विषय मे तत्र जिस सावधानी पर बल देते है, उसे प्राय भुला दिया जाता है। देशी-विदेशी विद्वान और मूख सभी यह भूल जाते हैं कि शाक्त शैव तथा तात्रिक बौद्धो ने समाज मे फैली हुई बुराइयो को अनुशासित करने के लिए इन साधनाओ का आविष्कार कर किया था। अत तत्र घोषित करता है कि यह पचमकारव्रत 'असिधाराव्रत' है, यह मनोनिग्रह के हेतु है, विलासिता को धार्मिक रूप देने के लिए नही है। अत स्थिरचित्त के लिए सुलभ

---

(१) यदा जप्तो मनुर्देवि मयाभक्ति
प्रादुर्बभूव मे सद्यो या सा प्रोक्तेति देवता—
देवीरहस्य रामचन्द्र काक, पटल १४, पृष्ठ ६ १०
श्रीनगर, काश्मीर १९४१

(२) पूजनीया कलौ देवी—केवलैरासवै शुभै

(३) विनाऽलिपिपिशिताभ्या च पूजन निष्फल भवेत्—कुलाणव परशुरामकल्प सूत्र से उद्धृत

है और दुर्बलइन्द्रिय के लिए विनाशकर है[1] सभर के भोगो से भी दुर्बलइन्द्रिय व्यक्ति का नाश ही होना है, जबकि स्थिरचित्त भोग मे रत रहकर भी आभरति रहते हैं।

त्रिपुरार्णव तत्र ने यह स्वीकार किया है कि ऐसे समय स्थिरचित्तता दुष्कर है। परन्तु यह तत्र स्पष्टत कहता है कि बिना स्थिरचित्तता के सिद्धि असम्भव है। भक्ति एव श्रद्धाविहीन व्यक्ति स्थिरचित्त नही हो सकता।

शाक्त सामारिक चिंताओ को दूर करने के लिए मदिरा का विधान स्वीकार करते हैं, इसके सिवा मदिरा ऐन्द्रिय-आनन्द को एकदम स्फुरित कर देती है क्योकि ऐन्द्रिक आनन्द के रूप मे साक्षात् आनन्दरूपिणी शक्ति का स्फुरण होता है अत ऐन्द्रिय आनन्द की पूर्णजागृतावस्था मे ही, उस शक्ति के स्वरूप की एक झलक मिल सकती है, अत रतिकाल मे वीर्यक्षरण के समय जिस प्रकार अन्य कुछ अनुभव नही होता, चित्त तन्मय होता है, उसी प्रकार शक्ति के साथ तादात्म्य के समय को अधिकाधिक बढाने के लिए ही पचमकार सेवन का विधान हैं। इसीलिए 'परशुराम' ने कहा कि 'कामक्रोध मोहमदमात्सर्य विहित हिंसा ....लोक विद्विष्टवजनम्' की स्थिति मे ही 'पचमकार सेवन' फल देता है, लम्पटता के लिए मदिरादि पान नाशक है। कौलावली निर्णय म इसीलिए पचमकार का तात्त्विक अर्थ कुलार्णव तत्र के आधार पर दिया गया है। सहस्रार चक्र से स्रवित होने वाला अमृत ही मदिरा है द्वैतभाव ही मास है। इन्द्रिय चाचल्य ही मत्स्य है, इनका भक्षण ही योगी का ध्येय है। मैथुन से तात्पर्य है कुडलिनी शक्ति और परशिव की एकता का। (कौलावली निर्णय तान्त्रिक टैक्स्ट्स, vol XIV, भूमिका, पृष्ठ ११) किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि पचमकार सेवन केवल प्रतीक के रूप मे गृहीत होता है, ऐन्द्रिक आनन्द को तत्र आध्यात्मिक आनद का ही एक रूप मानते है और पचमकार उस आनन्द को उल्लसित करते है अत मैथुन के समय ही वन्तिलय होने से उस आनद की झलक मिलती है, इस 'आनन्दक्षण' को ही स्थायी बनाने के लिए पचमकार सेवन होता है, अत प्रतीकार्थ आध्यात्मिक आनद पर बल देने

---

(१) अय तु परम कौलमार्ग सम्यड् महेश्वर।
असिधाराव्रतसमो मनोनिग्रहहेतुक
स्थिरचित्तस्य सुलभ सफलस्तूर्णसिद्धिद।—परमानन्दतत्र,—
परशु राम कल्प सूत्र से उद्धृत

साधना की अशिक्षित चेतना सहन नही कर सकती, अत उस सर्वातीत सत्ता का अश एकदेश मे अभिव्यक्त रूप ही सावना का विषय बनाया जाता है।

देवी मन्त्रोच्चारण के साथ साथ ध्यान करने से स्वत मानसिक क्षितिज पर स्फुरित होती है, बाहर की मूर्ति तो आतरिक मूर्ति को जाग्रत करने का साधनमात्र है, अत 'मूर्ति का वास्तविक अर्थ है—'साधक की चेतना मे स्फुरित दिव्य सत्ता का रूप।[1] यही देवी का दशन देना है।

पूजा पद्धित परशुरामतत्र कौलो का तत्र है, अत कौल साधना के लिए इस तत्र को प्रमाण माना जाता है।

इस तत्र मे देवी पूजा मे पचमकार की को आवश्यक कहा गया है। "कलियुग मे केवल शुभ आसन से ही देवी की पूजा करे", ऐसा स्पष्ट कहा गया है।[2] कुलाणव मे कहा गया है कि सुरा एव मास के पूजन बिना निष्फल होता है।[3]

किन्तु पचमकार सेवन के विषय मे तत्र जिस सावधानी पर बल देते है, उसे प्राय भुला दिया जाता है। देशी-विदेशी विद्वान और मूख-सभी यह भूल जाते हैं कि शाक्त शैव तथा तात्रिक बौद्धो ने समाज मे फैली हुई बुराइयो को अनुशासित करने के लिए इन साधनाओ का आविष्कार कर किया था। अत तत्र घोषित करता है कि यह पचमकारव्रत 'असिधाराव्रत' है, यह मनोनिग्रह के हेतु है, विलासिता को धार्मिक रूप देने के लिए नही है। अत स्थिरचित्त के लिए सुलभ

---

(१) यदा जप्तो मनुर्देवि मयाभक्तित
प्रादुर्बभूव मे सद्यो या सा प्रोक्तेति देवता—
देवीरहस्य रामचन्द्र काक, पटल १४, पृष्ठ ९ १०
श्रीनगर, काश्मीर १९४१

(२) पूजनीया कलौ देवी—केवलैरासवै शुभै

(३) विनाऽलिपिपिशताभ्या च पूजन निष्फल भवेत्—कुलाणव परशु-
रामकल्प सूत्र से उद्धृत

है और दुर्बलइंद्रिय के लिए विनाशकर है,[1] संसार के भोगों में भी दुर्बलइन्द्रिय व्यक्ति का नाश ही होता है, जबकि स्थिरचित्त भोग में रत रहकर भी आत्मरहित रहते हैं।

त्रिपुरार्णव तंत्र ने यह स्वीकार किया है कि ऐसे समय स्थिरचित्तता दुष्कर है। परन्तु यह तन्त्र स्पष्टतः कहता है कि बिना स्थिरचित्तता के सिद्धि असम्भव है। भक्ति एवं श्रद्धाविहीन व्यक्ति स्थिरचित्त नहीं हो सकता।

शाक्त सांसारिक चिंताओं को दूर करने के लिए मदिरा का विधान स्वीकार करते हैं, इसके सिवा मदिरा ऐन्द्रिय आनन्द को एकदम स्फुरित कर देती है क्योंकि ऐन्द्रिक आनन्द के रूप में साक्षात् आनन्दरूपिणी शक्ति का स्फुरण होता है, अतः ऐन्द्रिय आनन्द की पूर्णजागृतावस्था में ही, उस शक्ति के स्वरूप की एक झलक मिल सकती है अतः रतिकाल में वीर्यक्षरण के समय जिस प्रकार अन्य कुछ अनुभव नहीं होता, चित्त तन्मय होता है, उसी प्रकार शक्ति के साथ तादात्म्य के समय को अधिकाधिक बढ़ाने के लिए ही पंचमकार सेवन का विधान हैं। इसीलिए 'परशुराम' ने कहा कि 'कामक्रोध मोहमदमात्सर्य विहित हिंसा ... लोक विद्विष्टवर्जनम्' की स्थिति में ही 'पंचमकार सेवन' फल देता है, लम्पटता के लिए मदिरादि पान नाशक है। कौलावली निर्णय में इसीलिए पंचमकार का तात्त्विक अर्थ कुलार्णव तन्त्र के आधार पर दिया गया है। **सहस्रार चक्र से स्रवित होने वाला अमृत ही मदिरा है द्वैतभाव ही मांस है। इन्द्रिय चांचल्य ही मत्स्य है,** इनका भक्षण ही योगी का ध्येय है। **मैथुन से तात्पर्य है कुंडलिनी शक्ति और परशिव की एकता** का। (कौलावली निर्णय-तान्त्रिक टैक्स्ट्स, vol XIV, भूमिका, पृष्ठ ११) किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि पंचमकार सेवन केवल प्रतीक के रूप में गृहीत होता है, ऐन्द्रिक आनन्द को तन्त्र आध्यात्मिक आनंद का ही एक रूप मानते हैं और पंचमकार उस आनन्द को उल्लसित करते है अतः मैथुन के समय ही वृत्तिलय होने से उस आनंद की झलक मिलती है, इस 'आनन्दक्षण' को ही स्थायी बनाने के लिए पंचमकार सेवन होता है, अतः प्रतीकार्थ आध्यात्मिक आनंद पर बल देने

---

(१) अयं तु परमः कौलमार्गः सम्यङ् महेश्वरि।
अभिचाराद्रमन्मो मनोनिग्रहहेतुकः
स्थिरचित्तस्य सुलभः सफलस्तूर्णसिद्धिदः।—परमानन्दतंत्र,—
परशु राम कल्प सूत्र से उद्धृत

के लिए है, पचमकार सेवन का निषेध उसका तात्पय नही है। (द्रष्टव्य हसविलास पृष्ठ ३१८)

कृष्ण मिश्र ने प्रबोधचन्द्रोदय नाटक मे विलासी और भ्रष्ट शाक्तसाधको व निन्दा की है, स्वय परशुरामतत्र के टीकाकारो ने शाक्त वचनो का मनमाना अ करने वालो की भत्सना की है कि आजकल अजितेन्द्रिय, चपलजिह्व, शिश्नोद परायण, रागान्ध लोग 'पीत्वा, पीत्वा पुन पीत्वा' 'आगलान्त पिबेत् मद्य' आ वचनो का वास्तविक तात्पय न समझ कर अनथ कर रहे है।[1] अतएव अजितेन्द्रि साधक को गन्ध, उदक आदि से शक्ति-पूजा करनी चाहिए, जैसा कि दक्षिण पथी शाक्त करते है।[2] फेटकारी तत्र मे भी अजितेन्द्रियो के लिए वाममाग सवथा गोपनीय कहा गया है।[3]

कौलसाधना मे विधि निषेध का पूण अभाव है, ज्ञान की अतिम अवस्था ही साधक इसका अभ्यास कर सकता है। इसमे 'वण', पुरश्चरण (जप) न्या आदि किसी का विधान नही ह। देवीरहस्यतत्र मे पचमकार की महिमा का विस्ता से वणन किया गया है, इनमे भी मदिरा एव मैथुन का विशेष विवरण मिलता है जिन जिन द्रव्या तथा कृत्यो का समाज मे निषेध है, उन्ही उन्ही को हठपूवक कौलमा आचरण मे लाते है।

मदिरा के लिए कहा गया है कि समुद्रमथन के समय सदाशिव के सुरापा से एक बूँद टपक पडी थी, वही 'गुडलता' बन गई। इस मदिरा या सुरा के अने भेद बताये गए है और इसे सजीवनी माना गया है।[4]

मदिरापान के सन्दभ मे सात स्थितियो का वणन मिलता है, जो योग व स्थिति को भी सकेतित करती है। मदिरापान (तथा अन्य मकारो को भी स्वरूपानन्द का अभिव्यजक माना गया है। स्वरूपानन्द मे भावना की दृढता ही निग्रह, अनुग्रह की सामथ्य उत्पन्न हो जाती है, ऐसा विश्वास है।[5]

---

(१) परशुरामकल्पसूत्र—भाग १ पृष्ठ १५१

(२) वही, पृष्ठ १५२

(३) वही

(४) देवीरहस्य—पटल १६

(५) नित्योत्सव—परशुरामकल्पतत्र (टीकाकार—उमानद नाथ) १६२ महादेवशास्त्री, बडौदा

आरम्भोल्लास यह प्रारम्भिक स-ज्ना ह इसमे पचमकार का अनुशासित प्रयोग किया जाता है। इमम 'त्रपुरसिद्धान्त' पर बल दिया गया है।

तरुणोल्लास इसे 'गणपतिक्रम' कहते ह, इमम गणपति तान्त्रिक देवता के रूप मे पूजित हाना है। इस क्रम म मदिरा की मात्रा बढ जाती है।

यौवनोल्लास इसम 'अजपाजप' (हसस्सोऽह) चलना है, मदिरा की मात्रा बढ जाती है। किंतु गुरु की देखरेख मे काय होता है।

प्रौढोल्लास इसमे 'मानसजप पर बल दिया गया है।

तन्तोल्लास वाराही मत्र का जप होता है, इसमे समग्रयौवना, मदनविवशा शक्ति के साथ विहार होता है, मदिरा की मात्रा बढ जाती है।

उन्मनोल्लास यही 'उन्मन' अवस्था है, इसम साधक का चित्त सर्वतत्त्वो का लय हो जाता है, क्योकि इसमे मदिरा सब कुछ भुला देती है।

अत मदिरापान द्वारा प्राप्त मानसिक अवस्था का प्रतीकरूप मे भी स्वीकार किया जाता है। १८वी शताब्दी के एक तत्र 'हसविलास' मे कहा गया है कि उन्मनावस्था योग की उच्चतर अवस्था है, इसमे नगाडे आदि का भी बाह्य शब्द नही सुनायी पडता और शरीर काष्ठवत् हो जाता है।[1] ललितासहस्रनाम मे 'उन्मनावस्था' को मनोन्मनी कहा गया है। यह ब्रह्मरन्ध्र से किचित् नीचे का स्थान है, जहा प्राण-वायु स्थिर हो जाने पर यह अवस्था प्राप्त होती है, इसे 'रुद्रसुख' भी कहा गया है। यहाँ काल देश (Space) तत्त्व, देवतादि का अस्तित्व नही रह जाता, यहा पूर्ण-स्वातत्र्य प्राप्त होता है। कबीर ने इसी अवस्था का वर्णन किया है। 'उन्मनी' योगशास्त्रानुसार एक मुद्रा भी है, इसमें नेत्र न बन्द होते हैं, न खुलते हैं। न साँस आती है, न रुकती है, ध्यान एव ध्येय सब समाप्त हो जाता है।[2]

---

(१) दुन्दुभ्यादि निनादश्च, निःशृणोति कदाचन।
काष्ठवज्जायते देहो—ह्युन्मन्यावस्थया ध्रुवम्।
हसविलास सम्पादक विधुशेखरभट्टाचार्य गायक्वाड ओरिएटल सीरीज, १९३७ पृष्ठ ४६

(२) ललितासहस्रनाम—अनतकृष्ण शास्त्री द्वारा मनोन्मनी की व्याख्या।

अनवस्थोल्लास यह अंतिम स्थिति है, इसमे मदिरा की मात्रा सबसे अधिक दी जाती है। योग की उन्मनावस्था को प्राप्त साधक ही इस अवस्था को प्राप्त कर सकता है।[1]

परशुरामकल्पतन्त्र म अन्यत्र कहा गया है आरम्भावस्था मे उपासनाविषयक इच्छा होने पर भी सावक मे तन्त्रशास्त्र की अनभिज्ञता रहती है। तरुणावस्था म तत्र का पठन पाठन पूरा हो जाता है। यौवनावस्था मे शास्त्रज्ञान हो जाता है। प्रौढावस्था म साधक शास्त्र प्रतिपादित ध्यान मे लीन हो जाता है। तदन्तावस्था म ध्यान के बाद उल्लासवृद्धि होती है। उन्मनावस्था मे मन शक्ति से युक्त हो जाता है और अनवस्था स्थिति मे साधक 'पूर्णारूढ' हो जाता है उन्मनावस्था से पूर्व मदिरा चाचल्य उत्पन्न करती है, परन्तु उन्मनावस्था मे यत्न बिना ही मन स्थिर हो जाता है। जब यत्न करने पर भी—अर्थात् वामाचार की अति कर देने पर भी मन चचल नही होता तब उसे 'अनवस्था' की स्थिति कहते है, यही अंतिम स्थिति है। उल्लास का अर्थ है अपने अन्त करण का ज्ञान अर्थात् आत्म ज्ञान। विद्वान साधक स्वरूप का सूक्ष्मबुद्धि से अपने आप ही शोधन करता है। इस प्रकार चेतना का शोधन करके प्रौढावस्था (तुरीयावस्था) पर्यन्त 'समयाचार का पालन करना चाहिए अर्थात् विधि निषेध मानना चाहिए तत्पश्चात् 'यथा काम विहार किया जा सकता है।[2]

विहार के लिए शक्ति या स्त्री की प्राप्ति के विषय मे कुछ नियम बताये गए है, यथा जो स्त्री स्वत आसक्त हो, उसी का भोग करना चाहिए, उदासीन को धनादि देकर आकर्षित करने का प्रयत्न शास्त्र-विरुद्ध है।[3]

वामाचार साधना का उद्देश्य है, घृणा, शका, भय, लज्जा, जुगुप्सा, कुल, जाति तथा शील का क्रम-क्रम से नाश कर देना, इससे चेतना को सकुचित करने वाले आवरण नष्ट हो जाते है और पिण्ड मे स्थित शक्तिया जागृत हो जाती है।

शाक्ततन्त्र साधना के तीन भेद करते हैं—पशु, दिव्य एव वीर। 'पशु' साधक मर्यादावादी होते है, उनके लिए दक्षिण पथ है। दिव्य साधक मुद्रा, मन्त्र

(१) नित्योत्सव—उमानन्दनाथ

(२) परशुराम कल्प सूत्र—भाग १, पृष्ठ ३३६-३३८

(३) वही, पृष्ठ ३३८

मडल को नही छोडना तथा वामाचार का सेवी होना है। वीरसाधक के लिए विधि निषेध नही है।

वीरसाधना ही कौलसाधना है जिसका कुछ परिचय हमने दिया है। इसमे भयकरतम साधना 'श्मशान साधना' है। बिना श्मशानसाधना के कलियुग मे पूजा योगादि निष्फल रहते है। यह 'भैरव (भयकर) साधना' कहलाती है।

श्मशान साधना वस्तुत भय पर विजय प्राप्त करने के लिए है, जिस तरह पचमकार का उद्देश्य चित्त की एकाग्रता है, उसी तरह घृणा, भय, लज्जा, आदि पर विजय प्राप्त करने के लिए श्मशानसाधना है। शाक्तसाधक जानबूझ कर अपने को उन स्थितियो मे डालते है, जिनमे मन क्षुभित हो और एसे समय मे ही वे अपनी चेतना को निराकुल रखने का अभ्यास करते है।

क्योकि 'श्मशान' सर्वाधिक रूप से भय, लज्जा, घृणादि को उत्पन्न करने वाला है, वहा शृगाल का घोर रव होता है, चिता की दुर्गंधि उडती है, भूत-प्रेत पिशाच विचरते है, चारो ओर विघ्न ही विघ्न उपस्थित होते है, अत श्मशान को परम उपयुक्त स्थान माना जाता है। कायर एकाकी ऐसे स्थान पर जाने का भी साहस नही करते, किन्तु यही 'अष्ट भैरव' विचरते हैं और उनके भक्त 'वीर' साधक भी। श्मशान को इसीलिए 'वीरभूमि' कहा जाता है।

रात्रि के प्रारम्भ होते ही, श्मशान मे पहुचकर, न्यासादि द्वारा शुद्धि करके देवी का ध्यान करते हुए मत्र का जप करना चाहिए। प्रार्थना करे कि "हे ज्वालकरालवदना देवी! तू कल्पान्त मे सृष्टिनाशिनी है, प्राणी तुझमे ही लय होते है, तू मुझ पर अनुग्रह कर।"[१]

श्मशान साधना मे भी भक्ति, प्राणायाम, ध्यान, आदि सभी का मिश्रण दिखायी पडता है। श्मशान साधना से ही साधना को 'भैरव' रूप प्राप्त होता है। अघोर, कापालिक, भैरव जैसे साधक श्मशान साधक ही है। श्मशान-साधना मे पचमकार द्वारा 'परस्त्री' को सतुष्ट करने का विधान किया गया है और 'बलि' जैसे कर्म भी किये जाते है। शिव के अङ्क म लेटी हुई देवी का ध्यान किया जाता है।[२]

(१) देवी रहस्य—पटल १६।

(२) वही।

'कौलावली निणय' मे श्मशान मे 'शव साधना' का विस्तृत वणन है। यहा यह भी कहा गया है कि शाक्तो के अतिरिक्त वैष्णव, गाणपत्य, शैव तथा अन्य मत्र। के साधक भी शवसाध्ना करते है[1] सम्भव है वैष्णवादि मे भी पथम भयकर क्रियाएँ प्रचलित रही हो, क्योकि पाचरात्र मे योग पर पर्याप्त बल दिया गया है।

किसी स्वस्थ, युवा, वीर, सुन्दर व्यक्ति की मृत्यु के बाद उसके शव को लेकर उसकी पीठ पर साधक बैठकर मन्त्र का जाप करे। पीठ पर देवी का यन्त्र बनाया जाता है और शव की शिव के समान पूजा की जाती है। इस प्रकार के मन्त्र जप का 'पुरश्चरण' कहते है। कौलावली निणय के १४ वे अध्याय मे इस साधना का विस्तृत वणन है। अनेक द्रव्या से शव की पूजा की जाती है, उसे चदन, पान, सुगधि आदि से सजाया जाता है। मौन जप से साधक का आसन हिलने लगता है और नाना विघ्न आते है, निभय होकर मन्त्र जाप करते रहने पर सिद्धि मिलती है। शव को सम्बोधित करके जो स्तोत्र पढा जाता है, उस पर ध्यान देने से स्पष्ट होता है कि यह साधना भी चित्त की स्थिरता की परीक्षा के लिए की जाती है, हे भीम! भव्यलोचन! भावुक! शवो के अधिप! तुम हमारी रक्षा करो।[2] इस प्रकार के भक्ति-भाव से ओतप्रोत स्तोत्रो से शव साधना की जाती है। अत भाव ही फलदायक है, क्रिया विशेष नही। भक्ति से ही पूजन होना है, यह बार-बार कहा गया गया है[3] भावना की विशेषता के कारण ही इसे 'वीरभाव' कहा गया है।

शवसाधना से अवश्य शक्तिया जागृत हो जाती है और सिद्धि प्राप्त होती है, तन्त्रो का यह अटल विश्वास है।

(१) वैष्णवे गाणपत्ये च शैवे चैवाऽन्यमन्त्रके।
शाक्ते चैव विशेषेण साधयेत् साधकोत्तम —कौलावली निणय चतुदश उल्लास १ ५ श्लोक।

(२) वही—१२५ १३० श्लोक।

(३) भक्तिन पूजयित्वा च रात्रौ तावत् सहस्रकम्—वही २४५ २५० श्लोक।

कुमारीपूजा 'वीरभाव' मे 'विधि' का उल्लघन ही ध्येय हो जाना है। बलात्कार भी इस अवस्था मे वैध माना गया है[1] स्त्रियो मे अनिम मात्रा तक पहुचा हुआ आदर भाव बार बार वर्णित है। बाला, यौवना, वृद्धा सुन्दरी, कुत्सिता, महा दुष्टा—सभी को प्रणाम करना बताया गया है, क्योकि स्त्री साक्षात् देवी मानकर शाक्तसाधना मे पूजित होती है। कहा गया है कि स्त्री (शक्ति) ही देवता है, स्त्री ही प्राण है, स्त्री ही शोभा है, अन स्त्रीगणा मे विहार आवश्यक है अन्यथा अपनी स्त्री के साथ ही साधना करनी चाहिए।[2]

स्त्रियो की प्राप्ति मे वीरसाधक जाति का ध्यान नही रखते, नटी, कापालिकी, वेश्या, रजका, नापित की पत्नी, ब्राह्मणी, शूद्रकन्या, गोपालकन्या, मालाकार की पत्नी—इन नौ को 'नवकन्या' कहा गया है। महानिशा (अमावस्यादि) मे इन्हे लाकर इनकी पूजा करना चाहिए।[3]

इन नवकन्याओ को 'श्रीचक्र' मे स्थापित किया जाता है और गुप्ताङ्ग की पूजा की जाती है। इस समय की 'भावना' का वर्णन मनोरजक है—

सुषुम्ना के मार्ग से आत्मा की अग्नि मे मन रूपी स्रुवा से साधक को धर्माधर्म रूपी हवि को अर्पित करना चाहिए। देवी का स्मरण (या परायी स्त्री का स्मरण) करते हुए मत्र का उच्चारण करना चाहिए। रतिकेलि करता हुआ तथा जप मे सलग्न साधक शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त करता है।[4] रतिकेलि के अन्त मे शुक्र से शक्ति को तृप्त करना ही यज्ञ है।

देवीरहस्य मे स्तम्भन, मोहन, मारण, आकर्षण, वशीकरण, उच्चाटन, शान्तिक, पौष्टिक आदि सिद्धियो का भी विस्तृत वर्णन मिलता है। इन सबमे

---

(१) रतिकाले महेशानी, दीक्षाकाले च कन्यका।
बलाद्वा यत्नतो, बुद्ध्या पावयेत् परयोषितम्
सुरया रेतसा वापि जलेन मधुनाथ वा।
सभोगेऽभिषेचयेन्नारी चण्डा वा मन्त्यवर्जिनाम्।
स्वकीया परकीया वा रूपयौवनगर्विताम्—देवीरहस्य—पटल २३

(२) स्त्रियो देवा स्त्रिय प्राण स्त्रिय एव हि भूषणम्।
स्त्रीगणेषु सदा भाव्यमन्यथा स्वस्त्रियामपि—वही

(३) वही (४) वही—पटल २३

देवी के साथ नादात्म्य से ही सिद्धि मानी गई है, यद्यपि अनेक जादू से युक्त क्रियाएँ भी इनमे मिलती है।

सिद्धियो की प्राप्ति मे भी मन्त्र जपते समय साधक के चित्त की जैसी अवस्था होनी है, वैसी ही 'सिद्धि' प्राप्त होती है।

चक्रपूजा 'कुहू पूर्णिमा, सक्रान्ति, चतुर्दशी या अष्टमी की रात्रि मे शाक्तसाधक सामूहिक रूप से चक्रपूजा करते है। इसमे गुरु की देखरेख मे सभी तान्त्रिक विधान के द्वारा 'शक्तिपूजा' होती है। पचमकार का शोधन करने के बाद भोग एव बलि का विधान किया गया है। चक्रपूजा मे 'शक्ति' (स्त्री) और वीर-साधको का उच्छिष्ट खाया, पिया जाता है।[1]

देवीरहस्य तन्त्र मे अन्यत्र दक्षिणाचार, वामाचार और कुलाचार—इन आचारो का अलग अलग वर्णन भी मिलता है, यद्यपि कौलमार्ग एव कुलाचार को सामान्यत अलग नही किया जाता। इसे 'दुर्गा' के तीन आचार कहा गया है।

दक्षिणाचार मे प्रभात स्नान, सन्ध्या, मध्याह्न मे जप, ऊन का आसन, खीर, शकर आदि सात्विक भोजन, रुद्राक्षमाला धारण, पाषाण के पात्र तथा अपनी स्त्री के साथ भोग ही विधेय माना गया है इसमे मदिरा का निषेध है।[2] इस मार्ग मे देवी के अतिरिक्त अन्य अमुख्य देवताओ की भी पूजा हो सकती है, उदाहरण के लिए आज के शाक्त मदिरो मे बीच मे देवी की मूर्त्ति तथा पार्श्वो मे विष्णु, गणेश, शिव आदि की भी मूर्त्तिया रहती है, किन्तु देवी ही मुख्य रूप से पूज्य मानी जाती है। दक्षिण मार्गी शाक्त ऋषि, देव, पितर मनुष्य आदि के लिए 'पचयज्ञ' का सम्पादन करते है और विधि निषेध मानते हैं। वाममार्ग मे देवी के साथ एकता होने के कारण पितृ ऋण, ऋषि ऋण, देव ऋण, की चिन्ता नही रहती न पच यागादि करने पडते है। वह ससार का आनद लेता है, वह शेरो पर सवार होता है, सम्पत्ति, स्त्री एव अन्य भोगो को जीतता है, भूतप्रेतादि को वश मे करता है। वायु के समान निर्भय विचरता है। प्राय वाममार्गी जान बूझकर मर्यादा का उल्लघन करते है।

(१) द्रष्टव्य—देवीरहस्य—पटल ५८

(२) वही, पटल—५६

अत वामाचार मे मनुष्य के दाना की माला, पापाण के पात्र, कपामुडन, सिंहचर्म का आसन, स्त्री केश का कंकण त ा पचमकार का सेवन विधेय बनाया गया है। कलियुग मे ही वामाचार को ही 'आशुसिद्धि दायक' बनाया गया है।

कुलाचार मे कुलस्त्री, कुलगुरु, कुलदेवी की उपासना तथा पूजा होती है। कुल-स्त्री को देवी मानकर बलपूवक ल।कर पूजा करे। तथा शक्र से दुर्गा का तपण द।

देवीरहस्य दक्षिणाचार एव कुल।च र से वाम।च।र को अधिक महत्त्व देना है।[1] कौलमाग और वामाचार को यत्र एक माना गया है।

वामाचार का सबसे प्रबल रूप कामाख्या म माना जाता ह। यहा त्रिपुरा या कुमारी पूजा मे १६ वष की कन्या का ध्या।न किया जाता ह। इसक प्रत्यक अग पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। किन्तु कुमारी का अथ सदैव 'अक्षतयोनि नही होता, परन्तु 'त्रिपुरभैरवी' रूप केवल वामाचारी साधका द्वारा ही पूज्य कहा गया है।

देवी के ६ दास (Attendants) कहे गए है—भग, भगजिह्वा, भगास्य, भगमालिनी, भगोदरी तथा भगारोहा।

देवी की उपासना मे वासना तथा भय देवी पर समपण किया जाता है। ६ त्रिकोणो का योनिचित्र बनाकर मध्यबिन्दुओ पर ध्यान केन्द्रित किया जाता ह। इस साधना मे समयाचारी या दक्षिणपथी केवल यह कल्पना करते है कि मैं शक्ति के साथ मैथुन कर रहा हू, किन्तु वामाचारी वास्तविक रूप म भोग करते ह। कौला मे भी कुछ केवल चित्र मत्र या चक्र पर ही ध्यान जमाते है, किन्तु उत्तरकौल स्त्री की योनि पर ध्यान केन्द्रित करते है।[2]

वामाचार मे भोग एव योग के विरोध को समाप्त करने का प्रयत्न है। 'कौल रहस्य' मे कहा गया है कि कौल योग भोग तथा योग से युक्त है, अत वही सबसे

(१) दक्षिणा च कुल चैव वीरे साधकसत्तमै।
त्याज्य दूरात् कलौ देवि, वाममेव भजेत् कलौ—वही, पटल ५६
(२) बेनीकात काकाती इस पुस्तक मे कालिका पुराण के आधार पर शाक्तसाधना वर्णित है।

अधिक प्रिय माना गया है[1] अयत्र कहा गया है कि कृष्ण भोगी थे और शुक योगी थे वसिष्ठ कमक ण्डी थ, राम तथा जनक राजमार्गी या निष्कामकमयोगी थे—ये ही पाच तत्वदर्शी माने गए हैं।[2]

भाव की दृष्टि से पशुभाव सामान्य जन के लिए तथा वीर भाव और दिव्य भाव उच्च साधको के लिए माना जाता है। इन तीनो भावो के तीन भेद किये जाते हैं। पशु, स्वभाव पशु तथा विभावपशु पशुभाव मे कुछ भी ज्ञान नही होता न ज्ञान के प्रति उन्मुखता ही होती है। स्वभाव पशु मे 'ज्ञानोन्मुखता' जागृत हो जाती है। विभावपशु मे ज्ञान प्राप्त करने की चेतना निश्चित हो जाती है। जब उच्चता की ओर चलने की इच्छा के साथ साथ प्रयत्न प्रारम्भ हो जाता है, तब वह वीर साधक कहलाता है। वीरसाधक भी स्वभाव वीरभाव एव विभाव वीरभाव को क्रमश प्राप्त करता है, इसमे ही वामाचार का प्रयोग आता है, अन्त मे 'दिव्यभाव' है जिसमे साधक पाशो से युक्त होकर स्वच्छन्द विचरता है।[3]

शाक्त-साधना द्वारा निरूपित सभी आचारो कोमल और भयकर क्रियाओ मे 'भाव' को ही मुख्य आधार माना गया है। बाह्याचार इस 'भाव' को या तो प्रेरणा देने के लिए हैं अथवा इस 'भाव' के उच्चतर स्थितियो मे रूपान्तरण के लिए है अथवा इस परीक्षा के लिए हैं कि दिव्यता की ओर रूपान्तरण हो रहा है या नही और यह कि किस सीमा तक यह रूपान्तरण हो चुका है। इस दृष्टि से शवसाधना, कुमारीपूजा, चक्रपूजा आदि को देखने पर तन्त्र-साधना का उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है। कौलावली निणय मे स्पष्ट कहा गया है कि भाव के बिना यन्त्र, मन्त्र, वीर साधना, अष्ट कुल, अकुल, पीठपूजन, कन्याभोजन, स्वकुल मे प्रीति, दान, जितेन्द्रियता, कौलाचार आदि कोई कुछ भी फल नही देते, अत मन्त्रजप

---

(१) भोगयोगात्मक कौल, तस्मात्सर्वाधिक प्रिये—हसविलास, पृष्ठ १०४ से उद्धृत

(२) कृष्ण भोगी, शुको योगी, वसिष्ठ कमकारक ।
राजानौ रामजनकौ पञ्चैते तत्वदर्शिन—हसविलास, पृष्ठ १०४ से उद्धृत ।

(३) द्रष्टव्य—कौलावाली निणय की भूमिका—पृष्ठ १४

स्तोत्रपठन आदि मे साधक उसी भाव मे निमग्न होकर—तादात्म्य द्वारा सिद्धि प्राप्त करता है।[1]

भयकर क्रियाओ को छोडकर शाक्त-साधना की आधारभूत सिद्धान्त 'भाव' पर आधारित है शैव, बौद्ध एव वैष्णव तन्त्रो मे भी यही सिद्धान्त दिखायी पडता है, देवता का ध्यान[2] उसके साथ भावात्मक एकता—देवतामय हो जाना ही उपर्युक्त सभी सम्प्रदायो मे स्वीकृत है। शाक्त तथा शैव मूलप्रवृत्ति काम को भोग द्वारा वश मे लाते है, इसमे विरोधाभास दिखायी पडता है, परन्तु ह नही भोग के समय भावना ही मन को कलुषित करती है, यह भावना कि 'मै कुछ अनुचित कर रहा हू' इस भावना के निकल जाने पर वही भोग ग्लानि नही उत्पन्न करता अत कुमारी पूजादि मे स्त्री को देवी रूप मे स्वीकार—सम्पूर्ण विलास की परिस्थिति का शाक्त साधक एक सर्वथा पवित्र और दिव्य भाव द्वारा बदल देते हैं इसी के सदृश वैष्णव भक्त ध्यान द्वारा राधाकृष्ण की नग्न रति को देखकर लज्जित नही होते, उसे दिव्य रति मानकर प्रसन्न हो होकर देखते है और जन्म-जन्मान्तर देखते रहना चाहते है अत प्रवृत्ति से प्रेरित कर्म मे, सामाजिक कारणो से जो भय, लज्जादि संयुक्त हो जाते हैं, उन्हे अपने मन की भावदशा को बदल देने पर सरलता से ही जीता जा सकता है। इसी प्रकार काम प्रवृत्ति जो मूल प्रवृत्ति है, उसे भी 'दिव्यकर्म' समझ कर करने से—काम को सन्तुष्ट करते समय यह भावना करते है कि यह मिलन ब्रह्माण्ड व्यापी शक्ति एव शिव का—युगल मिलन है, साधक के मन मे लज्जा ग्लानि कम होने लगती है और अन्त मन शात हो जाता है। वैष्णव इसी क्रिया

(१) न भावेन विना चैव यन्त्र मन्त्र फलप्रदा किं वीरसाधनैलक्षै किम्वाऽ-कृष्ट किं पीठपूजनेनैव किं कन्य। भोजनादिभि, स्वकुल प्रीतिदानेन किं कुलाकुले। परेषान्त थैव च। भावेन लभते मुक्ति भावेन कुलवर्धनम्, भावेन गोत्र वृद्धि स्यात् भावेन काय शोधनम्—कौलावली निर्णय—एकादश उल्लास ५-१० श्लोक

(२) मूलाधारे स्मरेत् दिव्य, त्रिकोण तेजसा निधिम्

'श्यामा रहस्य' मे कुडलिनी को स्मरण या ध्यान पर ही बल दिया गया है, द्रष्टव्य—'श्यामा रहस्य'—जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, द्वितीय सस्करण—१८९६ इ० सम्पादक—पूर्णानन्द ।

को केवल ध्यान करते है उससे साधक की वासना का दिव्य स्तरो पर प्रक्षेपण हो जाने से—वह 'दिव्यभाव' मे बदल जाती है।

गधवतत्र मे कहा गया है कि वेद द्वारा बहिष्कृत वस्तुओ का इस प्रकार उपयोग करो कि साधना म सफलता मिले। उपयोग की विधि तथा भावना से वस्तु पवित्र या अपवित्र होती है।[1] अत अद्वत भावना से शक्ति पूजा ब्रह्म मे मन को स्थित करती हे और द्वैतभाव मे नरक मे डालती है।[2] भडारकर ने लिखा है कि शाक्त सम्प्रदाय मे प्रत्येक पवित्र साधक देवता को स्त्री समझ कर यह अनुभव करता हे कि मै भी स्त्री हूँ। त्रिपुरा की उपासना मे एक सम्प्रदाय इसी विधि का अनुगमन करता है, यहा भी भावना की विशेषता ही दिखायी पडती है।[3]

गोपीनाथ कविराज ने ब्रह्म यामल से उद्धरण देकर साधना मे चित्त वृत्ति हो मुख्य है, इस सिद्धान्त को पुष्ट किया है ब्रह्म यामल मे कहा गया है कि स्नान, शौच, तपण आदि सब 'मानस ही होना ह, यन्त्रवत् आचार करने से कुछ नही होना।

शक्ति एव शक्तिमान की एकता का सिद्धान्त ही शाक्त शैव, वैष्णव एव तान्त्रिक बौद्धमत का सार है। दस महाविद्याओ मे 'कमला' तथा दस महाभैरवो मे इसी[4] लिए 'विष्णु' की गणना तत्रो मे की गई है। श्रीकृष्णायामलतत्र मे कहा गया है कि विष्णु के अवतार अपनी शक्ति सहित अवतार लेते हैं। वृन्दावन दो प्रकार का है (१) भूमि पर या भौम (२) दिव्य। दिव्य वृन्दावन लिङ्ग व योनि पर आधारित है लिङ्ग व योनि ही प्रकृति व पुरुष है। इसकी शक्ति 'राधा' है, राधा के अतिरिक्त अन्य शक्तिया के साथ भी पुरुष क्रीडा करता हे, यही गोपी लीला है। इससे जो 'रस' प्राप्त होता है, वह भी शक्ति व शक्तिमान की लीला का ही प्रतिमान है[5]

---

(१) गधवतत्र—रामचन्द्र काक तथा हरभट्ट शास्त्री १९३४, श्रीनगर, कश्मीर पटल—३१

(२) वही पटल ३६

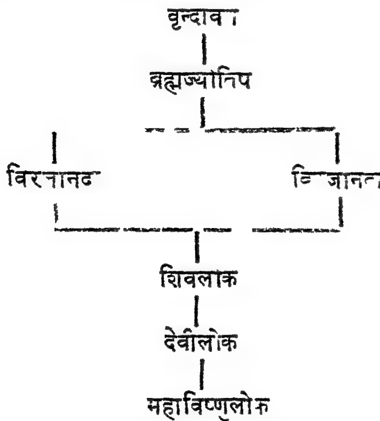
(३) बेनी कान्त काकाती—पृष्ठ ५२ से उद्धृत

(४) स्नानादिर्मानस शौचो मानस प्रवरो जप।
पूजन मानस दिव्य, मानस तपणादिकम्—
Gleanings from the Tantras—G N Kaviraj—Page 164

(५) वही, पृष्ठ १८५

राधिकोपनिषद् मे जीव को स्त्री तथा कृष्ण का 'यनि' कहा गया है।[1] राधा ही ह्लादिनी शक्ति है, अर्थात् ब्रह्म जो आनन्द स्वरूप है, वही राधा के रूप म व्यक्त होता है[2]

श्रीकृष्णयामल तन्त्र मे विष्णुलोक का वर्णन इस प्रकार मिलता है—



कहा है कि ब्रह्मा इस लोक मे गए। महाहरि ने प्रदान किया। यह महा हरि नीले रग का था, कमलनयन, अष्टभुज गिरधारी था। ब्रह्मा जब शिव लोक गए तो देखा कि लिङ्ग महायोनि का स्पर्श कर रहा था इससे 'अर्ध नारीश्वर' प्रकट हुआ। अर्ध नारीश्वर ने कहा कि मैं कृष्ण एव दुर्गा रूपी राधा का तेज हूँ। कृष्ण का मत्र प्रकट हुआ—

'क्ली कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजन वल्लभाय स्वाहा'

तत्पश्चात् ब्रह्मा विरजा नदी पर गए, यह ज्योतिमयी है, यहा विष्णु की वशी, मृदगादि सुने, यहा गोविन्द की कीर्त्तन हो रहा था। नदी मे कदम्ब का प्रतिबिम्ब था। उसमे स्थित एक कल्पवृक्ष पर मयूर पख धारी पीताम्बरधारी एक बालक आसीन था, उसकी गोद मे राधा थी। देवताओ ने वहा पहुँचने का प्रयत्न किया, किंतु उन्हे रोक दिया गया।

(१) वही

(२) वही—१८६

इसी प्रकार एक परवर्ती तन्त्र 'हंसविलास' मे तन्त्र एव वैष्णव मत की आधारभूत एकता बतायी गई ह। हसविलास मे जो परपरा दी गई है, उसमे महेश्वर पावती के साथ राधा-कृष्ण, का भी उल्लेख है[1]।

हसविलास मे राधाकृष्ण लीला को 'राजयोग' कहा गया है।[2] क्योकि यह मानसिक भावना पर आधारित है बाह्य क्रियाकाण्ड पर नही। भक्ति की परिभाषा मे कहा गया है कि इससे भव दुःख का शमन होता है, मोक्ष ज्ञान प्राप्त होता है, इसमे न योग है, न तप है, न अर्चा ह, केवल भक्ति ही इसमे सवस्व है।[3]

इस माग मे गुरु महिमा की वैसी प्रशसा है जैसी वल्लभमत मे मिलती है।

हस विलास मे 'रासमण्डल' एव 'चक्र मे सादृश्य दिखाया गया है। इसमे पक्तिबद्ध या चक्रवत साधक खडे होते ह।[4] रासमडल मे पचमकार को वास्तविक अथ मे ही प्रयोग म ला सकते है। यथा व्योमपङ्कज से स्रवित सुधा ही सुरा है, पलाशी या मास भोजी वह है जिसका चित्त 'पर' मे लीन हो जाता है। मैथुन का तात्पर्य है पर शक्ति के साथ आत्मा के मैथुन से उत्पन्न आनद, न कि दुराचार।[5]

इसी प्रकार 'रास' का वास्तविक अथ किया गया है कि आनन्द ही ब्रह्म है, वह आनन्द इस शरीर मे प्रतिष्ठित है, उस आनन्द का अभिव्यजक

---

(१) हसविलास-दीक्षाप्रसग

(२) हस विलास—पृष्ठ १०५

(३) भवदुःख प्रशमनान्मोक्ष ज्ञान प्रदानत ।
तीव्राथ करणाद्देवि भक्तिरित्य भिधीयते—न योगी न तपो नार्ची
भक्तिरेका विशिष्यते—हस विलास—पृष्ठ ११६

(४) पचयाकारेण वा सम्यक् चक्राकारेण वा प्रिये।—पृष्ठ १२३

(५) व्योमपङ्कजनिष्पन्दसुधापानरतोभवेत्
परे लयति यश्चित्त पलाशी स निगद्यते
परशक्त्यात्ममिथुन सयोगानन्दनिभर
य आस्ते मैथुन तत्स्यादपरे स्त्रीनिषेवका —वही, पृष्ठ १२५

होने से यह 'रास' है। और इस रास मे तत्पर व्यक्ति ही 'रसिक' कहलाता है।[1]

स्पष्ट ही यह रास की तात्रिक व्याख्या है। परन्तु सिद्धान्तत यह वैष्णव-सिद्धान्त से दूर नही है, विशेषकर कृष्णभक्त वैष्णवा मे जिनमे आनन्द प्राप्ति के लिए ही साधना की जाती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि रास सम्प्रदाय ही एक अलग सम्प्रदाय था जो वैष्णवो तथा तान्त्रिको के सिद्धान्तो मे समानता देखकर, दोना का समन्वय करता हुआ प्रचलित हुआ था, क्योकि हसविलास मे वद से वैष्णवमत को वैष्णवमत स दक्षिणमार्ग को, उससे वाममार्ग को, वाम से सिद्धान्तमत को, और सिद्धान्तमत मे उत्तम रास सम्प्रदाय को श्रेष्ठ कहा गया है[2] अर्थात वैष्णवधर्म का रसरासवादी रूप ही यह तत्र स्वीकार करता है।

हसविलास तत्रमार्ग म शैवो शाक्तो के साथ वैष्णवो को भी स्वीकार करता है, यद्यपि ऊर्ध्व आम्नायमत या शैवमत को ही श्रेष्ठ बताता है।[3]

हसविलास के अनुसार अनेक लोक है, इनमे गणेशलोक, सूर्यलोक विष्णुलोक, शिवलोक एव शक्तिलोक ही श्रेष्ठ है। इनमे अलग अलग मत्र तथा शास्त्र प्रचलित है। विष्णु मूर्तियो मे 'गोलोक विलासिनी' मूर्त्ति श्रेष्ठ मानी गई है।[4]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि गोलोक का वर्णन तान्त्रिको के लोक वर्णन से अद्भुत सादृश्य रखता है।

हसविलास तत्र 'शुष्क वैरागियो' का घोर खडन करता है—

(१) आनन्दो ब्रह्मणोरूप तच्चदेहे व्यवस्थितम्।
तस्याभि व्यञ्जको रासो, रसिकस्तत्परायण ॥
हसविलास—पृष्ठ १३६

(२) सिद्धान्तादुत्तमो रासस्तस्मात्परतर न हि—वही, पृष्ठ १३९

(३) वही, पृष्ठ १४८ (४) वही—१५१

सन्यासियो के लिए कहा गया है कि ये शक्तितत्त्व से परिचित नही है, ये आनन्द रहित है, शुष्क है[१] इनमे दण्डी, जटिल, मुण्ड, नग्न, आदि अनेक रूप वाले सन्यासी है।[२] गृहस्थधर्म ही सर्वश्रेष्ठ आश्रम है, इसकी भी ये सन्यासी निन्दा करते है[३], अत आनन्दवादी साधक को राधा या लक्ष्मी का स्मरण करना चाहिए, यह 'स्त्रीतत्त्व' अत्यधिक रहस्यमय और गभीर है।[४] 'तत्वातत्त्व' को न समझ कर ही लोग निन्दा करते है, स्त्री ससार को तारने के लिए है, डुबाकर मार देने के लिए नही।[५]

अत कलियुग मे भक्तियोग ही श्रेष्ठ है, इसमे 'मिथुन रूप' का ध्यान किया जाता है[६] शिव भक्ति या राधाकृष्ण की समरसता या विलासावस्था का ही ध्येय है। इसी सामरस्य को छन्दो मे बॉधा जाता है, भगवान के स्नान, अलकरण नीराजना, पुष्पाजलि आदि का विधान भी इसीलिए है। नायिकाभेद हावभाव अलकारादि के काव्यमय वर्णन भी इसी 'युगल उपासना' के मर्म के उद्घाटन के लिए है।[६]

इस युगलरस का चमत्कार रास मे प्रकट होता है। इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—

रसमय कश्चित् चमत्कार विशेषो रास स च सर्वत्र व्याप्त । सामरस्यात् 'रसो वै स', रस सच्चिदानन्द लक्षण शक्तिशिवैक्यरूप तस्य विलासो रास अनिर्वचनीयलीला चमत्कृति ।[७]

(१) अज्ञात्वा तात्त्विक स्त्रीणा रूपमुद्भ्रान्त मानसा ।
शून्यवैराग्यसशुष्का, भ्रमन्तिभुवि केचन—हसविलास, पृष्ठ १७२

(२) दण्डिनो जटिला केचिन् मुण्डा नग्ना पिशाचवत् ।
राजयोगो न तैर्दृष्टो, मोक्षस्तु प्राप्यते कुत —वही, १७२

(३) वही, पृष्ठ १७३
(४) वही, पृष्ठ १७४
(५) वही, पृष्ठ १७५
(६) वही, पृष्ठ २६८
(७) वही, पृष्ठ २७०

अथान् ब्रह्मानन्द ही राम है, वह सवत्र व्याप्त है। यह रस शक्ति एव शिव का एकता के स्वरूपवाला है, उसी ब्रह्मानन्द की क्रीडा रास है यह ऐसी अप्राकृतिक लीला है कि इसे शब्दो द्वारा नही कहा जा सकता।

वैष्णव के रास की प्रामाणिक व्याख्या स यह व्याख्या पृथक मिलती है।

वृदावन के कृष्ण को तत्र 'आद्यललिता' कहते हैं। वही परशक्ति पुरुषरूप धारण कर राधा आदि शक्तियो के साथ क्रीडा करती है, इस क्रीडा के दो रूप हैं एक क्रीडा बाह्य है जो जगत् के रूप म हमारे सम्मुख है और दूसरा आन्तरिक है जो ब्रह्माण्ड से परे गोलोक मे होती रहती है, जगत् की लीला व्यक्त होती है और कभी लुप्त हो जाती है, परन्तु गोलोक लीला नित्य है।[1]

'गा' शब्द वाणी या श्रुति के लिए गृहीत होता है, इसी प्रकार राधा का अथ 'पराशक्ति' है, गोपाल परमशिव है, अत गो गोपी साधारण धेनु जाति नही है। गो, गोपीलीला द्वारा शक्ति, शिव की नित्य लीला का ही वणन हुआ है।[2]

स्त्री पुरुष की यह जो बाह्यरति है, यह आध्यात्मिक दृष्टि से होने पर सिद्धि देती है, यह सम्भव न हो तो 'कीत्तन' करना चाहिए अथात कीत्तन मे भगवान की आनन्दमय लीला का ध्यान करे।[3] इसीलिए वैष्णव रासलीला का ध्यान एव कीत्तन करते है। हसविलास स्पष्ट कहता है कि तत्रो म साधक रतिक्रीडा करते है, वैष्णव उसका गायन करते है और गायन भी सुरति ही है।[4] इस प्रकार यह 'युगल उपासना' एक रहस्य है, इसे सब नही जानते, अप्रकट होने से ही यह 'सरस' है, प्रकट होकर प्रत्येक वस्तु नीरस हो जाती है।[5]

इस रहस्यमय युगलरति का गायन ही भक्त लोग किया करते हैं, इसीलिए इस माग मे विधि निषेध नही है, लोक एव धम के भी यह विरुद्ध प्रतीत होता है, किन्तु रासरसिक तन्त्री आदि वाद्य बजाकर केवल रसना द्वारा गायन करते है और

(१) हसविलास, पृष्ठ २७३ (२) वही, पृष्ठ २७५
(३) तदभावेऽधिदैवतरास कीत्तनीय —वही, पृष्ठ ३०८
(तत् का अथ—भौतिक रति है)
(४) गायनमात्रमेव सुरतम्—वही, पृष्ठ ३१६
(५) वस्तुतो यद्रहस्य तत्र सारस्यम्, यत्प्रकट तन्नीरसम्—पृष्ठ ३२१

तान्त्रिक साधक केवल गाकर सतोष नही लाते, वे स्वय युगलरति द्वारा स्वय रास मे भाग लेते हैं ऐसे तान्त्रिक 'परमहस' कहलाते हैं।[1]

हसविलास से वैष्णव एव तान्त्रिकमत की आधारभूत एकता स्पष्ट हो जाती है। 'पारानन्द सूत्र' से भी इस व्याख्या की पुष्टि होती है।[2]

तन्त्रो मे 'अनथनिवृत्ति' पर भी बल दिया गया है और वैष्णभक्ति माग मे केवल इश्वर का वशीकरण ही ध्येय है, दुखनाश की इच्छा को स्वाथ माना जाता है, यहा तक कि मुक्ति की इच्छा को भी भक्त स्वीकार नही करते।

(१) वही, पृष्ठ ३२२—३२३

(२) पारानन्द सूत्र—स्वामी त्रिविक्रम तीथ—बडौदा १९३१ भूमिका—बिधु शेखर भट्टाचाय

कश्मीर-शैवमत

सदिग्धेऽपि परे लोके, त्याज्यमेवाशुभ बुधै ।
यदि नास्ति तत किं स्यादस्मिन, चेन्नास्तिको हन ।

—नत्रालोक—अभिनवगुप्त

पारलौकिक सत्ता मे सन्देह होने पर भी वह माननीय है । यदि परलोकादि की सत्ता नही है, तो कोई हानि न होगी, किन्तु यदि कहा पारलौकिक सत्ता और परलोकादि की सत्ता हुई तो नास्तिक का विनाश निश्चित है ।

स्वपरामर्शमात्र यदपराध कियानसौ ।

—तत्रालोक

ससार मे सबसे बडा अपराध 'स्व' का परामर्श न करना है ।

शैवमत-परंपरा

अभिनव गुप्त ने शैव-परपरा का विस्तार मे वणन किया है। उनके अनुसार यह शास्त्र 'प्रसिद्धि' पर आधारित है। वद का प्रामाण्य यहा स्वीकार नही है। प्रसिद्धि (परपरा) पर आधारित यह शास्त्र वैदिक मत से श्रेष्ठ है। वेदो पर आधारित शास्त्रो मे ज्ञान एव योग सम्बधी स्वानुभव का अभाव है। अत ये 'अध शास्त्र' है, शिव शासन ऊर्ध्व शास्त्र है क्योकि तत्त्वज्ञान के लिए विधि निषेध का त्याग आवश्यक है। अध शास्त्रो मे विधि निषेध स्वीकृत है केवल यत्र तत्र ही स्वानुभव का वणन ह। ऋषियो के वाक्य क्लशकर हैं और अल्प फलदाता हे[1]। लोक-व्यवहार की रक्षा के लिए विधि निषेध म ही सलग्न रहने के कारण शक्ति शास्त्र तत्व ज्ञान से पूण नही हो पाये और विधि निषेध का ऊर्ध्व शासन माया मानता है।[2]

इस ऊर्ध्व शासन या आगम मार्ग मे (२) श्रीकठ एव लकुलीश्वर ये दो सप्रदाय है। लकुलीश मत केवल मुक्ति मार्गी है। श्रीकठ मत मे भुक्ति-मुक्ति दोनो की व्याख्या है। श्रीकठमत के भी पाच सम्प्रदाय है। इनमे 'भैरव मत' का ही अभिनवगुप्त स्वीकार करते है।

शैवपीठ भी दो प्रकार के है (१) दक्षिण (२) वाम। दक्षिण पीठ मे शिव तत्त्व प्रधान ह। वाम मे शक्ति-प्रधानता स्वीकृत है। प्रत्येक पीठ चार प्रकार का है (१) मडल (२) मुद्रा (३) मत्र एव विद्या। इनमे विद्या पीठ सवश्रेष्ठ है। अत अभिनव के सिद्ध योगीश्वर मत मे विद्या की प्रधानता है, यद्यपि मडल, मुद्रा

(१) ऋषिवाक्य बहुक्लेश—मत्र वाल्पफल मितम्।
नैव प्रमाणयेद्विद्वान्—शैवमेवागम श्रयेत्—तन्त्रालोक ३७ आह्निक, कश्मीर सस्कृत सीरीज, जिल्द १२ पृष्ठ ३९५

(२) अध शास्त्रेषु मायात्व, लक्ष्यते सगरक्षणात्—वही, पृष्ठ ३९४

तथा मन्त्र भी ग्राह्य हैं। अभिनव के त्रिक शास्त्र मे वाम एव दक्षि
समन्वय है।[1] इस मत का मालिनी विजय आदि तन्त्रो मे विवेचन है।
अनायास मुक्ति प्राप्ति इसकी विशेषता है।

श्रुति के अभाव मे शैव शास्त्र को प्रामाणिक नही माना जा
शका उत्पन्न होन पर अभिनव गुप्त 'गुरु परपरा' को ही प्रामाणिकता
मानते है।[2] इसके सिवाय प्रमाण के अभाव मे प्रमेय का अभाव न
सकना, क्योकि इस शास्त्र के उपदेष्टा प्रवचक नही थे।[3] इसके अ
अष्टम यज्ञादि मे उत्सन्न शाखा मूल श्रुति की कल्पना कर ली ज
प्रकार यहाँ भी श्रुति की कल्पना कर लेनी चाहिए। श्रुति के अभाव म
ज्ञान को अप्रामाणिक नही माना जा सकता।

आप्त वाक्य को प्रमाण सभी मानते हैं, पुन यह शास्त्र अनिन्द
प्रामाणिक है[4] अन्य शास्त्र साधन है और शैव शास्त्र साध्य है। अत
न्याय से यह मार्ग सवश्रेष्ठ है।[5]

आयाति क्रम—जिस क्रम से यह शास्त्र प्रकट हुआ है, वह क्र
प्रथम परम्परा → भैरव → भैरवी → लाकुल → अनन्त → गहन
→ इन्द्र → बृहस्पति।

(१) अशेष तन्त्रसार तु, वामदक्षिणमाश्रितम्
　　एकत्र मिलित कौल, श्री षडर्ध शासने—वही, पृष्ठ ४००

(२) इत्थ मध्ये विभिन्न तत्यिकमेव तथा तया।
　　शास्त्रमस्मद् गुरुगृहे सम्प्रदाय क्रमात्स्थितम्—
　　तन्त्रा० प्रथम आ० जिल्द १ पृष्ठ ४६

(३) न चैते विप्रलम्भका येनैवमन्यमर्थमुपदिशेयु —वही, पृष्ठ ४

(४) अविग्रीतैव हि प्रसिद्धिरागम —वही, पृष्ठ ४६

(५) वेदादिभ्य पर शैव, शैवाद्वाम च दक्षिणम्।
　　दक्षिणाच्च पर कौल, कौलात्परतर नहि—वही, पृष्ठ ४
　　यहा 'दक्षिण' माग का अथ 'शिव' से उद्भूत शास्त्रो
　　कौलमत, त्रिकमत आदि भैरव से उत्पन्न है।

इसमे क्रमश ६ गुरु और ९ करोड मन्त्र है ।[1]

द्वितीय परपरा भैरव → भैरवी → स्वच्छन्द → लकुल → अणुराट् (अनन्त) → गहनेश → ब्रह्मा → शक्र → गुरु । इसी परपरा मे आगे दक्ष, वामन, भार्गव, वासुकि, रावण, विभीषण, राम, लक्ष्मण आदि उपदेष्टा हुए ।

तृतीय परपरा एक और परपरा के अनुसार दत्त, चण्ड, हरिश्चन्द्र, प्रमथ भीम, शकुनि, सुमति, नन्द, कृष्ण आदि स्वीकृत है ।

अभिनव गुप्त द्वारा स्वीकृत द्वितीय परपरा के अनुसार लक्ष्मण → सिद्ध गण → दानव → गुह्यक → योगी-जन → राजा—इस परपरा से शास्त्र अवतरित हुआ । राजाओ द्वारा शास्त्र भ्रष्ट हो गया । तब श्रीकंठ की आज्ञा से सिद्ध शैव अवतरित हुए । इनमे त्र्यम्बक, आमर्दक, श्रीनाथ त्रिक-दर्शनावलम्बी थ अन्य द्वैताद्वैत के समर्थक थे । त्र्यम्बक-मठ से अवतरित होकर यह त्रिक शास्त्र आज तक साधको द्वारा प्रचारित हो रहा है ।

उपर्युक्त विवेचन से शैवसम्प्रदायो द्वारा स्वीकृत अवैदिक तत्त्वो की स्वीकृति स्पष्ट है । अनुभूति ही प्रमाण है, वेद नही । शैवो का यो मान्य सिद्धान्त उपर्युक्त आयातिक्रम से पुष्ट होता है । सतकविया मे यही अनुभूतिवाद ही स्वीकृत है और वेदवाद का खडन किया गया है ।

कश्मीरी शैवमत

फर्कुहर के अनुसार ८५० ई० मे वसुगुप्त द्वारा शिवसूत्रो का उद्घाटन हुआ । वसुगुप्त ने 'स्पन्दकारिका' एव 'सोमानन्द' (९०० ई०) ने 'शिवदृष्टि' द्वारा कश्मीरी शैवमत की पृष्ठभूमि प्रस्तुत की । आचार्य उत्पल ने (१० वी शताब्दी) प्रत्यभिज्ञा कारिका लिखी, रामकठाचार्य ने (१० वी शताब्दी) स्पन्दविवृति, तथा उत्पल वैष्णव ने (१० वी शताब्दी) स्पन्दप्रदीपिका की रचना की । अभिनवगुप्ताचार्य ने (१००० ई०) प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी, प्रत्यभिज्ञा विवृति विमर्शिनी, तन्त्रालोक तन्त्रसार, परमार्थसार आदि ग्रन्थ लिखे । भास्कर (११ वी शताब्दी) ने शिवसूत्र वार्तिक (११वी शताब्दी क्षेमराज (११ वी शताब्दी) शिव-सूत्र विमर्शिनी तथा जयरथ (१८ वी शताब्दी) ने तन्त्रलोक पर विस्तृत टीका लिखा । शिवोपाध्याय ने 'विज्ञान भैरव' पर (१८ वी शताब्दी) पर टीका लिखी ।

(१) अभिनव गुप्त के अनुसार यह प्रसिद्धि अन्य तन्त्रो मे स्वीकृत है ।

(२) यह परपरा अभिनव गुप्त को मान्य है ।

कश्मीरी शैवमत, इस मत से प्राचीनतर आगमो मे प्राप्त म
अद्वतवादी है। सम्भवत शकराचाय की कश्मीर यात्रा के पश्चा
शैवा पर अद्वैतमत का प्रभाव अधिक होता गया।[1]

मृगेन्द्र एव मातगतन्त्र आदि प्राचीनतर तन्त्र श्री मधुसूदन कौल
द्वतवादा ही नही अनेक तत्व वादी (pluralists) भी, है किन्तु सवप्रथ
तन्त्र' मे अद्वैत तत्त्व का प्रतिपादन हुआ। स्वतत्र इच्छा शक्ति मे विश्व
इस तत का नाम 'स्वच्छन्द-तन्त्र' पडा। इस पर क्षेमराज की टीका
स्वच्छन्द तन्त्र' का समय निश्चित नही ह, परन्तु वह वसुगुप्त' मे पूव
यह निश्चित है, अत कश्मीरी शैवमत का आधार स्वच्छन्द तन्त्र, विज्ञ
अद्वतवादी तन्त्र हैं। यह सिद्ध करना कठिन है कि विज्ञान भैरव तथा
शकराचाय से प्रभावित होकर ही लिखे गए है, अत फकुहर का यह
शकराचाय की कश्मीर यात्रा ही कश्मीरीमत की अद्वैत प्रधानता क
सिद्ध नही होती। जब तक यह सिद्ध नही होता कि 'स्वच्छन्द तन्त्र'
भैरव' शकराचाय के बाद लिखे गए है तब तक फकुहर का अनुमान के
मात्र है। यह सम्भव है कि शकर का प्रभाव रहा हो, परन्तु उसक
नही मिलता। शैवमत पूव युगा मे द्वैतवादी था, कश्मीर घाटी मे बौ
वाद से द्वैतवादी शवमत का प्रभाव कम हो गया था। परन्तु ८ वी शता
ने प्राचीन द्वतवादा शवमत की आदशवादी अद्वतवाद परक (
monistic) व्याख्या करके बौद्ध प्रभाव से कश्मीर को मुक्त किया
शकराचाय एव कश्मीरी शैवमत दोनो पर आदशवादी महायानी
प्रभाव दिखायी पडता है।

(1) The Religious Quest of India—J N Farqu
Page (198)

(२) द्रष्टव्य स्वच्छन्द तन्त्र—भूमिका भाग, पृष्ठ ६ Vol 1
Depatt, Srinagar Madhusudan Kaul 1921
तथा
कश्मीर शैविज्म जे० सी० चटर्जी (पृष्ठ ५ ६)

(३) स्पन्द निणय क्षेमराज — श्रीनगर कश्मीर—१९२५ भू
पृष्ठ ३

कश्मीरी शैवमत से पूव प्रचलित मुख्य ६४ तन्त्रा तथा अमुख्य अनेक तन्त्रा का प्रचार था इनकी सूची रामदास गौड ने हिंदुत्व (पृष्ठ ४८५ ८६) मे दी है। इनमे से उक्त विज्ञानभैरव आदि के अतिरिक्त कइ तन्त्रा से उद्धरण अभिनवगुप्तादि ने दिये है।

दर्शन सत्ता शुद्ध चित् है, देश, काल कारण से परे है, पूण स्वातन्त्र्य से मुक्त है, निष्फल है। यह सत्ता परमशिव, परात्पर ब्रह्म आदि शब्दो द्वारा सकेतित है। इस सत्ता मे सकल्प शक्ति रहती है, यह सकल्प शक्ति स्वतन्त्र और स्वच्छन्द है अर्थात् यह सकल्प शक्ति चैतन्य के साथ एकीभूत है। स्वातन्त्र्य का अथ यह है कि चैतन्य विकल्प या भूततत्त्व (Matter) से मौलिक रूप मे भिन्न है। चैतन्य स्वतत्र है और अपनी अभिव्यक्ति (जडतत्त्व के रूप मे) के लिए समर्थ और स्वतत्र है।

यह सकल्प शक्ति या स्वच्छन्द शक्ति दो दशाओ मे व्यक्त होती है। सृष्टि के रूप मे अथवा लय के रूप मे। सृष्टि के समय यह मूल चैतन्य से भिन्न न रहने पर भी भिन्न रहती है और प्रलयावस्था म यह सकल्प-शक्ति पुन चैतन्य के साथ एकाकार हो जाती है।

शाकर-वेदान्त का ब्रह्म भी शुद्ध चैतन्य है और आगमो का ब्रह्म (जाति सत्ता) भी शुद्ध चैतन्य है। परन्तु दोनो मे अतर है। तन्त्रो का चैतन्य (ब्रह्म) स्वच्छन्द शक्ति से युक्त है। यह शक्ति शक्तिमान ब्रह्म के साथ अभिन्न है एकीभूत है दोनो एक ही है, इस स्वतत्र शक्ति के द्वारा सृष्टि करने से ब्रह्म को तन्त्रो मे 'स्वतत्र-कर्त्ता' कहा गया है। क्योकि वह रूपो की सृष्टि मे स्वतन्त्र है। तन्त्रो मे सृष्टि कारिणी शक्ति तथा शक्तिमान ब्रह्म की पूण एकता स्थापित है। परन्तु वेदान्त मे ब्रह्म स्वय क्रिया रहित है। (अधिकरण रहित) शुद्ध चैतन्य मे न क्रिया हो सकती है, न इच्छा, न राग, न द्वेष अत इस शुद्ध चैतन्य को शाकर वेदान्त 'माया' नामक एक रहस्यम्य शक्ति से युक्त कर देता है। यह माया ब्रह्म के साथ एकीभूत (identical) नही है। परन्तु फिर भी यही शक्ति जगत् का कारण है। इसे वेदान्त अनिवचनीय (सत्, असत से विलक्षण) कहता है। यह माया शक्ति जड (Material) है, अत वह शुद्ध चैतन्य के साथ एकाकार नही हो सकती परन्तु साथ ही भिन्न भी नही है। श्री गोपीनाथ कविराज इसे "वेदान्त का रहस्यवाद' कहते है क्योकि वेदान्त मे 'मायातत्व की स्थिति दार्शनिक दृष्टि से युक्तियुक्त

नही है। तत्रो मे स्वतत्र या सकल्प शक्ति को अजड (Non Mate
गया है, इसी लिए वह चित् शक्ति कहलाती है।[१]

इस स्वतत्र शक्ति के तत्र मे अभिव्यक्ति के समय तीन सोपान व

(१) प्रलय मे जब चैतन्यविकल्प से मुक्त होता है तब शक्ति शु
या चित प्रकृति के रूप मे अवस्थित रहती है।

(२) विकल्प की ओर उन्मुख शक्ति—इस स्थित यद्यपि विकल्प
होती परन्तु विकल्प की ओर उन्मुखता प्रारम्भ हो जा
शक्ति को माया शक्ति या जड प्रकृति कहते है।

(३) जब विकल्प का जन्म हो जाता है और जडता घनीभत हे
इस शक्ति को 'अविद्या' कहते है।

(१) त्रिपुरा रहस्य (Part I, II, III, IV,) सरस्वती भवन
edited by गोपीनाथ कविराज—द्रष्टव्य-कविराज ७
भाग पर आधारित

गोपीनाथ कविराज के सिवाय ड० एस० एन० दास गुप्त ने ८
वेदात का भेद इस प्रकार बताया है कि तत्रो मे 'माया' शाकर-वेदान्त
वचन' नही है, अपितु ब्रह्म की तरह 'सत्य' है, शक्तिमान एव शक्ति ‹
है। अतएव जगत शक्ति (माया) की अभिव्यक्ति है। अत वह र
नही, किन्तु एक अथ मे जगत् अयथाथ भी है क्योंकि वह ब्रह्म से
का कल्पित (Modified) रूप मात्रा है।

The change and 'many' of the world are u
as they are but the assumed modifications and
Same identity of Maya in Brahamn and Brahma
Shiva in Shakta and Shakti in Shiva But they are
they are the modifications of the real

Philosophical Essays—S N
Calcutta 1941 Page,

आगम प्रामाण्य पुरातन प्रसिद्ध व्यवहार के कारण आगम प्रामाणिक है। आगम का अर्थ है प्रसिद्धि प्राप्त ज्ञान[1] अन्वय एवं व्यतिरेक प्रसिद्धि के ही उप जीवक है।[2] अन्वय-व्यतिरेक से प्रसिद्ध वस्तु मे साध्य-साधन की खोज की जाती है, यदि वे प्रसिद्ध से स्वतन्त्र होते तो प्रति व्यक्ति के अनुसार नाना मत मतान्तर खडे हो जाते है।

प्रत्यक्ष मे भी जिस पदार्थ का जो नाम व रूप प्रसिद्ध है, उसे हम स्वीकार कर लेते है। अत पूर्वकालिकी प्रसिद्धि ही 'प्रमाण' है। इसीलिए आगमो मे प्राचीनतम् प्रसिद्धि को प्रमाण माना जाता है। शैव शास्त्र प्राचीनतम है, एवं सर्वत्र प्रसिद्धि है अत वही श्रेष्ठ और ग्राह्य है। अत सारे शास्त्र जिन की प्रसिद्धि विद्या (आगम) के ही उपजीवि है

कविराज गोपीनाथ के अनुसार वेदान्त मे तन्त्र-दर्शन अधिक तर्क सगत है जबकि डा० दास गुप्त के अनुसार तन्त्र साधना प्रधान धर्म है, 'दर्शन' उस साधना की केवल पृष्ठभूमि मे प्रतिष्ठित किया गया है।

It was essentially a religious form of worship the tantra had to teach and the Philosophic conception was only in the background (Ibid)

वस्तुस्थिति यह है कि तन्त्र एव वेदान्त दोनो का साधना से अलग केवल 'शुद्ध दर्शन' के रूप मे देखने पर अनेक कठिनाइयां प्रस्तुत होती है। युरोप के दार्शनिको ने साधना से अलग रहकर 'शुद्ध दर्शनो' की रचना की है, परन्तु साधना प्रधान भारतीय दृष्टि से वे तर्कपूर्ण नही हो सके और भारतीय दर्शनो को तो युरोपीय दार्शनिक प्राचीन शास्त्रो पर आधारित होने के कारण शुद्धदर्शन ही नही मानते। अतएव मेरी दृष्टि मे वेदान्त एव तन्त्र दोनो को साधना प्रधान दर्शन ही माना जाना चाहिए। यह अवश्य माननीय है कि शाकर वेदान्ती तर्क चिन्तन मे अधिक आनन्द लेते है जबकि तान्त्रिक साधना पर बल देते है।

(१) प्रसिद्धि मनुमन्याय—सैवचागम उच्यते तन्त्रालोक—३५ आह्निक, जिल्द १२, पृष्ठ, ३५०

(२) अन्वय व्यतिरकौ हि, प्रसिद्धेरुप जीविकौ—वही

व्यवहार मे भी प्रसिद्धि ग्राह्य है अन्यथा विवाद से ही प्रत्येक बार निश्चय हुआ करता कि अन्न खाना चाहिए या थाली। अत व्यवहार मे प्रसिद्धि से भी आगम प्रामाणिक है।

जब तक परिमित ज्ञान रहता है, तब तक शैव शास्त्र को स्वीकार नही किया जाता, अन्य शास्त्रो के पश्चात् जब परिमित ज्ञान पूर्ण हो जाता है तब अन्तिम साधक शैव हो जाता है अत अन्त मे सबको शैव शासन स्वीकार करना होगा। जिन पर शिव की कृपा होती है वे प्रारम्भ मे ही शैव शासन को स्वीकार करते है। शिव ने ही ब्रह्मा, विष्णु, आदि रूप धारण कर वैदिक, सांख्य, योग, पाचरात्र, बौद्ध, अर्हत, न्याय, वैशेषिक, सिद्धान्त, शाक्त आदि मत अधिकारी भेद को ध्यान मे रखकर प्रकट किये है।[3] शिव के 'सद्योजात' मुख से शास्त्र प्रकट हुए है। वामदेव मुख से वैदिक मार्ग, अघोरमुख से आध्यात्मिक मार्ग प्रकट हुए है। लौकिक ज्ञान मे धर्म प्रधान है। पाचरात्र मत एव वैदिक मार्ग मे धर्म तथा ज्ञान दोनो है, बौद्ध अथवा अर्हत मार्ग वैराग्य प्रधान है। सांख्य मे ज्ञान एव वैराग्य दोनो है। योग मे ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य है और शैव मार्ग (अतिमार्ग) मे बुद्धि, भावना, लोक सबसे अतीत है। सारे शास्त्रो का पर्यवसान इसी शैवमार्ग मे होता है। अत कोई भी शास्त्र निन्दनीय नही है, सब शास्त्र शिवोद्भूत है।[4]

शुद्ध विद्या तक चित् शक्ति की प्रधानता रहती है और जड तत्त्व अप्रधान रहता है, किन्तु शुद्ध विद्या के पश्चात् जड तत्त्व की चैतन्य पर प्रधानता होती जाती है। चेतना का स्वातन्त्र्य समाप्त हो जाता है और केवल सत्तारूप मे जड वस्तुओ मे विद्यमान रहती है, उसका प्रभाव जडतत्त्व पर नही रह पाता।

अत शुद्धविद्या के पश्चात जब चैतन्य पर जडतत्त्व का प्रभाव बढ जाता है, यह स्थिति 'माया' की स्थिति कहलाती है।

माया के पाचभेद कहलाते है, तन्त्रो मे इन्ही को 'कचुक' कहा जाता है। ये कचुक परमशिव (आदि सत्ता) की शक्तिया है जो चैतन्य को आवृत करती है।

(३) पुरुषार्थ विचार्याशु साधनानि पृथक् पृथक्—वही, पृष्ठ ३७१

(४) सांख्य योग पाञ्चरात्र, वेदाश्चैव न निन्दयेत्
यत शिवोद्भवा सर्व इति स्वच्छन्द शासने—वही, ३७५

आवरण डालने की यह स्थिति—'कला', विद्या', 'राग' 'काल' और 'नियति' नामो से प्रसिद्ध है।[1]

इस प्रकार माया से युक्त चेतन्य निम्न में सीमित सत्ता है सीमित स्वातन्त्र्य है, सीमित ज्ञान है सीमित अनुभव है 'जीव' कहलाता है

कला, विद्या, राग, काल और नियति के अतिरिक्त स्थूल सृष्टि का विकास होता है। प्रकृति से लेकर पृथ्वी तक २४ तत्त्वों का विकास होता है—

अर्थात् प्रकृति + मन + बुद्धि + अहंकार + १० इन्द्रियाँ + ५ तन्मात्राएँ + ५ महाभूत—ये ही २४ तत्त्व है, जीव को मिलाकर २५ तत्त्व होते है इनमे शिव शक्ति सदाशिव, ईश्वर, विद्या, माया, अविद्या, कला राग, काल तथा नियति—य ११ तत्त्व मिला देने पर कुल तत्त्वो की सख्या ३६ हो जाती है।

अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक म उपर्युक्त ११ तत्त्वों पर साधना एव दर्शन—दोनो दृष्टियो से विचार किया है, हम साधना-खड मे उसका विवरण प्रस्तुत करेंगे।

इस प्रकार चित् शक्ति की अभिव्यक्ति के सृष्टि या प्रतीति प्रारम्भ हो जाती है और शक्ति के आकुचन के समय प्रलय प्रारम्भ हो जाती है। प्रलय के पश्चात् पुन जीवो के 'अदृष्टो' के सहयोग से ब्रह्म की शक्ति अश रूप म व्यक्त होती है। इस प्रकार आत्मा का केवल एक अश म व्यक्त होना ही 'ब्राह्माभास' है। 'ब्राह्माभास' क्या है ? ब्रह्म अपने एक अश से—देश, कालादि के रूप म व्यक्त होता है। ये देश कालादि चैतन्य या आत्मा से भिन्न हो जाते है। परन्तु चूकि चैतन्य सर्व-स्पर्शी है, (All embracing) चैतन्य अपने बाहर किसी भी वस्तु को नही रख सकता, अत जो बाहर घटपटादि पदार्थ दिखायी पडते है वे केवल दर्पण मे प्रतिबिम्बित पदार्थ के समान है। अत जगत् वस्तुत एक प्रतिबिम्ब है जो आत्मा या ब्रह्म मे ही अवस्थित है ब्रह्माण्ड की अभिव्यक्ति ब्रह्म की स्वतंत्र सकल्प-शक्ति से द्वारा होने के कारण, वस्तुत आभास (Reflection) की प्रक्रिया होती

(१) जे० सी० चटर्जी के अनुसार पाँच कचुको मे कला, नियति, राग, विद्या व कला की गणना की जाती है, जब माया सम्मिलित कर लेने पर कचुको की सख्या ६ हो जाती है। गोपीनाथ कविराज के अनुसार कला, नियति आदि पाच कचुक माया के ही भेद है, जैसा कि ऊपर दिखाया गया है। (विस्तार के लिए द्रष्टव्य—Kashmir Shavism —J C Chaterji)

है और इस आभास प्रक्रिया के लिए अ य िसी वस्तु की अवश्यकता नही पडती, अत जगत् ब्रह्म का आभास है, विवत नही है जो शङ्कराचाय मानते है, भ्रमात्मक ज्ञान नही हे अपितु यह उसी अथ मे सत्य हे, जिस अथ मे हम 'आभास' को सत्य मानने है। पर तु जैसे 'आभास' की सत्ता दपण से भिन्न नही है, तथैव जगत् ब्रह्म का चित् श क्ति से भिन नही है शक्ति दपण ह जिसमे जगत् रूपी प्रतिबिम्ब दिखायी पडता है। अन तान्त्रिक के लिए जगत् प्रतिबिम्ब की सत्ता के समा सत्य है और चित् शक्ति से अभिन्न है। चिन शक्ति भगवान की स्वतत्र शक्ति का नाम है इस प्रकार जगत् भगवान की स्वतत्र इच्छाशक्ति की अभिव्यक्ति है, वह भ्रमा मक ज्ञान नही ह की जैसे दपण मे प्रतिबिम्ब लुप्त हो जाता है, उसी प्रकार प्रलय की अवस्था म जगत् चित् शक्ति रूपा दपण मे समा जाता है परन्तु चित् शक्ति या स्वातत्र शक्ति प्रलय के बाद भी ब्रह्म के साथ सयुक्त रहती है।

ब्रह्म अपनी स्वतत्र शक्ति से स्वय स वदेशिक, सवव्यापक, विश्वोत्तीण और असीमित होने पर अस्वेच्छा से ही लीलाथ अपने को एकदेशिक, और सीमित करता है। ब्रह्म को इस प्रकार सीमित और एकदेशीय करने वाली शक्ति अविद्या या जड शक्ति कहलाती है (जो चित् की शक्ति ही हे) इसे 'शून्य' या प्रकृति भी कहा गया है। शून्य या आकाश मे सत्ता अपने को सव प्रथम सीमित करती हे,। अत सत्ता (ब्रह्म) के एकदेशिक और अपूण (पूणता की मात्रा मे कुछ अभाव की स्थिति) होने से 'जीव' कहलाता हे। यह 'जीव' अविद्या से सीमित रहने के कारण जगत् को अपने से भिन्न समझने लगता है यद्यपि मूलत जगत चित् शक्ति के रूप मे तथा जीव ब्रह्म के रूप मे एक ही है।

इस प्रकार आदि सत्ता अपने को अपनी स्वतत्र चित शक्ति द्वारा दो दो रूपों मे व्यक्त करती है। जीव रूप मे सत्ता 'द्रष्टा' कहलाती है और जगत् के रूप मे वही सत्ता 'दृश्य' कहलाती है। 'द्रष्टा' 'दृश्य, को अपन से भिन्न मानने लगता है और सुख-दुख अनुभव करता है जीव अपूण अनुभव (पूर्णाहता का अभाव) ब्रह्म के कारण 'इदम्' यह है अथवा 'मै हू' ऐसा अलग अलग अनुभव करता है।

ब्रह्म आवरण एव भिन्नता से परे है अत सारी सृष्टि ब्रह्म (पूर्णाहन्ता) के साथ एकीभूत रहती है। जैसे अग्नि मे 'प्रकाश' एव ताप दोनो रहते है, वेसे ही ब्रह्म मे पूण अनुभव (पूणाहन्ता) तथा स्वतत्र चित् शक्ति दोना रहती है। चित्शक्ति

जगत् के रूप मे यद्यपि भिन्न प्रतीत होती है क्योंकि जगत् जड और अनेक रूप प्रतीत होती है, तथापि वह ब्रह्म के साथ एकाकार रहता है।

अविद्या के कारण ब्रह्म मे जगत् का आभास प्रतीत होता है इस आभास मय जगत के तीन सोपान बताये गए है—

(१) जड जगत् को व्यक्त करने वाली शक्ति चैतन्य के साथ एकाकार रहता है परन्तु इस स्थिति मे जड जगत् भी व्यक्त नही हुआ है। यह जड जगत् के बीज रूप मे चैतन्य मे अवस्थित रहती है। यह अवस्था जिसमे चैतन्य एव चित् शक्ति एकाकार रहते है, शिव, शक्ति, सदाशिव, शुद्ध, विद्या तथा ईश्वर इन पाच तत्त्वो द्वारा उपर्युक्त प्रथम स्थिति का वर्णन किया जाता है। इस स्थिति मे ब्रह्म कुछ सीमित होकर शिव कहलाता है। ब्रह्म सभी प्रकार के विकल्पो से परे है तथापि शिव विकल्प से युक्त हो जाता है, परन्तु अभी शक्ति उसमे सन्निविष्ट रहती है। अभी तक शिव शक्ति एक है, परन्तु 'अहम्' ऐसा अनुभव शिव को होता है 'अह भासन' शिव की विशेषता है, परन्तु वह जगत् के विषयो से परे है अर्थात उसे केवल अपना "मैं हू" ऐसा अनुभव होता है, जगत् का अनुभव नही होता, क्योकि अभी सृष्टि-कारिणी शक्ति उसी के साथ सघटित रहती है।

(२) दूसरी अवस्था मे "मै हू' ऐसा अनुभव विस्तृत होता है और जब 'महाशून्य (जो जड तत्त्व है) का ज्ञान होता है, अर्थात् 'अहमेव इदम् ऐसा अनुभव होता है। तब वहीशिव 'सदाशिव' कहलाता है 'मै ही यह हू' यह ज्ञान होने पर शिव सदाशिव कहलाता है।

(३) परन्तु जब जड तत्त्व का कुछ प्रभाव और बढने लगता है और जब चैतन्य को यह अनुभव होता है "इदम्-अहम्" यह मै हू तब यह दशा 'ईश्वर कहलाती हैं।

(४) अब तक चेतन तत्त्व की प्रधानता रही और जडतत्त्व अप्रधान रहा, परन्तु जड तत्त्व एव चेतन तत्त्व बराबर हो जाते है तो चैतन्य की यह स्थिति 'शुद्ध विद्या' कहलाती है।

'शुद्ध विद्या की स्थिति के बाद 'अविद्या का विकास होता है। अविद्या की अवस्था को 'अकुरावस्था' भी कहा गया है। अकुर मे जैसे चैतन्य एव जड तत्त्व मिश्रित रहता है और दोनो तत्त्वो की प्रधानता रहती है, तथैव माया, कला, विद्या

राग, काल तथा नियति नामक अन्य मिश्रित तत्त्व व्यक्त होते है, इनमे चैतन्य और जड तत्त्व दोनो मिश्रित रहते है।

शिव शक्ति यामल ऊपर के वणन से स्पष्ट है कि तन्त्रो मे शिव एव शक्ति की एकता ही मुख्य विषय है जीव अज्ञान से मुक्त होकर 'शिव' हो जाता है तो जगत् आकुचित होकर शक्ति मे लुप्त हो जाता है। शक्ति एव शिव एक और अभिन्न है, अत तन्त्रो ने सवत्र शिव एव शक्ति की एकता पर बल दिया है ओर इस शिव शक्ति ऐक्य के लिए विस्तृत साधना पद्धति का आविष्कार किया है।

जगत शिव शक्ति मे 'यामल' का परिणाम है। यामल का अथ है 'सघट्ट'[1]। शिव एव शक्ति का सामरस्य (मैथुनावस्था म स्थित होना, अर्थात् एक हो जाना) को भी सघट्ट कहा जाता है। शक्ति एव शक्तिमान् को जननी तथा जनक भी कहा जाता है। क्योकि सारी सृष्टि शिव एव शक्ति के यामल[2] से ही उत्पन्न होती है। शक्ति शिव की स्वातन्त्र्य शक्ति का नाम है जिसे 'विमला' कहा गया है। हम कह चुके है कि जगत् के रूप मे ब्रह्म अपने अश शक्ति रूप मे व्यक्त होता है, क्योकि वह 'आत्मानुभव' करना चाहता है। आत्म अनुभव की स्फुरणा के कारण ही ब्रह्म शिव एव शक्ति इन दो रूपो मे व्यक्त हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्म की शक्ति ब्रह्म के साथ अपृथक् होकर भी जगत को पृथक् होकर आभासित करती है। शक्ति ही जगत् को निमित्त कारण है अत उसे 'जननी' कहा गया है।

'जनक' का अथ है 'भरिततनु'। सव आकाक्षाओ को पूण करने का स्वभाव है जिसका, वही जनक है। इस जनक के पाच मुख है, चित, आनन्द, इच्छा, ज्ञान एव क्रिया। शक्तिया से युक्त कर ब्रह्म पाच प्रकार के कार्य करता है—

सृष्टि सहार कर्त्तारं, विलय स्थिति कारकम्।
अनुग्रहकर देव, प्रणतार्ति विनाशनम्[3]॥

(१) तयोर्यामल रूप स सघट्ट इति स्मृत
(तन्त्रलोक—प्रथम आह्निक) पृष्ठ ४

(२) बौद्धमत मे इसी को 'युगनद्ध' कहा गया है।

(३) तन्त्रालोक—प्रथम आह्निक, जिल्द १, पृष्ठ ७

इस शक्ति युक्त ब्रह्म (शिव) आगामि स्वतंत्र न भिन्न तत्व पर शक्ति द्वारा सृष्टि की रचना करता है। ... गमात्मक होकर उल्लास से स्फुरित होते हैं और ... सृष्टि होती है। वैसे ही शिव शक्ति के मिथुनत्व ... से ... की उत्पत्ति होती है। शक्ति शिव के स्वरूप का ... विद्युल्लेखा के रूप में देखा गया है।

पाश शक्ति-शिव की नाना पाश में बांधनी है। ... पाश है। इनसे शिव जीवरूप में स्थित होकर अल्पज्ञता के कारण दुःख उठाते हैं। ज्ञान होने पर इसी शक्ति की सहायता से पुनः जीव अपने स्वरूप को पहचान सकता है, यही 'प्रत्यभिज्ञा' कहलाती है। 'प्रत्यभिज्ञा' ज्ञान द्वारा ही हो सकती है।

"यह वस्तु ऐसी है, इससे अन्यथा नहीं है" इस प्रकार का ज्ञान कराने वाली शक्ति का नाम ज्ञान है।[1] जीव को अपने रूप का ज्ञान केवल ज्ञान द्वारा ही हो सकता है।

ज्ञान के अतिरिक्त शक्ति के दो रूप और हैं, इच्छा शक्ति एवं क्रिया शक्ति। शिव का 'त्रिशूल' इन तीन शक्तियों का प्रतीक है।[2] ज्ञान की सृष्टि के निमित्त पारमेश्वरी इच्छा रूप शक्ति ही इच्छा शक्ति कहलाती है और सृष्टि के क्रिया कर्तृ शक्ति ही क्रिया शक्ति है।

इच्छा, ज्ञान, क्रिया अलग-अलग रहकर भेद उत्पन्न करते हैं और भेद ही 'पाश' है। परम अद्वैत, संविति, स्वातन्त्र्य पराशक्ति से युक्त शिव से जो कुछ भी भिन्न है, वह 'पाश' है,[3] अविद्या के कारण हमें भेदात्मक ज्ञान होता है।

अज्ञान का अर्थ तिमिर है जो पारमेश्वरी स्वातन्त्र्य इच्छा शक्ति के उल्लसित होने पर शिवस्वरूप के गोपन होने से उत्पन्न होता है। अज्ञान अपूर्ण ज्ञान है, ज्ञान

---

(१) एवमेतदिद वस्तु, नान्यथेति सुनिश्चितम्।
ज्ञापयन्ती जगत्यत्र, ज्ञान शक्ति निगद्यते॥
तन्त्रालोक जिल्द १ आह्निक १, पृष्ठ १८ १९

(२) वही, पृष्ठ १९

(३) भेद प्रथात्मकम् शिवात् अन्यत् तदेव पाश —वही, पृष्ठ ३४

राग, काल तथा नियति नामक अन्य मिश्रित तत्त्व व्यक्त होते है, इनमे चैतन्य और जड तत्त्व दोनो मिश्रित रहते है ।

शिव शक्ति यामल ऊपर के वणन से स्पष्ट है कि तन्त्रा मे शिव एव शक्ति की एकता ही मुख्य विषय है जीव अज्ञान से मुक्त होकर 'शिव' हो जाता है तो जगत् आकुचित होकर शक्ति मे लुप्त हो जाता है। शक्ति एव शिव एक और अभिन्न है, अत तन्त्रा ने सवत्र शिव एव शक्ति की एकता पर बल दिया है ओर इस शिव शक्ति ऐक्य के लिए विस्तृत साधना पद्धति का आविष्कार किया है ।

जगत शिव शक्ति मे 'यामल' का परिणाम है । यामल का अथ है 'सघट्ट'[1] । शिव एव शक्ति का सामरस्य (मैथुनावस्था मे स्थित होना, अर्थात् एक हो जाना) को भी सघट्ट कहा जाता है। शक्ति एव शक्तिमान् को जननी तथा जनक भी कहा जाता है। क्योकि सारी सृष्टि शिव एव शक्ति के यामल[2] से ही उत्पन्न होती है। शक्ति शिव की स्वातन्त्र्य शक्ति का नाम है जिसे 'विमला' कहा गया है। हम कह चुके है कि जगत् के रूप मे ब्रह्म अपने अश शक्ति रूप मे व्यक्त होता है, क्याकि वह 'आत्मानुभव' करना चाहता है । आत्म-अनुभव की स्फुरणा के कारण ही ब्रह्म शिव एव शक्ति इन दो रूपो मे व्यक्त हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्म की शक्ति ब्रह्म के साथ अपृथक् होकर भी जगत को पृथक् होकर आभासित करती है। शक्ति ही जगत् को निमित्त कारण है अत उसे 'जननी' कहा गया है।

'जनक' का अथ है 'भरिततनु'। सव आकाक्षाओ को पूण करने का स्वभाव है जिसका, वही जनक है। इस जनक के पाँच मुख है, चित, आनन्द, इच्छा, ज्ञान एव क्रिया। शक्तिया से युक्त कर ब्रह्म पाच प्रकार के कार्य करता है—

> सृष्टि सहार कर्त्तारं, विलय स्थिति कारकम् ।
> अनुग्रहकर देव, प्रणतार्ति विनाशनम्[3] ॥

---

(१) तयोर्यामल रूप स सघट्ट इति स्मृत
(तन्त्रलोक—प्रथम आह्निक) पृष्ठ ४

(२) बौद्धमत मे इसी को 'युगनद्ध' कहा गया है।

(३) तन्त्रालोक—प्रथम आह्निक, जिल्द १, पृष्ठ ७

इस शक्ति युक्त ब्रह्म (शिव) अनादि से मिथुनात्मक में शिव रूप पर शक्ति द्वारा सृष्टि की रचना करता है। जिस प्रकार प्रकृति ... गमात्मक होकर ... मे स्फुरित होता है और ... होती है। वैसे ही शिव शक्ति के मिथुनात्मक से सारे ... की उत्पत्ति होती है। शक्ति शिव के स्वरूप को नव दिन विद्युल्लेखा के रूप में देखा गया ...

पाश शक्ति शिव को नाना पाशों में बांधता है। ... पाश है। इनसे शिव जीवरूप में स्थित होकर अल्पज्ञता के कारण दुख ... है। ... होने पर इसी शक्ति की सहायता से पुन: जीव अपने स्वरूप को पहचान सकता है, यही 'प्रत्यभिज्ञा' कहलाती है। 'प्रत्यभिज्ञा' ज्ञान द्वारा ही हो सकती है।

"यह वस्तु ऐसी है, इससे अन्यथा नहीं है' इस प्रकार का ज्ञापन कराने वाली शक्ति का नाम ज्ञान है।[1] जीव को अपने रूप का ज्ञान केवल ज्ञान द्वारा ही हो सकता है।

ज्ञान के अतिरिक्त शक्ति के दो रूप और हैं, इच्छा शक्ति एवं क्रिया-शक्ति। शिव का 'त्रिशूल' इन तीन शक्तियों का प्रतीक है।[2] जगत की सृष्टि के निमित्त पारमेश्वरी इच्छा रूप शक्ति ही इच्छा शक्ति कहलाती है और सृष्टि का क्रिया कर्तृ शक्ति ही क्रिया शक्ति है।

इच्छा, ज्ञान, क्रिया अलग-अलग रहकर भेद उत्पन्न करते हैं और भेद ही 'पाश' है। परम अद्वैत, संविति, स्वातन्त्र्य पराशक्ति से युक्त शिव से जो कुछ भी भिन्न है, वह 'पाश' है,[3] अविद्या के कारण हमें भेदात्मक ज्ञान होता है।

अज्ञान का अर्थ तिमिर है जो पारमेश्वरी स्वातन्त्र्य इच्छा शक्ति के उल्लसित होने पर शिवस्वरूप के गोपन होने से उत्पन्न होता है। अज्ञान अपूर्ण ज्ञान है, ज्ञान

---

(१) एवमेतदिदं वस्तु, नान्यथेति सुनिश्चितम्।
ज्ञापयन्ती जगत्यत्र, ज्ञान शक्ति निगद्यते ॥
तन्त्रालोक जिल्द १ आह्निक १, पृष्ठ १८ १९

(२) वही, पृष्ठ १६

(३) भेद प्रथात्मकम् शिवात् अन्यत् तदेव पाश —वही, पृष्ठ ३४

के अभाव को अज्ञान नही कहते। आत्मा मे अनात्म का और अनात्मा मे आत्म-बोध ही अपूर्ण ज्ञान है। यही 'आणव मल' कहलाता है।

साधना के लिए शिव के ६ रूप स्वीकत किये गए हैं—

भुवन, विग्रह, ज्योति, ख, शब्द और मत्र। इनमे से किसी एक को साध्य बनाकर सफलता प्राप्त की जाती है। भुवन शब्द का अथ है—'भोगाधार रूप' लोकादि। विग्रह = रुद्र, क्षेत्रज्ञ आदि शिव के अनेक रूप। शब्द = नाद साधना। मत्र – अकार, मकार आदि ज्योति = प्रकाश का ध्यान करना।

एक ही शिव के अधिकारी की मानसिक दशा को ध्यान मे रखकर अनेक रूप होते है। अत शिव विश्वमय है और साथ ही विश्वोत्तीण भी है, क्योकि वह सबसे परे हे।[1] जिस प्रकार दपण या जल मे स्थित प्रतिबिम्ब दपण या जल मे भी रहता है और इनसे बाहर भी रहता हे, वैसे ही शिव विश्व मे स्थित होकर भी विश्व से परे भी रहता है। शक्ति और शक्तिमान् की एकता होने से विश्व एव शिव एक और अभिन्न है। विश्व शिव के अश शक्ति का रूपान्तर मात्र है।

शक्ति के भेद पदाथ अनेक है, भिन्न भिन्न हैं अत अनेक पदार्थों को देखकर भिन्न भिन्न शक्तियो की कल्पना की जाती हे, मूलत शक्ति एक है। हम देखते है कि ज्वालामुखी पवत भभक उडते है और मेघ मे विद्युत् प्रज्वलित हो उठती हैं, पवत की अग्नि व विद्युत की अग्नि दो पदाथ भिन्न भिन्न दिखायी पडते हं, परन्तु उनमे प्रतीयमान शक्ति मूलत एक है।[2] जगत् के भिन्न भिन्न रूपो मे शिव का स्फुरण हो रहा हे, अत उन भिन्न फलभेदो को देखकर हम पदाथ मे शक्ति का आरोप कर लेते है।

(१) उक्त च कामिके देव, सर्वाकृतिर्निराकृति
जलदपण वत्तेन, सव व्याप्त चराचरम्—वही, पृष्ठ १०४

(२) फलभेदादारोपितभेद पदार्थात्मा शक्ति —
दृष्टव्य-तत्रा०, प्रथम आह्निक, पृष्ठ ११०

जगत् शक्ति रूप है। यही शक्ति उपाय रूप में स्वीकृत है। शक्ति के द्वारा शिव का ज्ञान होना है। यह ज्ञान मानस-प्रत्यक्ष है यथा, सुख प्यास का मानस-प्रत्यक्ष होना है, तथैव शिव का मानस प्रत्यक्ष सम्भव है। यह मानस प्रत्यक्ष भी शिव के एक अंश का होता है यथा वृक्ष का केवल रूप का प्रत्यक्ष होता है, रसादि का नहीं, तथैव हम शिव के एक अंश का मानस प्रत्यक्ष होता है। नाद-बिन्दु आदि शक्ति रूपों द्वारा शिव का मानस प्रत्यक्ष होता है[1]। शक्ति उपाय है और मन है उपाय कर्त्ता। जिस प्रकार मन से बाह्य-पदार्थ का प्रत्यक्ष होता है उसी प्रकार शक्ति द्वारा शिव का मानस प्रत्यक्ष भी हो सकता है।

पदार्थ दो प्रकार के होते हैं I प्राण पद पदार्थ यथा 'गोत्व' 'गो' का प्राण-पद पदार्थ है। II विशेषावान हेतु पदार्थ के गुण, यथा शुक्ल, पनि, हरितादि गुण—इनसे पदार्थ की विशेषता प्रकट होती है। सम्पूर्ण पदार्थों का प्राणपद तत्त्व आत्मा या चैतन्य (शिव) अतः सारे पदार्थ शिवामृत से परिप्लुत हैं। पदार्थों को इसीलिए अमृतमय कहा गया है। पदार्थों में इसी आत्मा की खोज करनी चाहिए।

वृत्ति मन की वृत्तियां भी दो प्रकार की हैं। I भाव II अभाव। ध्यान के समय इन दोनों के मध्य में शून्यावस्था (चैतन्य) की झलक मिलती है। मन की लहर या तो भावमय होती है, या अभावमय, इन दोनों के बीच में आत्मा की झलक मिल जाती है अतः इसी मध्यममार्ग को साधना के समय अपनाना चाहिए। इसी को बौद्ध-दार्शनिक मध्यमा प्रतिपदा कहते हैं, शून्यावस्था भी यही है। शून्यावस्था भाव एवं अभाव नामक वृत्तियों का अलग करती है।

(१) रसाद्यनध्यक्षत्वेनाऽपि, रूपादेव यथा तरुम्।
विकल्पो वेत्ति तद्वक्त, नाद-बिन्द्वादिनाशिवम्—तन्त्रलोक—प्रथम आह्निक। पृष्ठ १२०

(२) उभयोभावयोर्ज्ञाने, ज्ञात्वा मध्यं समाश्रयेत्
युगपच्च द्वयं त्यक्त्वा, मध्ये तत्त्वं प्रकाशते।
अतएव च उन्मनाभिन्नप्रमातृरूप परमार्थ—
साक्षात्कार लक्षणमेतद् भवति
उन्मना तु ततोऽतीता, तदतीत निरामयम्—वही, पृष्ठ १२८

इस अवस्था के पश्चात् 'उन्मनावस्था' आती है और 'उन्मनावस्था' के पश्चात् साक्षात् ब्रह्म प्राप्त होता है।[1] इसीलिए कहा गया है कि ऊर्ध्व पथ तथा अधो-गति (नम्न-गति = अभावावस्था) को छोडकर अथवा प्राण एव अपान वायु को छोडकर मध्यदेशगामी बनकर रामस्थ हो जाना चाहिए। 'रामस्थ' करने वाला मार्ग तभी सुषुम्ना मार्ग कहा गया है क्योकि वह इडा पिंगला के बीच का मध्य मार्ग है। इसे तन्त्रो मे 'ग्राम धर्म' कहा गया है। इस ग्राम धर्म द्वारा ही 'राम' प्राप्त होता है। इस सम्बध मे तान्त्रिक सतकवि, कबीर, नानक, दादू, सुन्दरादि सभी एकमत हैं।

अभिनवगुप्त ने राम' शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है कि जड एव अजड (चेतन) विश्व-वैचित्र्य द्वारा क्रीडा करने वाला तत्त्व 'राम' है।[2]

राम या शिव एक तत्त्व है। वह आभासरूप विश्व मे क्रीडासक्त रहता है। तन्त्रो का क्रीडासक्त या लीलासक्त रूप ही वैष्णवो मे भी स्वीकृत है।

विकल्प के नाश से ही यह राम' प्राप्त हो सकता है। विकल्प को ही स्मृति कहा गया है।[3] अत स्मृति रहित स्थिति ही प्राप्त करना साधना का विषय है।

निरजन इसी प्रकार अभिनव ने 'निरजन' की भी व्याख्या की है। निरजन का अर्थ है जिससे शक्तिमान पूर्णता के साथ प्रकट किया जाय, वही तत्त्व निरजन है। शक्ति द्वारा ही तत्त्व पूर्णता के साथ व्यक्त होता है, अत शाक्त का ही तन्त्र मे 'निरजन' कहा गया है। शक्ति और शक्तिमान् की एकता के कारण 'शिव' की सज्ञा भी निरजन भी है। इच्छा, ज्ञान एव क्रिया द्वारा ब्रह्म अर्जित या प्रकट होता है। अत शक्ति के तीन रूपो मे सामरस्य लाकर योगी 'निरजन हो जाता है।[4] साधना मे क्रिया को भी 'निरजन' कहा गया है।

(१) ऊर्ध्व त्यक्त्वा विशेत्स रामस्थो मध्यदेशग —वही, पृष्ठ १३०

(२) तत्तज्जडाजडात्मना विश्ववैचित्र्यात्मना क्रीडति इति राम — वही, पृष्ठ १३१

(३) सर्वो विकल्प स्मृति—तन्त्रालोक—प्रथम आह्निक, पृष्ठ १३४

(४) लोलीभूतमत शक्तित्रितय तत्त्रिशूलकम्
यस्मिन्नाशु समावेशाद्द भवेद्योगी निरजन —तन्त्रालोक, आह्निक तृतीय, पृष्ठ ११५

साकार ब्रह्म का ध्यान साकार ब्रह्म साधना की सुविधा के लिए है। विकल्पो का नाश सहसा सम्भव नही है, अत साधारण-बुद्धि वाला के लिए ब्रह्म के मुख हस्तादि की कल्पना करनी पडती है। निश्चला बुद्धि की ओर यह एक सोपान मात्र है। निश्चला बुद्धि की निराकार तथा निरा-य राम या शिव ही सा य बनता है। साकार नही, अत वैष्णवादि साधक सामा-य-बुद्धिवाला के लिए हैं अन्त मे उन्हे भी निराकार को ही ध्येय बनाना पडता है।

जप ध्यान के अतिरिक्त जप से भी मुक्ति सम्भव है। भाव एव अभाव स रहित तत्वस्वरूप का परामश ही जप है। मन की मध्यमावस्था—शून्यावस्था म स्फुरित चेतना (सवित्) का परामश = मनन ही जप है।

वस्तुत साधना म भावना का फल मिलता है। जो साधक जिस रूप तत्त्व का आराधन करता है और तन्मयता प्राप्त करता है, उस वैसा ही फल प्राप्त होता है।[3]

यह स्मरणीय है कि उपासक दो प्रकार क होते ह I अवच्छेदक उपासक II अनवच्छेदक उपासक। अवच्छेदक उपासक नियत विधि से नियन्त्रित रहते हैं, (साकार उपासक इसी श्रणी मे आते ह)। अनवच्छेद उपासक स्वतत्र होते है, उनके लिए विधि निषेध नही है। वे निरगल हैं।

क्या साधना के ये भेद वास्तविक है। आगमशास्त्र का कथन है कि य भेद केवल व्यावहारिक हे, ज्ञान की स्थूलता मे ही भेदो का भ्रम होता है। स्थूलता का अथ हैं—ग्राह्य ग्राहक भाव का उदय यह उपेय है, यह उपाय है, एसा ज्ञान होना ग्राह्य-ग्राहक भाव है, अत स्थूल क्रियाओ म भेद दिखायी पडता है, वस्तुत कोई भेद नही है।

ज्ञान एव क्रिया क्रिया तथा ज्ञान मे भेद माने बिना क्रियाओ म भेद स्वीकार नही किया जा सकता। परन्तु आगमशास्त्र के अनुसार क्रिया एव ज्ञान मे वस्तुत कोई भेद नही है कहा गया है कि योग तथा क्रिया एक है। तत्व मे

(३) क्रियादेवी निरञ्जनाम्, वही, पृष्ठ ११८

(१) यतो नान्या क्रिया नाम—ज्ञानमेव हि तत्तथा। पृष्ट १८८

रूढेर्योगान्तता, प्राप्तमिति श्रीगमशासने—तन्त्रालोक प्रथम-आह्निक

इस अवस्था के पश्चात् 'उन्मनावस्था' आती है और 'उन्मनावस्था' के पश्चात् साक्षात् ब्रह्म प्राप्त होता है।[1] इसीलिए कहा गया है कि ऊर्ध्व पथ तथा अधो-गति (नम्न-गति = अभावावस्था) को छोडकर अथवा प्राण एव अपान वायु को छोडकर मध्य देशगामी बनकर रामस्थ हो जाना चाहिए। 'रामस्थ' करने वाला मार्ग तभी सुषुम्ना मार्ग कहा गया है क्योंकि वह इडा पिंगला के बीच का मध्य मार्ग है। इसे तन्त्रो मे 'ग्राम धर्म' कहा गया है। इस ग्राम धर्म द्वारा ही 'राम' प्राप्त होता है। इस सम्बध म तान्त्रिक सतकवि, कबीर, नानक, दादू, सुदरादि सभी एकमत हैं।

अभिनवगुप्त ने 'राम' शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है कि जड एव अजड (चेतन) विश्व-वैचित्र्य द्वारा क्रीडा करने वाला तत्त्व 'राम' है।[2]

राम या शिव एक तत्त्व है। वह आभासरूप विश्व मे क्रीडासक्त रहता है। तन्त्रो का क्रीडासक्त या लीलासक्त रूप ही वैष्णवा मे भी स्वीकृत है।

विकल्प के नाश से ही यह 'राम' प्राप्त हो सकता है। विकल्प को ही स्मृति कहा गया है।[3] अत स्मृति रहित स्थिति ही प्राप्त करना साधना का विषय है।

निरजन इसी प्रकार अभिनव ने 'निरजन' की भी व्याख्या की है। निरजन का अर्थ है जिससे शक्तिमान पूर्णता के साथ प्रकट किया जाय, वही तत्त्व निरजन है। शक्ति द्वारा ही तत्त्व पूर्णता के साथ व्यक्त होता है, अत शाक्त का ही तन्त्र मे 'निरजन' कहा गया है। शक्ति और शक्तिमान् की एकता के कारण 'शिव' की सज्ञा भी निरजन भी है। इच्छा, ज्ञान एव क्रिया द्वारा ब्रह्म अर्जित या प्रकट होता है। अत शक्ति के तीन रूपो मे सामरस्य लाकर योगी 'निरजन' हो जाता है।[4] साधना मे क्रिया को भी 'निरजन' कहा गया है।

(१) ऊर्ध्व त्यक्त्वा विशेत्स रामस्थो मध्यदेशग —वही, पृष्ठ १३०

(२) तत्तज्जडाजडात्मना विश्ववैचित्र्यात्मना क्रीडति इति राम — वही, पृष्ठ १३१

(३) सर्वो विकल्प स्मृति—तन्त्रालोक—प्रथम आह्निक, पृष्ठ १३४

(४) लोलीभूतमत शक्तित्रितय तत्त्रिशूलकम्
यस्मिन्नाशु समावेशाद् भवेद्योगी निरजन —तन्त्रालोक, आह्निक तृतीय, पृष्ठ ११५

साकार ब्रह्म का ध्यान साकार ब्रह्म साधना की सुविधा के लिए है। विकल्पो का नाश सहसा सम्भव नही है, अत साधारण-बुद्धि वाला के लिए ब्रह्म के मुख हस्तादि की कल्पना करनी पडती है। निश्चला-बुद्धि की ओर यह एक सोपान मात्र है। निश्चला बुद्धि की निराकार तथा निराश्रय राम या शिव ही स य बनता है। साकार नही, अत वैष्णवादि साधक मामान्य-बुद्धिवाला के लिए है अन मे उन्हे भी निराकार को ही ध्यय बनाना पडता है।

जप ध्यान के अतिरिक्त जप से भी मुक्ति सम्भव है। न व एव अभाव न रहित तत्वस्वरूप का परामश ही जप है। मन की मध्यम.वस्था—शून्यावस्था म स्फुरित चेतना (सवित्) का परामश = मनन हा जप हे।

वस्तुत साधना म भावना का फल मिलता हे। जा साधक जिस रूप तत्त्व का आराधन करता है और तन्मयता प्राप्त करता है, उसे वसा ही फल प्राप्त होता है।[3]

यह स्मरणीय है कि उपासक दो प्रकार के होते है I अवच्छेदक उपासक II अनवच्छेदक उपासक। अवच्छेदक उपासक नियत विधि से नियन्त्रित रहत है, (साकार उपासक इसी श्रणी मे आते है)। अनवच्छेद उपासक स्वतन्त्र होत है, उनके लिए विधि निषेध नही है। वे निरगल है।

क्या साधना के ये भेद वास्तविक है। आगमशास्त्र का कथन है कि ये भेद केवल व्यावहारिक है, ज्ञान की स्थूलता मे ही भेदो का भ्रम हाता है। स्थूलता का अथ है—ग्राह्य ग्राहक भाव का उदय यह उपेय है, यह उपाय है, ऐसा ज्ञान होना ग्राह्य-ग्राहक भाव है, अत स्थूल क्रियाओ मे भेद दिखायी पडता है, वस्तुत कोई भेद नही है।

ज्ञान एव क्रिया क्रिया तथा ज्ञान मे भेद माने बिना क्रियाओ म भेद स्वीकार नही किया जा सकता। परन्तु आगमशास्त्र के अनुसार क्रिया एव ज्ञान मे वस्तुत कोई भेद नही है कहा गया हे कि योग तथा क्रिया एक है। तत्व मे

(३) क्रियादेवी निरञ्जनाम्, वही, पृष्ठ ११४

(१) यतो नान्या क्रिया नाम—ज्ञानमेव हि तत्तथा। पृष्ट १८०८
रूढर्योगान्तता, प्राप्तमिति श्रीगमशासने—तन्त्रालोक-प्रथम-आह्निक

आसक्त मति ही क्रिया है इससे वासना की शाति होती है।[१] तत्र मे चित्त का लय हो जाना ही योग है, क्योकि तत्त्वो मे चिति की योजना को चित्त को तत्त्वो म युक्त कर देने को ही योग कहा जाता है (ज्ञान चेतना से भिन्न तत्व नही है। अत ज्ञान योग एव क्रिया एक एक तत्व हे।[२] इसका तात्पय यह है कि योग उपासना, ध्यान, जप, सेवा, कीतनादि सभी 'ज्ञान' शब्द मे अतभूत हो जाते है। अत साकार निराकार उपासना के भेद व्यावहारिक है जैसे, घट का ध्वस चाहे प्रस्तर से हो या दण्ड से परन्तु ध्वस तो होता ही हे, तथैव 'मोक्ष' रूप काय (वासना का नाश) चाहे किसी भी उपाय से हो सकता है।

साधना के भेद अधिकारी की मानसिक क्षमता या रुचि के अनुसार साधना के भेद करने पडते है—इन्हे आगमो मे उपाय कहा गया है। शाम्भव, शाक्त एव आणव ये तीन उपाय बताये गए है।

शाम्भव उपाय विकल्प रहित स्थिति शाम्भवावस्था है। जड, परिमित तत्व के निमज्जन से बोध प्राप्त होने पर जो तादात्म्य और तद्रूपता प्राप्त होती है वह 'शाम्भव-आवेश' कहा जाता है। सम्यक बोध के लिए बुद्धि की निमलता की आवश्यकता है। चैतन्य का प्रतिबिम्ब उसी मे पडता है। यही बुद्धि न्द्रियो को उत्पन्न करती है। इन्द्रिय एव बुद्धि से परे जाकर स्वारूप म स्थित होना ही शाम्भवी स्थिति है। इसमे 'भावना' नही रह जाती। शिव से तादात्म्य होता हे।[३] यही 'अनुत्तरावस्था' है। वस्तुत शाम्भव उपाय एक 'आम्यतर-ध्यान' in trospective meditation है इससे सहसा ही चैतन्य जागृत हो जाता है।

(१) योगो नान्य क्रिया नान्या, तत्वारूढा हि या मति
स्वचित्त वासना शान्तौ—सा क्रियेत्यभिधीयते।—वही, पृष्ठ १८९

(२) क्रियासैव च योग स्यात्तत्वाना चिल्लयीकृतौ। पृष्ठ १९०
तत्वाना चिति योजनात् योग स्यात् इति नानयो र्ज्ञानातिरेक वही,

अथवा

योगो नान्य क्रिया नान्य,—वही पृष्ठ—१९०

(३) तेना विकल्पा सविित्तर्भावनाद्यनपेक्षिणी।
शिवतादात्म्यमापन्ना, समावेशोऽत्र शाभव —तन्त्रालोक, प्रथम आह्निक, पृष्ठ, २०९-२१०

प्रतिविम्बवाद अनुत्तरावस्था मे भैरवा ग्नि नामक शक्ति विशेष की अपेक्षा होती है। 'प्रकाश' का ही आत्मा मे भैरवी शक्ति कहा गया है, क्योकि प्रकाश के कारण ही पदार्थ की प्रकाशत्व प्रतीत होता है। प्रकाश, प्रकाश्य से भिन्न नही है, यह हम कह चुके हैं। आत्मा रूपी भित्ति मे ही पदार्थ प्रतिबिम्बित होते है। प्रतिबिम्ब सर्वदा सजातीय पदार्थ का ही गोचर होता है, विजातीय पदार्थ का प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर हो नही सकता। भूमि, जल, वृक्ष, आदि के रूप ही दर्पणादि मे प्रतिबिम्बित होता है, स्पर्शादि का प्रतिबिम्ब गोचर नही होता, क्योकि रूप प्रकाश का सजातीय धर्म है और नेत्र का विषय प्रकाश या तेज ही है, स्पर्शादि नही।[1]

निर्मल वस्तु मे ही रूप का प्रतिबिम्ब पडता है, मलिन वस्तु मे नही अत शुद्ध चैतन्य मे ही यह विश्व प्रतिबिम्बित है यथा, सुन्दर रूप को देखकर स्पर्शादि की इच्छा होती है, वैसे ही जगत् के रूप रसादि मे प्राप्त आल्हाद से अतिशय-आल्हाद रूप चिदानन्द की प्राप्ति इच्छा होती है, क्योकि पदार्थ मे जो आनन्द है वह उसी शिव के आनन्द का आभास मात्र है। वह शिवानन्द का प्रतिबिम्ब मात्र है। इसी लिए बिम्बानन्द एव आभासानन्द मे भेद नही है। यदि यह कहा जाय कि प्रतिबिम्ब तो दिखायी पडता है, परन्तु बिम्ब अदृष्ट है तो इसका उत्तर यह है कि पीठ पीछे खडे हुए व्यक्ति का जैसे हम प्रतिबिम्ब देख सकते हैं, उसी प्रकार विश्व मे जो कुछ दिखायी पड रहा है वह सब शिव का ही प्रतिबिम्ब है।[2] प्रतिबिम्ब जब इतना सुन्दर और आनन्दमय है तब बिम्ब कितना सुन्दर और आनन्दमय होगा यह सहज ही अनुमेय है। प्रतिबिम्ब रूप पदार्थ से मिलने वाले आनन्द मे हम तृप्त नही होते, क्योकि प्रतिबिम्ब रूप जगत को पदार्थों का आनन्द उस ब्रह्मानन्द की ओर ले जाना चाहता है, परन्तु प्रमाता अपने अज्ञान वश इस आतरिक प्रेरणा को न समझ कर जगत् के

(१) निर्मले मुकुरे यद्वद्भान्ति भूमि जलादय ।
अमिश्रास्तद्वदेकस्मिश्चिन्नाथे विश्ववृत्तय ।
तन्त्रालोक जिल्द (२) आह्निकम् (३) पृष्ठ (४)

(२) तस्मादेको महादेव स्वातन्त्र्योपहितस्थिति । जिल्द २
द्वित्वेन भात्यसौ बिम्बप्रतिबिम्बोदयात्मता—
तन्त्रालोक तृतीय आह्निक, पृष्ठ १३

पदार्थों से मिलने वाले आनन्द तक ही बद्ध रहना चाहता है।[1] किन्तु ज्ञान होने पर पदार्थ जन्य आनन्द एवं आनन्द मे साधक अविरोध देखने लगता है। अत जो इन्द्रियजन्य आनन्द बधन मे डालने वाला है वही साधक के लिए आत्मानन्द का प्रेरक तथा माध्यम बन जाता है। प्रतिबिम्ब रूप जगत् जीवो पर अनुग्रह करने के लिए—उन्हे परमात्मा की ओर प्रेरित करने के लिए रचा गया है। दु ख देने या भेद उत्पन्न करने के लिए जगत् की सत्ता नही है। अत न यहा बधन है, न मोक्ष है, मूढ जीव भय के कारण ही वैसा समझते है। जगत तो बुद्धि प्रतिबिम्बित सत्ता का नाम है।[2] बुद्धि स्फटिक के समान है, उसी मे सब विश्व प्रतिबिम्बित हो रहा है।

बिम्ब के दो लक्षण कहे गए है (१) अन्य तत्त्व से अमिश्रित हो (२) स्वतत्र हो (३) भासमानता हो।

जिसमे सजातीय, विजातीय की व्यावृत्ति न हो वह अमिश्रता है। स्वरूप मे स्थित वस्तु स्वतत्र कहलाती है। अबाधित रूप से प्रतिबिम्बत होने की शक्ति भासमानता है। ब्रह्म के ये ही लक्षण है, अत वह बिम्ब कहा गया है।

इसी प्रकार प्रतिबिम्ब के दो लक्षण है (१) स्वरूप की हानि न होना (२) पर रूप सादृश्य—बिम्ब के सदृश होना। जगत ये ही दो लक्षण है। अत जगत प्रतिबिम्ब है और ब्रह्म बिम्ब है। बिम्ब के अतिरिक्त किसी की सत्ता नही है, क्योकि बिम्ब (ब्रह्म) माध्यम (चित् शक्ति पिंड मे 'बुद्धि'=दर्पण) तथा प्रतिबिम्ब (जगत के पदार्थ) की पूर्ण एकता है। चूकि बिम्ब ज्ञानमय है, अत जगत भी ज्ञानमय है। अत ज्ञान से भिन्न किसी की सत्ता नही है। ज्ञानमय होने से तत्त्व के साथ एकाकारिता प्राप्त हो जाती है।[3] ज्ञानमय होने के लिए ज्ञान ही साधन है

(१) प्रच्छन्न रागिणी कान्त प्रतिबिम्बितसुन्दरम्।
दर्पणा कुचकुम्भाभ्या, स्पृशन्त्यपि न तृप्यति—वही, पृष्ठ ६

(२) न मे बन्धो न मे मोक्षो, जीवस्यैता विभीषका।
प्रतिबिम्बमिद बुद्धेजलेष्विव विवस्वत —वही, पृष्ठ २७

(३) तत्तद्रूपतया ज्ञान, बहिरन्त प्रकाशते।
ज्ञानाहते नाथसत्ता, ज्ञानरूप ततो जगत्
नाहि ज्ञानाहतेभावा केनचिद्विषयीकृना
ज्ञान त्यामात्क पहत्मेस्मा वसीयते—वही, पृष्ठ २६

क्योकि ज्ञान स्वय प्रकाश है। दपण अपने को प्रकाशित नही कर सकता। शिव (बिम्ब) स्वय अपनी शक्ति से अपने मे अपना प्रकाश करता है। अत उसकी शक्ति निरतिशय स्वतत्र है। ऐश्वय एव चमत्कारमय है। यही पराशक्ति है, प्रतिभा है। शक्ति तथा शिव से भी परे पूण तत्त्व अनाख्य या अनुमार कहा गया है। यह 'अनाख्य (जिसका वणन नही हो सकता) सृष्टि का इच्छुक होकर शिव शक्ति रूपता को प्राप्त करता है। चूकि शक्ति शिव के कुल का (परिवार का) विस्तार करती है, अत वह 'कौलिक' कहलाती है[1] और शिव को 'कुल' कहा गया है। अकुल और कौलिकी शक्ति की साम्यावस्था के परे जो अनाख्य तत्त्व है, उसे 'कुल' कहा जाता है। इस कुलावस्था' मे शिव शक्ति का भेद नही है।[2] इसे प्राप्त कत्ता 'कौल' कहलाते है। शाम्भवावस्था यही है।

शिव (अकुल) तथा शक्ति (कौलिकी) का सघट्ट कुलावस्था के पूव की स्थिति है, साधक को प्रथम इसे ही प्राप्त करना पडता है। इसे 'समरसता' भी कहा गया है। पिण्ड मे भी यह समरसता प्राप्य है। पिण्ड म शक्ति की सज्ञा कुडलिनी है। जो शिव के साथ नित्य सयुक्त रहती है ब्रह्माण्ड शिव शक्ति के सामरस्य या सघट्ट से से उत्पन्न होता है (जैसे प्राकृत नर-नारी के सघट्ट मिथुनावस्था से सतानोत्पत्ति होती है वैसे ही ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति शिव एव शक्ति के सघट्ट से होती है)। सघट्ट मे मथ्य मथक' भाव रहता है। शक्ति मथ्य है, शक्तिमान मथक है। इसमे शक्ति इच्छा, ज्ञान, क्रिया—इन तीन रूपो को प्राप्त होती है। यही रूप त्रिकोण या शृ गाट (सिंघाडे) द्वारा सकेतित है। फिर इसका रूप 'अम्बिका' कहलाता है। 'ओइम' मे जो 'उकार' है अथवा शिव के मस्तक पर जो 'चन्द्रकला' है वह इसी 'अम्बिका' नाम्नी शक्ति को है। पुन यह 'ज्येष्ठा' कहलाती है, यह 'चन्द्र बिन्दु से उदित कालाग्नि रूपिणी 'रेफ' का रूप धारण करती है। इस प्रकार वर्णो की सृष्टि क्रमश होती है। इस प्रकार एक शक्ति अम्बिका, ज्येष्ठा, रेखिनी,

(१) अकूलस्यास्य देवस्य, कुल-प्रथन शालिनी। कौलिकी सा परा-शक्ति, रवियुक्तो यथा प्रभु —तन्त्रालोक, तृतीय आह्निक, पृष्ठ ७५

(२) यत्रोदितमिद चित्र विश्व यत्रास्तमेति च। तत्कुल विद्धि सवज्ञ, शिवशक्ति विवर्जितम्—वही।

पदार्थों से मिलने वाले आनन्द तक ही बद्ध रहना चाहता है।[1] किन्तु ज्ञान होने पर पदार्थ जन्य आनन्द एवं आनन्द में साधक अविरोध देखने लगता है। अतः जो इन्द्रियजन्य आनन्द बंधन में डालने वाला है वही साधक के लिए आत्मानन्द का प्रेरक तथा माध्यम बन जाता है। प्रतिबिम्ब रूप जगत् जीवो पर अनुग्रह करने के लिए—उन्हे परमात्मा की ओर प्रेरित करने के लिए रचा गया है। दुःख देने या भेद उत्पन्न करने के लिए जगत् की सत्ता नही है। अतः न यहा बंधन है, न मोक्ष है, मूढ जीव भय के कारण ही वैसा समझते है। जगत तो बुद्धि प्रतिबिम्बित सत्ता का नाम है।[2] बुद्धि स्फटिक के समान है, उसी मे सब विश्व प्रतिबिम्बित हो रहा है।

बिम्ब के दो लक्षण कहे गए है (१) अन्य तत्त्व से अमिश्रित हो (२) स्वतंत्र हो (३) भासमानता हो।

जिसमे सजातीय, विजातीय की व्यावृत्ति न हो वह अमिश्रता है। स्वरूप मे स्थित वस्तु स्वतंत्र कहलाती है। अबाधित रूप से प्रतिबिम्बत होने की शक्ति भासमानता है। ब्रह्म के ये ही लक्षण हैं, अतः वह बिम्ब कहा गया है।

इसी प्रकार प्रतिबिम्ब के दो लक्षण है (१) स्वरूप की हानि न होना (२) पर रूप सादृश्य—बिम्ब के सदृश होना। जगत ये ही दो लक्षण है। अतः जगत प्रतिबिम्ब है और ब्रह्म बिम्ब है। बिम्ब के अतिरिक्त किसी का सत्ता नही है, क्योकि बिम्ब (ब्रह्म) माध्यम (चित् शक्ति पिंड मे 'बुद्धि'=दर्पण) तथा प्रतिबिम्ब (जगत के पदार्थ) की पूर्ण एकता है। चूकि बिम्ब ज्ञानमय हैं, अतः जगत भी ज्ञानमय है। अतः ज्ञान से भिन्न किसी की सत्ता नही है। ज्ञानमय होने से तत्त्व के साथ एकाकारिता प्राप्त हो जाती है।[3] ज्ञानमय होने के लिए ज्ञान ही साधन है

(१) प्रच्छन्न रागिणी कान्त प्रतिबिम्बितसुन्दरम्।
दर्पणा कुचकुम्भाभ्या, स्पृशन्त्यपि न तृप्यति—वही, पृष्ठ ६

(२) न मे बन्धो न मे मोक्षो, जीवस्यैता विभीषका।
प्रतिबिम्बमिदं बुद्धेजलेष्विव विवस्वत —वही, पृष्ठ २७

(३) तत्तद्रूपतया ज्ञान, बहिरन्त प्रकाशते।
ज्ञानादृते नाथसत्ता, ज्ञानरूप ततो जगत्
नाहि ज्ञानादृतेभावा केनचिद्विषयीकृता
ज्ञान त्यामात्क पहत्मेस्मा वसीयते—वही, पृष्ठ २६

क्योकि ज्ञान स्वय प्रकाश है। दपण अपने को प्रकाशित नही कर सकता। शिव (बिम्ब) स्वय अपनी शक्ति से अपने मे अपना प्रकाश करता है। अत उसकी शक्ति निरतिशय स्वतत्र है। ऐश्वय एव चमत्कारमय है। यही पराशक्ति है, प्रतिभा है। शक्ति तथा शिव से भी परे पूण तत्त्व अनाख्य या अनुत्तार कहलाता है। यह 'अनाख्य (जिसका वणन नही हो सकता) सृष्टि का इच्छुक होकर शिव शक्ति रूपता को प्राप्त करता है। चूकि शक्ति शिव के कुल का (परिवार का) विस्तार करती है, अत वह 'कौलिक' कहलाती है[1] और शिव को ' कुल कहा गया है। अकुल और कौलिकी शक्ति की साम्यावस्था के परे जो अनाख्य तत्त्व है, उसे कुल कहा जाता है। इस कुल वस्था' मे शिव शक्ति का भेद नही है।[2] इसे प्राप्त कत्ता कौल' कहलाते है। शाम्भवावस्था यही है।

शिव (अकुल) तथा शक्ति (कौलिकी) का सघट्ट कुलावस्था के पूव की स्थिति है, साधक को प्रथम इसे ही प्राप्त करना पडता है। इसे समरसता' भी कहा गया है। पिण्ड मे भी यह समरसता प्राप्य है। पिण्ड मे शक्ति की सज्ञा कुडलिनी है। जो शिव के साथ नित्य सयुक्त रहती है ब्रह्माण्ड शिव-शक्ति के सामरस्य या सघट्ट से से उत्पन्न होता है (जैसे प्राकृत नर-नारी के सघट्ट मिथुनावस्था से सतानोत्पोत्ति होती है वैसे ही ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति शिव एव शक्ति के सघट्ट से होती है)। सघट्ट मे मथ्य-मथक' भाव रहता है। शक्ति मथ्य है, शक्तिमान मथक है। इससे शक्ति इच्छा, ज्ञान, क्रिया—इन तीन रूपो को प्राप्त होती है। यही रूप त्रिकोण या शृ गाट (सिंघाडे) द्वारा सकेतित है। फिर इसका रूप 'अम्बिका कहलाता है। 'ओइम' मे जो 'उकार' है अथवा शिव के मस्तक पर जो 'चन्द्रकला' है वह इसी 'अम्बिका' नाम्नी शक्ति का है। पुन यह 'ज्येष्ठा' कहलाती है, यह 'चन्द्र विन्दु से उदित कालाग्नि रूपिणी 'रेफ' का रूप धारण करती है। इस प्रकार वर्णों की सृष्टि क्रमश होती है। इस प्रकार एक शक्ति अम्बिका, ज्येष्ठा, रेखिनी,

(१) अकूलस्यास्य देवस्य, कुल-प्रथन शालिनी। कौलिकी सा परा-शक्ति, रवियुक्तो यथा प्रभु —तत्रालोक, तृतीय आह्निक, पृष्ठ ७५

(२) यत्रोदितमिद चित्र विश्व यत्रास्तमेति च। तत्कुल विद्धि सवज्ञ, शिवशक्ति विवर्जितम्—वही।

रौद्री, रोधिना आदि रूपधारण करती है।[1] सारे 'वर्ण' शक्ति के रूप है । अत जप के द्वारा शक्ति जागृत हो जाती हे।

यह शक्ति शिव के साथ अभिन्न ह अत दोनो का यामल, सघट्ट या सामरस्य ही सृष्टि का मूल कारण है। बौद्ध दार्शनिको ने इसे ही युगनद्ध कहा है। जगत मे स्त्री पुरुष का समागम इसी पारमार्थिक यामल का पिण्ड स्वरूप हे । (४) यहा विश्वोत्तीर्णता विश्वमत्ता से विच्छिन्न रहती हे। अत सब शास्त्रो मे इसी को उपेय कहा गया है।

'सघट्ट' का अर्थ घट्टन, चलन, स्पन्दरूपता, स्वात्मोच्छलता किया गया है। 'सघट्टावस्था' मे आत्मान द का उच्छलन होता है। इसीलिए प्राकृतसमागम मे आनन्द का एक रूप रहता है। इच्छा ज्ञान क्रिया तीनो का सामरस्य यही है।

निरजन 'नि शेषेण अजते' निरजा का यह अर्थ है। जिससे शक्तिमान पूणता के साथ प्रकट किया जाय, वही तत्त्व 'निरजन' है। शक्ति द्वारा ही तत्त्व (शिव) पूणता के साथ व्यक्त होता है, अत शक्ति को ही तत्र मे 'निरजन' कहा गया है। इच्छा, ज्ञान, क्रिया अपने अपने विषयो को प्रकट करती है अत पूण प्रकाश की अभिव्यक्ति होती है। चू कि शक्ति एव शक्तिमान् की एकता है, अत 'निरजन' शब्द 'शिव' का भी वाचक होता है। इच्छा, ज्ञान, क्रिया द्वारा ब्रह्म अजित या प्रकट होता है, अत शिव का त्रिशूल इच्छा, ज्ञान, क्रिया का प्रतीक है। इस त्रिशूल मे समाविष्ट होकर योगी 'निरजन' कहलाता है[2] और साधना मे 'क्रिया' की मुख्यता से 'क्रिया' को 'निरजन' कहा गया है।[3]

विन्दु अनुत्तर या अनाख्य परात्पर ब्रह्म, ग्राह्य-ग्राहक रूप मे अपने का परिच्छिन्न करता है, स्वरूप गोपन करता है और अज्ञेयतत्त्व जब अपने को सकुचित

---

(१) ज्ञान, क्रिया एव इच्छा तीन नामो के कारण देवी को 'त्रिपुरा' भी कहा गया है।

(२) लोनीभूतमत। शक्तित्रितय तत्त्रिशूलकम् ।
यस्मिन्नाशु समावेशाद् भवेद्योगी निरञ्जन —तन्त्रालोक, तृतीय आह्निक पृष्ठ ११५

(३) क्रियादेवी निरञ्जनम्—वही, पृष्ठ ११४

करके प्रकाश को प्रकट करना है तब वही अनुत्तरतत्त्व की सत्ता विन्दु होती है।[1] 'विन्दु' का अर्थ है—वेत्ति इति विन्दु जो विदि या वेदन क्रिया में स्वतन्त्र है, उसका अविभक्त प्रकाश ही विन्दु है। अत इच्छा ज्ञान, क्रिया के उदित होने पर सोम, सूर्य, अग्नि नामक प्रकाश प्रकट होते है। सोम, सूर्य एवं अग्नि मे विभक्त प्रकाश वस्तुत अविभक्त है, वही 'विन्दु' है। विन्दु को स्वच्छन्द-तन्त्र मे ईश्वर कहा गया है 'विन्दुश्चैवेश्वर स्वयम्' और ईश्वर मूलसत्ता के वहिरुन्मेष का नाम है।[2]

नाद यही प्रकाश—रूप मे स्थित विन्दु नादात्मक शब्द के रूप मे प्रकट होता है। शब्द का अर्थ है स्व से अभेदपूर्वक विश्व का परामर्श। यह शब्द नादात्मक है। नाद का अर्थ है—"नदति सर्वेषाम् जीव कलात्वेन परिस्फुरति इति नाद" अर्थात सम्पूर्ण विश्व मे नाद स्फुरित होकर ध्वनित हो रहा है। सारी सृष्टि का प्रकाशकतत्त्व यही है। सम्पूर्ण विश्व मे नाद के व्याप्त होने से 'अ' वर्ण को सर्वव्यापक कहा गया है। एक ही तत्त्व जीवकला के रूप मे और वही तत्त्व विन्दु

---

(१) अत्रानुत्तर शक्ति सा, स्व वपु प्रकटस्थितम्।
कुर्वन्त्यपि ज्ञेय कला, कालुष्याद्विन्दुरूपिणी—वही, पृष्ठ ११६

परमशिव (अनाख्य) स्वत सर्वप्रथम प्रकाश और (शिव) के रूप मे व्यक्त होता है, यह प्रथम 'विन्दु' है और द्वितीय 'विन्दु' है 'विमर्ष' (शक्ति) तथा तृतीय विन्दु है इन दोनो की एकता।

प्रकाश—प्रथम विन्दु—श्वेत विन्दु (वीर्य)
विमर्ष—द्वितीय —रक्त विन्दु (रज)
प्रकाश + विमर्ष —तृतीय—असित विन्दु (दोनो का एक)

प्रकाश विन्दु, विमर्ष विन्दु मे प्रतिबिम्बित होता है, प्रकाश विमर्ष (शक्ति, क्रिया) मे प्रतिबिम्बित होकर ही अपने रूप को जानता है। सूक्ष्म या निरपेक्ष (Abstract) विचार (thought) अपने स्वभाव को नही जान सकता, अत विचार की अभिव्यक्ति जैसे क्रिया द्वारा होकर ही पूर्ण होती है, वैसे ही परमतत्त्व अपनी विमर्ष शक्ति (क्रिया) मे प्रतिबिम्बित होकर अपने स्वभाव का अनुभव करता है। अत 'विन्दु' को सृष्टि का कारण कहा गया है।

द्रष्टव्य—Philosophical Essays—S N Das Gupta, 158-59

(२) स्वच्छन्द-तन्त्र—४-२६४

एव नाद के रूप मे व्यक्त हो रहा है। अविभक्त और अव्यक्त होकर भी नाद विभक्त और व्यक्त प्रतीत हो रहा है।[1]

स्पष्ट है कि सृष्टि के लिए किसी बाह्य उपकरण की आवश्यकता नही है। क्योकि अपनी आत्मा मे अपना ही आक्षेप वैसर्गिकी स्थिति को जन्म देता है। अत प्रतिबिम्ब रूप सृष्टि चैतन्य से बाहर नही है।

'अ' से प्रारम्भ होकर सृष्टि 'ह' वर्ण तक आकर स्थूल हो जाती है। इसी प्रकार सृष्टि का जडतत्त्व की ओर विकास होने पर मूल शिवतत्त्व 'हस' कहलाता है[2]

(१) नाद को 'सदाशिव' भी कहा गया है—नादे वाच्य सदाशिव—स्वच्छन्दतन्त्र ४—२६५

जिस प्रकार शाकर वेदान्त मे जागृत, स्वप्नादि द्वारा सिद्धान्त को स्पष्ट किया गया है, उसी प्रकार तन्त्रो मे 'नाद' को स्वीकार किया गया है। मीमासा की तरह तन्त्रो मे शब्द शाश्वत है। ध्वनि या शब्द से ही जगत की उत्पत्ति है। जिस प्रक्रिया द्वारा यह ध्वनि जगत का बाह्य रूप धारण करती है, वह प्रक्रिया पिण्ड मे अवस्थित है मीमासा मे शब्द एव अर्थ अचेतन है अत वहा शब्द की शाश्वतता बिना किसी सत्ता के मानी गई है। परन्तु तन्त्र मे वह सत्ता आत्मा है जो शब्द तथा अर्थ, बुद्धि एव यथार्थ (Matter) के द्वारा आत्मानुभूति करती है। जब विन्दु (प्रकाश) अपने आप विभक्त होता है तब 'अहम्' की अव्यक्त ध्वनि होती है, यही शब्द-ब्रह्म है, इसके भीतर, इच्छा, क्रिया और ज्ञान अवस्थित है। इस इच्छा क्रिया ज्ञान के स्वरूपवाला शब्द ब्रह्म या नाद ही बाह्य जगत तथा मनुष्य शरीर के रूप मे अभिव्यक्त होता है। यही सूक्ष्म नाद (ब्रह्म) बाह्य क, ख, ग आदि अक्षरो मे व्यक्त होता है। इस सूक्ष्म नाद ब्रह्म मे शिव एव शक्ति सयुक्तावस्था मे व्याप्त रहते है, 'अहम्' इस ध्वनि मे शिव एव शक्ति का मिथुनरूप ही व्यक्त होता है। चार सोपानो मे—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी व्यक्त होकर अतिम बैखरी रूप मे अक्षरो के रूप मे हमे प्रतीत होता है, परन्तु उसके तीन सूक्ष्मतर स्तर और है, 'परा' की दशा मे नाद सूक्ष्मतम् है और ब्रह्मरूप है, 'पराब्रह्म' मे नाद का रूप ग्राह्य-ग्राहकभाव से परे हो जाता है।

(२) हस शून्य तथा प्राण हकार नामभि स्मृतम्—तन्त्रराजभट्टारक, उद्धृत, तन्त्रालोक ३—१४५

सागर जिस प्रकार ऊर्मि विसर्ग को उत्पन्न करके भी सागर रहता है और लहर तथा सागर भिन्न प्रतीत होने पर भी अभिन्न रहते हैं तथैव सृष्टि एवं शिव एक और अभिन्न हैं।[1]

सहज सारी सृष्टि में शिव की इच्छा या काम तत्त्व ही पूर्ण हो रहा है। इसी काम-शक्ति के ध्यान में सब सृष्टि वश में हो जाती है। चूंकि सबके हृदय में वह इच्छा शक्ति स्फुरित हो रही है, यह स्वयं सिद्ध है। यह कामकला अप्रतिहत रूप से स्फुरित हो रही है। उदय और अस्त न होने से इसे 'सहज' एवं स्वयंभू' कहा है। यही नाद एवं बिन्दु रूपिणी है। क्योंकि 'सतत उदित-नाद मात्र स्वभाव' वाली है। यही सृष्टि के मूल में शिव के मन में स्थित 'कामेच्छा' स्थूल रूप में व्यक्त होकर रति-सौख्य के समय अन्य ज्ञान लुप्त हो जाने पर (विगलित वेद्य होने पर) विकल कामिनी तथा कामुक के मन में प्रकट होती है। स्थूल रूप में आने पर यह उदित एवं अस्त होती हुई प्रतीत होती है, परन्तु मूलतः यह सर्वत्र, सर्वकालों में स्थित रहती है। स्थूल सांसारिक नर-नारी रति के समय जिस प्रकार कामिनी के 'हा' 'हा' आदि शब्दों में यह कामेच्छा प्रकट होती है, उसी प्रकार सृष्टि के व्याप्त शब्द भगवान की चित् शक्ति (कामकला) द्वारा प्रकट हो रहा है। सारी वर्णमाला में शिव के साथ नित्यविहारिणी शक्ति ही प्रकट होती है। अतः सूक्ष्म एवं स्थूल दोनों रूपों में एक ही 'इच्छा' शक्ति व्यापक है। प्रिया कंठ में जैसे रति के समय नाद उत्पन्न होता है, तथैव इच्छा शक्ति नाद के रूप में परिणत हो जाती है। चूंकि प्रिया कंठ से प्रकट होने वाला नाद 'सहज' होता है, सुखकर होता है। अतः नाद को 'सहज' कहा गया है।[2]

---

(१) विसर्ग एव तावान्यदाक्षिप्तैतावदात्मकः ।
इयद्रूप सागरस्य यदनन्तोर्मि सन्ततिः —
तन्त्रालोक, तृतीय आह्निक, पृष्ठ १४७

(२) यत्रदक्षरमध्योम्य प्रियाकंठोदितं परम्
सहज नाद इत्युक्त तत्त्व नित्योदितो जपः —वही, पृष्ठ १५१
नित्यानन्दरसास्वादाद्धीहेति गल कन्दरे
स्वयंभू सुखदोच्चारः कामतत्त्वस्य वेदकः १५६
अति सौख्य समावेश विवशीकृत चेतसः
अविच्छिन्न जपन्त्येन मङ्गनासंगमोत्सवे—वही १५१

स्पष्ट है कि कामतत्त्व का ज्ञान तन्त्र-साधना मे इसलिए आवश्यक है कि स्थूल-रति-प्रक्रिया मे वस्तुत सृष्टि उत्पन्न होने की सारी प्रक्रिया की पुनरावृति होती है। काम-कला के अनुभव से साधक सृष्टि प्रक्रिया को सरलता से समझ सकता है। अन स्थूल रति के अनुभव से शिव शक्ति की रति या सृष्टि विस्तार का समझना तन्त्रो की विशेषता है।

इस प्रकार साधक को यह ध्यान करना चाहिए कि काम शब्द से कथित विसग नेत्रो मे निकल गया है, वह मेरे नेत्रो मे समा गया है, अथवा साध्यतत्व कानो से निकल गया है, मेरे नेत्रो मे समा गया है। इस प्रकार ध्यान से जगत् को एक साथ वश मे किया जा सकता है, क्रम क्रम से वश मे करने से विलम्ब होता है। यही सच्चा वशीकरण है।

भैरव एव भैरवी इच्छा को 'काम' ज्ञान को विष तथा क्रिया देवी को निरजन कहा जाता है। इन तीनो से युक्त शिव भैरव कहलाते है। अतिम स्थिति मे इसी भैरव का ध्यान होता है। यह भैरव शुद्ध चैतय मात्र है, विष का निर्वाहक है। निद्वन्द्व और आनन्दमय है। इस अवस्था मे साधक को एकीभावात्मक सूक्ष्म स्थिति प्राप्त हो जाती है और साधक जीवन्मुक्त हो जाता है। इसी भैरव की चित् शक्ति (विसग शक्ति = क्रिया शक्ति) सम्पूण विश्व को अपने मे गर्भीकृत करके (समेट कर) कुण्डलिनी नाम से प्रसिद्ध है। इसी को जगत् की योनि कहा गया है।[1] यही शक्ति वणमाला मे व्यक्त हुई है, इसी से मन्त्र बनते है। बिना इस शक्ति के परामश के (स्मरण विचार) मन्त्र शरद के बादलो के समान फलहीन होते है।[2] भैरवी-शक्ति ही चक्र मे पूजित होती है। भैरव एव भैरवी शक्ति के ज्ञान के बिना मन्त्र जाप निष्फल है। शक्ति विमर्श के बिना मन्त्र को 'शव' कहा गया है। अत—

> अत्रासक्तधियो यान्ति योगयोगीश्वरा परम्।
> स शिरोरहित काम कामिनी हृदयालय ।
> नेत्रारूढेन ते नार, शक्ति दृष्टि समाहरेत्।
> क्षोभयेत नात्र सदेही, दृप्तामपि वरस्मियम्। वही १५१

(१) या सा कुडलिनी सात्र, जगद्योनि प्रकीर्तिता।—
तन्त्रालोक-तृतीय आह्निक, पृष्ठ २०७

(२) आदि मान्त्यविहीनास्तु मूलयानिमजानत ।
न ते सिद्धिकरा मन्त्रा निष्फला शरदभ्रवत्—वही, पृष्ठ २१२

बिना ज्ञान के मन्त्रत्व मृगतृष्णा है और शक्ति परामर्श में जो कुछ भी उच्चारण किया जाता है, वह सब मन्त्र बन जाता है।[1] अतः भैरव साधना में विमर्श शक्ति का ही चमत्कार है।

शब्द माला में इसी शक्ति की अभिव्यक्ति होती है। इसे मातृका या मालिनी कहा गया है। विश्व का स्वरूप धारण कर्त्री शक्ति मालिनी कहलाती है।[2] अतः वर्ण में ब्रह्माण्ड में सारी शक्ति सञ्चित रहती है। स्वर को अव्यय और ब्रह्म कहा गया है। स्वर शिव है और व्यञ्जन को योनि कहा गया है। यह योनि में वीर्य क्षोभ उत्पन्न करता है तथा योनि एवं वीर्य के घर्षणादि से उत्पन्न चाचल्य (लोलीभाव) में योनि भेदित होती है, जैसे ही व्यञ्जना में स्वर के संयोग से अनेक अर्थ की सृष्टि होती है। भैरव एवं भैरवी का यह संयोग वर्णमाला में भी दिखाया पड़ता है।

इस भैरवी शक्ति के ज्ञान से ही सिद्धि प्राप्त होती है। शिव शासन में इसी को जीवन्मुक्ति कहा गया है, क्योंकि काल नियतादि कंचुक इस ज्ञान से नष्ट हो जाते हैं और साधक स्वरूप में स्थित होकर निर्द्वन्द्व होकर जगत में विचरण करता है।

विकल्पों के नाश से यह भैरवी भाव सहज ही प्राप्त हो जाता है।[3] इस 'भैरवी भाव' में इस प्रकार का भाव नित्य रहता है I यह जगत् मुझसे ही उत्पन्न हुआ है II यह मेरा ही प्रतिबिम्ब है III यह मुझसे अभिन्न है। ये तीन भावनाएँ शाम्भवावस्था के तीन रूपों को प्रकट करती हैं। मैं कर्ता हूँ' यह मेरा है, यह शत्रु का है ऐसी भावना नष्ट हो जाती है। साधक की चेतना उस दीपक के समान हो जाती है जो अन्य जीवों की चेतना को जगा सकता है। 'मैं शिव हूँ' यह परामर्श विश्व संस्कार का हुताशन बन जाता है। बाह्य दमन पूजा की

(१) श्लोकगाथादि यत्किंचिदादि मान्त्ययुतं ततः
तस्माद्विदस्त था सर्वे, मन्त्रत्वेनैव पश्यति—वही, पृष्ठ २१४

(२) बीजयोनि समापत्ति, विसर्गोदयसुन्दरा।
मालिनी हि परा शक्तिर्निर्णीता विश्वरूपिणी।—वही, पृष्ठ २२३

(३) अयं रसो येनमनागवाप्त, स्वच्छन्दचेष्टानिरतस्य तस्य। समाधि योग-व्रतमन्त्रमुद्रा, जपादिचर्या विषवद्विभाति। भूयोभूय समावेश, निर्विकल्प मिमं श्रितः अस्येतिभैरवीभाव, जीवन्मुक्तपराभिधम्—तन्त्रालोक, तृतीय आह्निक, पृष्ठ २४८

आवश्यकता नही रहती।[२] ऐसा साधक ससार के उद्धार मे, परोपकार, आदि सत्कर्मो को कर्त्तव्य समझकर करता रहता है, तथापि वह कर्म बधनो से मुक्त हो जाता है।[३] जलधि के समान साधक की चेतना बाह्योन्मुखता की उपाधि से भूषित होकर उल्लसित और शात होती रहती हे, परन्तु वह साथ ही अक्षुब्ध रहता है।

हठपाक भैरवी भाव को प्राप्त करने के लिए शात पाक एव हठपाक दो पद्धतिया है। प्रथम मे गुरु आराधन, शास्त्र श्रवण तथा नित्य-नैमित्तिक काम है। परन्तु इसके अतिरिक्त हठपाक या हठयोग मे बलात् उपाधियो का नाश किया जाता है। हठपूवक चित् अग्नि का सस्कार हठयोग है। भेद रूपी इधन को हठयोग जला देता है। चिदग्नि से हठपाक क्रम से सृष्टि आदि भावो का लोप करके अमृतोपम बोध की एकता को प्राप्तकर (सर्व 'खलु इद ब्रह्म' ऐसी भावना कर) जो सवित् का परामश करता है, वही योगी है। एकत्व प्राप्त होने पर भी योगी को भेद का आभास होता रहता है, परन्तु वह अविचलित रहता है।[४]

शाक्त-उपाय शाम्भव उपाय के उपयुक्त वणन से स्पष्ट है कि इसमे साधक ज्ञान द्वारा निर्विकल्प मे विश्राम पाता है। किन्तु शाक्त स्थिति मे चित्त, बुद्धि, अहकारादि स्पष्ट हो जाते है। अत इसमे विकल्प रहते है। शाकर वेदान्त की तरह शिव शासन मे मन, चित्त, बुद्धि, अहकारादि का विनाश— (Annihilation) नही है। इस सम्प्रदाय मे मन, चित्त, बुद्धि आदि विकल्पो के माध्यम से साधक सिद्धि पाने का प्रयत्न करता है। सन्यास प्रधान सम्प्रदायो एव तान्त्रिक सम्प्रदायो मे यह मौलिक भेद है।

शाक्तावस्था मे जगत के मायात्मक अत विकल्पात्मक होने से भेद प्रारम्भ हो जाते है। इस स्थिति मे 'कर्तत्व' का अभिमान रहता है। 'मै ही सवत्र स्थित

(२) अनन्त चित्रसगृदभ ससार स्वप्नसघ्नन । प्लोषक शिवएवाह—मित्यु ल्लासीहुताशन —वही, पृष्ठ २५७

(३) न चावज्ञा क्रिया-काले ससारोद्धरण प्रति—वही, पृष्ठ २६२

(४) एवविधेन हठेन क्रमव्यतिक्रमरूपेण सकृदुपदेशात्मना बलात्कारेण य पाक, चिदग्नि सात्कार, तस्यक्रम परिपाटी, तेन सृष्टयाद्युपाधीना-मत्ययो भवेत्—वही पृष्ठ २४०

हू' 'मेरे द्वारा ही सब स्थित है' ऐसी भावना होती है। यद्यपि उस स्थिति में मायात्मक विकल्प रहते हैं, परन्तु धीरे धीरे मायज समावेश भी आगे बढ़ता जाता है। भेद में अभेद की ओर बढ़ने से भेद और अभेद दोनों की स्थिति इस दशा में रहती है, अतः कहा गया है भेदाभेदौहि शक्तिता।[1]

अतः 'शाक्त प्रक्रिया' में 'संस्कार' का महत्त्व है। संस्कार' शब्द का अर्थ है श्रुति, चित्तादि के द्वारा अस्फुट रूप में विद्यमान तत्त्व को स्फुटता प्राप्त कराना। इस संस्कार से निर्विकल्प में प्रवेश सम्भव है। अतः विमर्श का संस्कार ही निर्विकल्प का साधन है। विमर्श का नाश कदापि ध्येय नहीं है। विमर्श का संस्कार न होने पर 'विरुद्ध विकल्प' रहता है और संस्कार का प्रवाह सम्भव नहीं होता। विरुद्ध विकल्प के नष्ट होते चलने पर आत्म शुद्धि होती है और अन्त में अविकल्प स्थिति प्राप्त हो जाती है।

क्योंकि विकल्प भी संवित् का ही एक रूप है, अतः विकल्प में आवृत संवित् अन्त में अपने मूल रूप को प्राप्त कर लेती है। विकल्पों के आरूढ रहने पर भी संवित् बराबर स्फुरित होती रहती है, उद्धार का यह आशा-स्रोत है। अन्त में भैरवी-तेज प्राप्त करने में इसीलिए शाक्त-उपाय को भी साधन बनाया जा सकता है। बार बार संवित् के विमर्श से भैरवी तेज (चैतन्य) स्फुटित हो जाता है,[2] अतः माया के नाश के लिए तत्त्व का पुनः पुनः परामर्श आवश्यक है।

इस परामर्श में तर्क सहायक है। तर्क खंडन मंडन को नहीं कहते, तर्क का अर्थ शैव शासन में 'आत्म-प्रत्यभिज्ञा' है। शुद्ध विद्या के स्पर्श में पवित्र बुद्धि में उत्पन्न 'मैं शिव हूँ' ऐसी भावना उत्पन्न करने वाली वृत्ति तर्क है। यही भेद-कुठार को काटती है। अद्वैत-भाव ही तर्क है, इसी से सारे मनोरथ पूर्ण होते हैं।[3] भेद

(१) तन्त्रालोक—प्रथम आह्निक पृष्ठ २४३ शाम्भव अवस्था में 'ध्यान' की आवश्यकता नहीं रहती, परन्तु शाक्तावस्था में रहती है, यही मुख्य अन्तर है।

(२) अतश्च भैरवीय यत् तेजः संवित्स्वभावकम्।
भूयोभूयो विमृशता, जायते स्फुटात्मना—
तन्त्रालोक, जिल्द ३ आह्निक ४, पृष्ठ ७

(३) दुर्भेदपादपस्यास्य, मूलं कृन्तन्ति कोविदाः।
धारारूढेन सत्तर्ककुठारेणेति निश्चयः—वही, पृष्ठ १२

रूपी पादप को काटने से परा रूपी काष्ठ भी प्राप्ति होती है। यही पराकाष्ठा (पराशक्ति) कहलाती है। अत तक भावना विशेष को—परामश विशेष को कहते है, कोरे खडन मडन को नही। तक ही पराकाष्ठा को प्राप्त होकर 'भावना' बनता है।[1] इसीलिए शैव शासन मे परम ज्ञान 'भावना' कहलाता है।[2] यह भावना ही सच्ची कामधेनु है (सवकामदुघा) इससे सिद्धियाँ एव मुक्ति दोनो प्राप्त होती है। योग का यही उत्तम अग है। यही अन्तरग योग है। यो तो 'तक' को 'षडग' का अग माना गया है—प्राणायाम, ध्यान, प्रत्याहार, धारणा, तक, समाधि। यहा 'तक' का अथ है स्व सिद्धान्त के विरुद्ध न जाकर तक करना यह तक का अथ है। अन्य सम्प्रदाय 'राग' से पीडित है, परन्तु शैव शासन मे स्वर्गादि की इच्छा नही है, अत तक के इस अथ को छोडना, कुतार्किक का काय है। इसीलिए कहा गया है कि कोई तार्किक को गुरु न करे।[3] अन वस्तु निणय शून्य छल प्रधान जो तार्किक गुरु पर पराजय की चेष्टा करता है और हेय उपादेय विवेक से वस्तु का निणय नही करता उसे गुरु न करे।

यह तक (ज्ञान) जिसको अकस्मात् होता है, वह 'सासिद्धिक' कहलाता है। इसमे गुरु तथा शास्त्र की अपेक्षा नही है, न साधना की आवश्यकता है। अकस्मात का अथ है -लोक मे अप्रसिद्ध हेतु। 'प्रातिभ महा ज्ञान' से ही यह सम्भव है। उपाधि भेद से इसके नाना भेद—

निर्भित्त — सहभित्तिक
या — या
सवग — अशग
या — या
मुख्य — अमुख्य

(१) तक एवहि परा काष्ठाम् उपगतो भावना इति—
तन्त्रालोक, चतुर्थ आह्निक, पृष्ठ १३

(२) यहा भावना का अथ emotion, या feeling नहीं हे, अपितु Contemplation है।

(३) गुरुदेवाग्नि शास्त्रस्य ये न भक्ता नराधमा।
असच्युक्ति विचारज्ञा शुष्क तर्कावलम्बिन
मूमयत्येव तान्माया, ह्यमोक्षे मोक्ष लिप्सया—वही, पृष्ठ १८
तार्किक न गुरु कुर्यात् —वही } पृष्ठ १८-१६
तार्किके बध, बन्धनम्—वही }

अकस्मात ज्ञान हो जाने पर समस्त यत्न मत, अनुष्ठान आदि व्यर्थ रहता। जो स्वसंवित्ति का भी प्रकाश कर लेते हैं वे निर्विकल्प कहलाते हैं जो परापजीवी किसी सीमा तक रहते हैं वे 'सत् भिक्षिक' कहलाते हैं।

साधारणत सांसिद्धिक साधकों को दीक्षादि दी जाती है, परन्तु जिन्हें दीक्षा (अदृष्ट) एवं मंडल की आवश्यकता नहीं पड़ती वे 'अकल्पित-सांसिद्धिक' कहलाते हैं। यह ज्ञान भगवत्-अनुग्रह से ही उत्पन्न हो सकता है।

शाक्त साधना अन्य साधना की साधना की आवश्यकता रहती है। साधना में दीक्षा, मंडल, कुल आदि का विचार किया जाता है।

शाक्त-साधना में योग मुख्य है। योग का अर्थ हम स्पष्ट कर चुके हैं। योग में प्राण (चंद्र) तथा अपान (सूर्य) के मध्यमार्ग में चित्त का लय करना होता है। इससे ग्राह्य-ग्राहक भाव नष्ट हो जाता है। पीड़ा देने वाले प्राणायाम (यथा रेचक) व्यर्थ हैं। 'रहस्य' ही ज्ञेय है।[1] रहस्य का अर्थ है, प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता का भेद भाव नष्ट हो जाय और शुद्ध चैतन्य रूप परतत्व का ज्ञान हो।

प्रत्याहार इंद्रियों का अंतर्लीन मात्र ही प्रत्याहार है। बाहर में इन्द्रियों को भोगों से विरत करना व्यर्थ है। चूंकि सर्वत्र संवित् विद्यमान है, अतः जहां जहां मन जाय वहीं-वहीं उसे रमाने का, मन के द्वारा इच्छित वस्तु में लवलीन करने का प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि जब सभी कुछ शिवमय है तब अतः मन शिव से बाहर कहां जायगा।[2]

धारणा-ध्यान इनका तांत्रिक-योग में उपयोग स्वीकृत है। परन्तु संवित के प्रति इनका भी उपयोग नहीं है। शुद्ध चैतन्य का ज्ञान हो जाने पर बाह्य उपाय व्यर्थ हो जाते हैं।

---

(१) शशि भास्कर संयोगात जीवस्तन्मायना व्रजेत्
अत्र ब्रह्मादयो लीना, मुक्तय मोक्ष कांक्षिणा—
तन्त्रालोक, चतुर्थ आह्निक, पृष्ठ ९६
प्राणायामो न कर्त्तव्य , शरीर येन पीडयते।
रहस्य वेत्ति यो यत्र, स मुक्त स च मोचक ॥
तन्त्रालोक, चतुर्थ, आह्निक, पृष्ठ ९६

(२) यत्र यत्र मनो याति, तत्रतत्रैव धारयेत्।
चलित्वा कुत्र गन्तासि, सर्व शिवमय यत —वही, पृष्ठ १००

इन योगागो का समाधि की अवस्था तक ही उपयोग है। ये पूव से पूव श्रष्ठ है अर्थात् प्राणायाम से ध्यान, उससे प्रत्याहार, उससे तक तथा सबसे श्रेष्ठ समाधि है, क्योकि सवित्, जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि सभी अवस्थाओ मे व्याप्त है, अत यम, नियम आदि साक्षात् रूपेण उसके सहयोगी नही है। परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से अधिकाधिक दृढता के लिए इनका प्रयोग किया जाय तो बुरा नही है। क्योकि केवल द्वैत नाश के लिए ही योगागो का उपयोग है। लिंगादि की पूजा भी इस शाक्त-साधना मे साक्षात रूपेण उपयोगी नही है। जिसका जैसे ध्यान लग जाय, जिसको जिस किसा उपाय से शुद्ध चैतन्य का बोध हो जाय, उसके लिए वही श्रेष्ठ है अत हठयोगादि उपाय प्रत्यक्ष रूप से (directly) सहायक नही है।[१]

विकल्प परामर्श स्वभाव परामश का नाम विकल्प है। यह विकल्प दो प्रकार का है I नैश II स्वच्छ। भेदो के द्वारा तत्व-सधान नैश है और भेदो की सहायता लिए बिना तत्व परामश स्वच्छ विकल्प है। नैश या मायीय विकल्प परामश द्वारा भी अन्त मे अभेद की प्रप्ति होता है। स्नान, अचना, होम ध्यान, जप, चक्र-पूजा आदि मायीय विकल्प मे आते है।

स्नान शीतल, शुद्ध जल से स्नान बाह्य स्नान है। इससे साधना मे कुछ भी सहायता नही मिल सकती हे। तात्रिको का स्नान आतरिक स्नान है। इसे 'भस्म-स्ना' कहते है। तत्व बोध अपने प्रकाश के कारण 'अग्नि' कहलाता है। नील पीत आदि सासारिक बोध ही इधन है, तत्वबोधाग्नि भस्म करती है। इन दोनो के 'सघट्ट' से अवशिष्ट भस्म मे परिमित प्रमाता का स्नान ही स्नान है।[२] बाह्य स्नान हेत्र है। यदि बाह्य जल से मुक्ति होनी तो सारी मछलिया मुक्त हो जातीं।[३]

शैव-शासन मे शुद्धि-अशुद्धि का अथ भिन्न है। शिव एव जगत् मे भेद करने वाली बुद्धि ही अशुद्धि है, अभेद-दर्शिनी बुद्धि शुद्धि है।[४]

(१) तच्च यस्य यथैव स्यात्स तथैव समाचरेत्। वही, पृष्ठ ११४
मध्यकालीन साधना मे इसी को 'सहज याग' कहा गया है।

(२) उल्लासि बोध हुतभुग्दध विश्वेन्धनोपिते।
सितभस्मनि देहस्य मज्जन स्नानमुच्यते—तन्त्रालोक चतुथ आ० पृष्ठ ११६

(३) यदि मुक्तिजलस्नानाद मत्स्याना सा न किं भवेत—वही, पृष्ठ १२०

(४) शिवात्मकेष्वप्येतेषु, बुद्धिर्या व्यतिरेकिणी।
सैवा शुद्धि पराख्याता, शुद्धिस्तद्धीविमर्दनम,—वही, पृष्ठ १२१

पूजा इन्द्रिय विशेष म स्थित मन की जो आह्लाद वृत्ति है, उसे ब्रह्म से जोड देना ही पूजा है।[1] मनुष्य के मन मे भावो का जो समूह उत्पन्न होता रहता है, उसकी चेतना के साथ एकाकारिता ही पूजा है। स्वतन्त्र सवित् ही बाह्य विषयो मे स्फुरित हो रही है, यह अनुभव ही सवस्व है, अन्य भावनाएँ कृत्रिम है।

मन्त्र तत्वज्ञान से मन्त्र स्फुरित होता है। यदि स्फुरित न हो तो किसी सस्फुर आचाय से दीक्षा ले। देवी पूजा (सवित्-भावना) १५ दिन करने वाला साधक, सात दिन करने वाला पुत्रक एव चार दिन करने वाला समयी कहलाता है सामान्यत मन्त्रादि की सिद्धि-कर्ता को 'समयाचारी' कहते है। तत्व ज्ञान के अभाव मे पुस्तक मे लिखित मन्त्र निर्वीर्य है।[2] जो साधक पुस्तक लिखित मन्त्रो को सस्फुर कर देते है उनमे भैरवी सस्कार (तत्व ज्ञान) रहता है। चैतन्य तत्व से रहित मन्त्र निर्वीय है, यह सिद्धान्त अटल है।

तान्त्रिक-साधना मे गोपन के महत्व से सन्तुष्ट नहीं होते अभिनव गुप्त के अनुसार गोपन की आवश्यकता इसलिए है कि अनधिकारी पर हिंसादि दुष्ट कार्यो मे मन्त्रो का प्रयोग कर देते है। दूसरे यदि सिद्धि न मिला तो शास्त्र पर अविश्वास होता है। अत गोपन आवश्यक है।[3]

क्रम-साधना उपर्युक्त-साधना पद्धति मे तत्त्वज्ञान की प्रमुखता है। किन्तु न तो सभी 'अकल्पित सासिद्धिक साधक हो सकते है और न सभी को अकस्मात् ज्ञान ही प्राप्त हो सकता है, अत 'कल्पित गुरु बनने के लिए क्रम क्रम से सिद्धि प्राप्त करनी पडती है। क्रम-साधना मे 'अभिषेक' आवश्यक है। शैव शासक मे गुरु, शास्त्र एव स्वत ये तीन साधन है। स्वत ज्ञान न होने पर गुरु तथा शास्त्र की शरण आवश्यक है। इसके भी भेद हैं। गुरु एव शास्त्र दोनो से सिद्धि मिले, वह साधक समस्त कहलाता है, और यदि अलग ज्ञान प्रत्ययो से सिद्धि हो तो वह साधक 'व्यस्त' साधक कहलाता है। जैसे टङ्क, क्रकच आदि छेदने के साधन अनेक

(१) यत्किचिन्मानसाह्लादि-यत्र क्वापीन्द्रियस्थितौ।
योज्यते ब्रह्म सद्धाम्नि, पूजोपकरण हि तत्—वही, पृष्ठ १२२

(२) लिपिस्थितस्तु यो मन्त्रो निर्वीय सोऽत्र कल्पित —वही, पृष्ठ ७२

(३) तामसा परहिंसादि वश्यापि च चरन्त्यलम्।
न च तत्त्व विदुस्तेन, दोषभाष इति स्फुटम्—वही, पृष्ठ ७३

हाने पर छेदन-काम एक ही होता है, तथैव साधन अनेक होने पर भी 'साध्य' एक ही है।

कलाएँ सवित् (शुद्ध चैतन्य) की १२ कलाएँ होती है। साधना के लिए इनका ज्ञान आवश्यक है। पारमार्थिक सवित्, सृष्टि, स्थिति, सहार और अनाख्य इन चार तत्त्वो के साथ प्रमाता प्रमाण और प्रमेय के रूप मे आभासित होती है। अत ४×३=१२ कलाएँ माना जाती है। सवित् के इस विकास को समझकर ही साधना करनी चाहिए।

साधना का उद्देश्य अमृत तत्त्व की प्राप्ति। पिण्ड मे यह अमृत सूर्य नाडी तथा चन्द्र नाडी के सयोग से उत्पन्न होता है। सूर्याग्नि को पुरुष और चन्द्र नाडी को स्त्री माना गया है। अत जैसे पिण्ड मे पुरुष स्त्री के समागम से अमृत उत्पन्न होना है तथैव सूर्य एव चन्द्र की एकता से अमृत प्राप्त करना ही 'साधना' है।[1] योनि को 'मात्रा' तथा लिंग को कारण कहा गया है। भावो के लय एव आगमन से परम पद की प्राप्ति होती है।[2] विस्तार और प्रलय को तभी प्राकृत रति की उपमा दी जाती है। किन्तु शैव-साधना मे प्राकृत रति केवल प्रतीक या उपमान मात्र नही है, अपितु प्राकृत रति (काम कला) का व्यावहारिक ज्ञान आवश्यक है, क्योकि पिण्ड को समझ लेने पर ब्रह्माण्ड समझ मे आ सकता है। प्राकृत-सृष्टि को समझकर ही अप्राकृत-पारमार्थिक तत्त्व द्वारा की गई सृष्टि का अनुभव हो सकता है। अतएव शैव शासन मे चक्रपूजादि मे पुरुष नारी सम्भोग को इतना अधिक महत्त्व दिया गया है। परन्तु साथ ही यह समागम केवल तत्त्व ज्ञान के रहस्य को समझने के लिए तथा परम-पद पाने के लिए है न कि केवल इद्रियो को तृप्त करने के लिए।

'अमृत' का अर्थ है तत्र मे इस प्रकार जो तत्त्व काल के अधीन नही है वह है 'अमृत' तत्त्व। काल से परे इस तत्त्व को प्राकृत रति के समय अनुभूत किया जाता

---

(१) यथा योनि श्चलिङ्ग च, सयोगात्स्रवतोऽमृतम्।
तथामृताग्नि सयोगाद्, द्रवतस्ते न सशय —
तन्त्रालोक, चतुर्थ आह्निक, पृष्ठ १४०

(२) लिङ्ग-शब्देन विद्वास, सृष्टि सहार कारणम्।
लयादागमनाच्चभावाना पदम व्ययम्—वही, पृष्ठ १४१
तच्चक्र पीडनाद्रात्रौ, ज्योतिर्भात्यक सोमगम्।
ता दृष्ट्वा परमा ज्योत्सना, काल-ज्ञान प्रवर्तते—वही, पृष्ठ १४२

है। तन्त्रो के अनुसार चक्र-पीडन से (समागम मे) सोम एव सूय प्रकाशित होते हैं। पहले कहा है कि शिव तथा शक्ति की रति से ही सोम-सूय-अग्नि का जन्म हुआ है। इस प्रकाशित रति के समय काल का बोध होता है। उधर नाडी योग भी इसके साथ ही संकेतित है, चूकि तत्त्व ज्ञान शैव भावना मे मुख्य है, अत सम्भोग से दुष्ट योग का फल मिलता है, ऐसा विश्वास है। रात्रि (माया) मे जिस समय पुरुष (प्रमाता) प्रमेय (स्त्री) के मिलन से काल का बोध होता है, उसी समय शरीर स्थित नाडियो सूय चन्द्र) का भी मिलन होता है और वीय-क्षरण के समय जब ससार के पदार्थों का ज्ञानप्रसुप्त हो जाने पर पुरुष तन्मय हो जाता है, तब सूय एव चन्द्रमा (इडा पिंगला) के मध्य मे स्थित तत्त्व मे स्थित हो जाता है (सुषुम्ना मार्ग खुल जाता है इस प्रकार 'प्राकृत रति' साधना मे सहायक है, फिर भी वह नहीं, जैसा कि सन्यास प्रधान निषेधवादी सम्प्रदाय समझते है परन्तु ज्ञान हीन सम्भोग वासना पूर्ति मात्र है और पतन का कारण है।

जिस प्रकार प्राकृतरति मे समागमोपरान्त अमृत तत्त्व का स्खलन होता है, वैसे ही नाडी योग सूय (पुरुष) की ऊष्मा मे चन्द्र (स्त्री) नाडी से अमृत (रज) स्रवित होता है जो योगी इस अमृत का पीते है अमरत्व को प्राप्त होते हैं।

अमृत की इस स्रवण क्रिया मे सारी सृष्टि प्रक्रिया छिपी हुई है। सूय (पुरुष) पर प्रमाता है। उसकी स्वातन्त्र्य शक्ति रूपी सोम (स्त्री) बाह्य उन्मुखता के लिए उत्तेजित होता है और विश्वरूपी अमृतधारा को छोडता है यही अमृतरूपी विश्व का सागर है, अत यह सारा विश्व शक्ति (योनि) मे निसृत अमृत तत्त्व है। इसका त्यागकर, विश्व के पदार्थों से वचित रहकर साधना करना मिथ्या-भावना है।[2]

इसी विश्वरूपी अमृत का पान करता हुआ जब साधक 'मैं वह हूँ', "वह मैं ही हू" "यह सब मेरा ही विस्फार है" इस प्रकार पुन पुन परामर्श करते हुए स्वरूप स्थित हो जाता है तब विश्व लय हो जाता है और परमपद प्राप्त हो जाता

---

(१) तत्रस्था मुञ्चते धारा, सोमो हलग्नि प्रदीपित ।

तन्त्रालोक, चतुथ आह्निक, पृष्ठ १४४

(२) यत क्रिया शक्त्यात्मा सोम परप्रमातृ रूपणाग्निना स्वस्वातन्त्र्यात् प्रदीपितो—बाह्यौन्मुखो समुत्तेजित सन् तत्रस्था—विश्वत्र वतमाना—धारा मुञ्चति प्रमातृ, प्रमेयादिरूपत्वे नाविच्छेत्नेन प्रवाहेण—परिस्फुरति येन अयम् इयान्विश्व-स्फार —तन्त्रालोक, चतुथ आह्निक, पृष्ठ १४५

है। और तब साधक 'हस' या 'परमहस' (हस सोऽह की भावना से मुक्त) कहलाता है तब विश्व मे निरगल होकर वह विचरण करता है, सिद्ध हो जाता है।[1]

देवता के रूप 'अनाख्य' तत्त्व (परात्पर ब्रह्म) की चित्शक्ति ही 'परा शक्ति' कहलाती है 'परा शक्ति' ही के अनेक रूप भिन्न भिन्न देवियो देवताओ के रूप है। देवी-देवता मे लिंगभेद तो साधना का प्रपच मात्र है अन्यथा पराशक्ति लिंगादि भेदो से परे है। यही कारण है कि कश्मीरी शैवमत मे देवी उपासना (त्रिपुरा रहस्यादि मे वर्णित) स्वीकृत है। शाक्तमत का कश्मीरी शैवमत से निकटतम सम्बध है। कश्मीरी शैवमत की यही विशेषता है। शैव 'पराशक्ति', त्रिपुरा भैरवी आदि के उपासक है। अत प्रथम उपास्य शक्ति 'पराशक्ति' है। इसकी १२ कलाओ का वणन हम कर चुके है। प्रत्येक तत्त्व मे ये १२ कलाएँ व्यक्त हो रही है। प्रत्येक इद्रिय मे १२ कलाए है (प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण × अनाख्य, सृष्टि, काल, स्वर = १२)। स्वर भी १२ है, आदित्य भी १२ है, मास भी १२ है और कला भी १२ है। इससे 'पराशक्ति' की व्यापकता प्रकट होती है।

काल सकर्षिणी आद्याशक्ति आभासन के लिए उद्यत होती है, इस उद्यतावस्था को 'काल सकर्षिणी' कहते है।

श्री सृष्टि काली—जो शक्ति बाहर की ओर सृष्टि को आसूत्रित करती है—विस्तार देती है वह श्रीसृष्टि-काली कहलाती है। काल का कलन (आकषण विस्तार) करने वाली शक्ति ही 'काली' है। यह देवी जब सृष्टि का विस्तार करती है तो इन्द्रिया अपना काय करने लगती है, भिन्नता का आभास होने लगता है। विषय एव विषयी क्योकि दोनो सवित रूप है, अत मूलत कोई भेद न रहने पर भी ग्राह्य ग्राहक भाव चल पडता है। प्रमाता स्वय प्रमाण के रूप मे बहिमुख होकर विस्तृत हो जाता है, अत विषयो की स्थिति विषयी से है। विषय न रहने पर भी 'विषयी' की सत्ता रहती है। अत 'विषयी' ही मुख्य है। परन्तु बहिमुखता मे विषयी को प्रमेय प्रमाण मे आसक्ति हो जाती है और वह इहे भिन्न

---

(१) तत्पुन पिबति प्रीत्या, हसो हस इति स्फुरन्।
सकृद्यस्य तु सश्रुत्या, पुण्यपापैन लिप्यते—वही, पृष्ठ १४८

मानना है। संवित् का यह स्वरूप ही 'रक्त-काली' है। यह देवी इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं है, यह निर्गुण एवं निराकार तत्त्व का नाम है[1]।

स्थिति-नाश काली संवित् ही सृष्टि का आत्मसात् करती है। अतः प्रलयावस्था के लिए उद्यत देवी का रूप 'यमकाली' कहलाता है। विश्व का सृजन और भोग करने के बाद 'यह मैंने जान लिया, यह मैं भोग चुका' यह वृत्ति उत्पन्न होती है, अतः संवित् सृष्टि को आत्मसात् करने के लिए उद्यत हो जाती है।

यम-काली, संहार-काली 'संहार' की इच्छा पूर्ण हो जाने पर यानी विश्व के सम्बन्ध में 'यह मैंने जान लिया' ऐसा ज्ञान होने के पश्चात् पूर्ण उदासीनता जागृत होने के पश्चात 'यमकाली' की स्थिति उत्पन्न होती है। विश्व का नाश (साधक के मन से) हो जाने पर भी परिमित प्रमाता (संकुचित चेतना) की स्थिति रहती है अर्थात् मन में यह भाव उठते रहते हैं—'यह नाश है, यह अकाम है'। इस प्रकार की नियतावस्था को उत्पन्न करने वाली संवित् का रूप यम-काली कहलाता है, क्योंकि विकल्प को ही 'यम' कहते हैं। यह शास्त्र में संदेह उत्पन्न कर देती है, स्वानुभव को स्थिर नहीं रहने देती तथा साथ ही दूसरी ओर निर्विकल्पक स्थिति में भी विद्यमान रहती है। इसका प्रमाण यह है कि 'विकल्प एवं विकल्प-नाश' की स्थिति सबके मन में चला करती है। संकोच तथा विकास साथ-साथ चलता है। संकोच एवं विकास में अनियत रहने में ही यह यम-काली है। इस स्थिति का उदाहरण मूत्रकाल में रासभी की संकुचित व विकसित होती हुई योनि है[2]।

संहार काली उपर्युक्त विधि निषेध, संकोच-विकास में अनियत वृत्ति का जो आत्म ज्वाला से संहार करती है वही 'संहार काली' है।[3]

---

(१) तथाभासितवस्त्वंश रञ्जना सा बहिर्मुखी
स्ववृत्ति चक्रेण समं, ततोऽपि कलयत्यलम्
स्थिति रेषैव भावस्य तंत्रालोक—चतुर्थ अ० पृष्ठ १५८-१ ०
न चैत्वा चक्षुषा ग्राह्या, न च सर्वेन्द्रियस्त्विना
निर्गुणा निरहंकारा, रञ्जयेद्विश्वमडलम्
सा कला तु यदुत्पन्ना सा ज्ञेया रक्त कालिका—

(२) रासभ्या मूत्रकाले तु योनि प्रस्पन्दते यथा—
तन्त्रालोक, चतुर्थ आह्निक, पृष्ठ १६५

(३) यमरूप स्वरूपस्था, रूप नीतस्वरूपगा।
सा कला लीयते यास्या यमकाली तु सा स्मृता—वही, पृष्ठ १६५

मातृण्डकाली सहार का भोग इन्द्रियो से होना है। ये वस्तुओ को अह मे लीन करती है, अत इन्हे सूय कहा गया है। सवित् स्वम अपनी शक्ति से द्वादश इन्द्रिय रूप मातण्डमडल का कृत्रिम अह मे विस्तार करती है। अत इसे 'मातण्ड काली' कहा गया है।

परमार्क काली जो भोग के द्वारा विश्व को आत्मसात करता है, वह 'रुद्र' कहलाता है।[1] रुद्र एव अग्नि भोक्ता भी कहलाती है। 'कालाग्नि रुद्र' की स्थिति मे भोक्ता अह, रूप आदि भेद से युक्त करता है। इस अहकार ग्रस्त स्थिति को परमाक काली कहा गया है।

कालाग्नि रुद्र काली अह इदम् से युक्त प्रमाता अर्थात् कालाग्नि रुद्र जब महाकाल मे लीन हो जाता है, तब उसे कालाग्नि रुद्र 'काली' कहते है। इस प्रकार कालाग्नि रुद्र शब्द से कथित साधक जब मुक्त हो जाता है—यह सब मेरा ही बैभव है, ऐसी अनुभूति होने लगती है, इस स्थिति मे सवित् साधक के परिमित अह का चवण कर लेती है।

अत 'महाकाल' का भी कलन[2] कर डालती है। इसीलिए इसे 'महाकाली' कहा गया है। यही अतिम स्थिति है और 'महाकाल' से भी ऊच्चनर स्थिति है। **अत देवियो के नाम वस्तुत विभिन्न मानसिक स्थितियो और अनुभवो के नाम है। बौद्धो ने भी मानसिक स्थितियो का ही मानवीकरण देवताओ के रूप मे किया है।** अत साधक का कत्तव्य यह है कि वाह्य देवता के नाम रूपादि को अतिम न मानकर देवता द्वारा सकेतित उन उन मानसिक स्थितियो की प्राप्त करने का प्रयत्न करे, क्रमश इन चेतना के सोपानो पर ऊपर चढता हुआ साधक 'काली तत्व' या पराशक्ति या त्रिपुरा को प्राप्त कर सकता है। इस स्थिति को 'महाभैरव-चण्ड उग्र घोर काली' भी कहा गया हे, क्योकि महा-भैरव प्रमाता है, चण्ड ही प्रमेय है, उग्र ही प्रमा है, और घोर ही प्रमाण है। इन सबका नाश हो जाने से ही तत्व की प्राप्त होनी है।

---

(१) भोगेन स्वात्मसात्करोति इति रुद्र —वहा, पृष्ठ १८१

(२) कलन के अनेक अर्थ है—भेदन, भदित का विकल्प न होना, आत्म-परामश, गति और विकल्प इन पाँच को 'कलन' कहते है—तन्त्रालोक, चतुर्थ आह्निक, पृष्ठ २०४

जागृतावर ा के ्नुभ्वा स लेकर नाव्य न्व नम् मायक का जनर नु-भव होते है, इही अनुभवो को नाम रूप दे देकर देविया की कल्पन। कर ल। र्ग है। अत हम मनोवैज्ञानिक पद्धति से चेतना का क्रमश उन्नयन करने म विश्वास करती ह। नभी शाक्तोपाय को हम 'क्रम-सावना' कह सक्ने ह। भेद और अभेद सकोच और विकास विकल्प और अविकल्प इन सदेहा से क्रमश यह क्रम माधना हमारा उद्धार करनी हे।

चेतना के अनक स्तरा को नाम रूप देकर देवियो-देवनाओ के वणन मे दुहरा लाभ हे। प्रथम तो देवि देवतादि की प्राप्ति साधन के समय क्रमा नत्वनान क द्वारा हो सकती है, क्योकि विभिन्न माधको ने जो जो वास्तविक अनुभव किये ह, उन्ही अनुभवा का वाद मे मानवीकरण किया गया है। अन देविय की सत्ता है, वे मिथ्या नही है। इस कथन का अर्थ यह है कि देवी के नाम मे सकेतित अनु भव-विशेष कोरी मन की उडान मात्र नही है वह कल्पना से भिन्न चेतना का साक्षात् अनुभव है। अत देविया सत्य हैं। पारमार्थिक दृष्टिकोण से ये सारे अनु भव एक ही चेतन सागर मे उठने मिटने वाले बुद्बुदा के समान हैं, अन उनमे एक सूत्रता और एकना है। देवियो के नाम, रूप व शक्ति के वणन से सामान्य जनना जनता को बडी सुविधा से आर्कषित किया जा सकना है दूसरे सावक प्रराम्भिक स्थिति मे देवियो-देवनाओ पर ध्यान केन्द्रित कर उनके वास्तविक रूप को समझ कर उनके द्वारा सकेतित अनुभव विशेष को पा सक्ता है। यही देवी का साक्षात्कार है।

पूजा यद्यपि शक्ति एक है नथापि अभिव्यक्ति होने पर उनके अनेक रूप हो जाते हैं। जिसे मूलसत्ता का ज्ञान होना है, उसे न क्रम-सावना की आवश्यकना है न पूजा पाठादि क। परन्तु मूलसत्ता का ज्ञान जिहे नही होना, उन्हे देवी के नामरूपादि की पूजा करनी पडती है। किन्तु इस पूजा मे भी देवी का वास्तविक रूप जानना आवश्यक है, जान लेने के बाद ही अनुभव हो सकना है, अयथा कभी भी सिद्धि नही मिल सकती। अन पूजा का अथ है—सविद् का आश्रय ग्रहण करना। जिस प्रकार यह अवष्टम्भ प्राप्त हो जाय बस वही पूजा है।[1]

---

(१) तदस्या सविदो देव्या, यत्रक्वापि प्रवननम्।
तत्र तादात्म्ययोगेन, पूजा पूर्णैव वतते—
तन्त्रालोक, चतुथ आह्निक, पृष्ठ २१०

मत्र मत्र एव सवित् मे अतर नही है। सवित् परामश से स्त्री स्वत ध्वनि स्फुरित होती है, वह सदा अप्रतिहतरूप से चलती रहती है, उसका उच्चारण नहीं होता। यही जप है। देवता स्वय जीव के हृदय मे स्थित होकर उच्चरित होना रहता है[1]। इसी 'अनवरत ध्वनि' को परम हृदय कहा गया है। हृदय का अथ है 'तथ्य-रूपक' = परमसार। इसी हृदय (ध्वनि) को स्पन्द शास्त्र मे 'स्पन्द' कहा गया है। आत्मा (सवित्) का उच्छलन ही स्पन्द है। यही परावाक् है। अत मत्र का स्वत जाप चलता है। इस अनुभव के अभाव मे कर मे माला लेकर मत्र का कोलाहल व्यथ है। इस ज्ञान से योगी जो कुछ कहता है, जप हो जाता है।

ध्यान फल की आकाक्षा करने वाले 'साकार' का ध्यान करते हैं, किन्तु यह गौणध्यान है, मुख्य तो निराकार ज्ञान ही है। फलार्थियो की इच्छा पूर्ण करने के लिए शक्ति के अनेक रूप वर्णित है। धन के लिए 'लक्ष्मी' की और 'रक्षा के लिए 'दशभुज' देवी की उपासना की जाती है। परन्तु घट भेद से जल मे भेद नही होता, परन्तु घट स्थित जल के परिमाण, गुणादि मे अन्तर आ जाता है, इसी प्रकार देवियो के भिन्न भिन्न रूप है।

मुद्रा जब साधक का परमेश्वर से एक त्म्य होता है तो एक प्रकार का शरीर मे तनाव उत्पन्न होता है, इससे शरीर मे विभिन्न आकृतिया एव चेष्टाएँ उत्पन्न हो जाती है, यही 'मुद्रा' है। यथा अगुलियो की विशेष आकृतिया हो जाती हैं, कभी कभी हाथ उठ जाता है, कभी मुख की चेष्टा कुछ और हो जाती है। यही मुद्राए है। पराशक्ति की मदिरा से मत्त शरीर मे जो उत्थान आदि चेष्टाएँ उत्पन्न हो जाती है, वे मुद्राए है।[2]

(१) नास्योच्चारयिता कश्चित् प्रतिहन्ता न विद्यते।
स्वयमुच्चरते देव, प्राणिनामुरसि स्थित —वही, पृष्ठ २११
भूयोभूय परेभावे, भावचते हि या।
जप सोऽत्र स्वय नादो, मन्त्यात्मा जप्यईदश —
स्वच्छन्दतत्र पुस्तक १, पृष्ठ ७७

(२) कुले योगिनि उद्रिक्त भैरवीयपरासवात्
घूर्णितस्य स्थितिर्देहे, मुद्रा या काचिदेव सा—वही, पृष्ठ २३१

होम तत्त्व बोध की अग्नि मे सत इद्रियो की लपट निकलती हैं, इसम भाव-वग की हवि देना ही होम है।

दीक्षा भगवान के अनुग्रह का शक्तिपात कहते है, शिव साधक मे शक्ति को जाग्रत कर देते है, यही शक्ति पात है। इस शक्तिपात से प्राप्तव्य पवित्रता ही 'दीक्षा' है। दीक्षित व्यक्ति वही जिसम दूसरो मे शक्ति जाग्रत कर देने की शक्ति है।

शक्तिसाधना या वामाचार

बाह्य साधक केवल द्वैतनाश के लिए है। जिस प्रकार प्रतिबिम्ब देखकर एकात्म्य उत्पन्न होता है, तथैव चित्स्वरूपी मुकुर मे—ध्यान, पूजा अर्चना मे अपने प्रतिबिम्ब को देखकर भैरव तन्मय हो जाता है। इस तन्मयता से अनुत्तरता की प्राप्ति होती है। पराकाष्ठा को ही अनुत्तरता कहते है। इस स्थिति को प्राप्त कर लेने पर साधक विधि निषेध से ऊपर उठ जाता है।[1] इसीलिए कौलमाग श्रेष्ठ है। केवल लोक-व्यवहार की रक्षा के लिए आचार विचार का पालन आवश्यक है। आन्तरिकरूप से कौलमाग, बाह्य रूप मे शैवमाग तथा लोकाचार वैदिक आचार मानना चाहिए।

> अन्त कौलो बहि शैवो, लोकाचारे तु वैदिक
> सारमादाय तिष्ठेन, नारिकेलफल यथा।[2]

अत ससार मे नारिकेल फल के समान वाह्यरूप से वैष्णवादि आचारो का पालन करना चाहिए और आतरिकरूप से वाम-साधना करनी चाहिए।

आकठ मद्य का पान का करना चाहिए।[3] अर्थात् पञ्चकार माम, मुद्रा, मदिरा, मैथुन, मत्स्य का सेवन हो पञ्चमकारोपासना है। न तो अन्य शास्त्र के देवताओ का ध्यान करे, न विधि निषेध को स्वीकार करे, शिव रूप होकर विचरण करे, यही वाम साधना है। यही अभेद उपासना है। भेद उपासना, वेद वैष्णव

---

(१) महाशून्यालये वह्नौ, भूताक्षविषयादिकम्
हूयते मनसा सार्व, स होम स्रुक चेतना।
स्वच्छन्द तत्र—पुस्तक १, पृष्ठ ८७

(२) वही, पृष्ठ २७८

(३) आकठन पिवेन्मद्यम्—वही, पृष्ठ २८८

मत्र मत्र एव सवित् मे अतर नही है। सवित् परामश से स्त्री स्वत ध्वनि स्फुरित होती है, वह सदा अप्रतिहतरूप से चलती रहती हे, उसका उच्चारण नहीं होता। यही जप है। देवता स्वय जीव के हृदय मे स्थित होकर उच्चरित होता रहता है[1]। इसी 'अनवरत ध्वनि' को परम हृदय कहा गया हे। हृदय का अथ है 'तथ्य-रूपक' = परमसार। इसी हृदय (ध्वनि) को स्पन्द शास्त्र मे 'स्पन्द' कहा गया है। आत्मा (सवित्) का उच्छलन ही स्पन्द है। यही परावाक् है। अत मत्र का स्वत जाप चलता है। इस अनुभव के अभाव मे कर मे माला लेकर मत्र का कोलाहल व्यथ है। इस ज्ञान से योगी जो कुछ कहता है, जप हो जाता है।

ध्यान फल की आकाक्षा करने वाले 'साकार' का ध्यान करते हैं, किन्तु यह गौणध्यान है, मुख्य तो निराकार ज्ञान ही है। फलार्थियो की इच्छा पूण करने के लिए शक्ति के अनेक रूप वर्णित है। धन के लिए 'लक्ष्मी' की और 'रक्षा' के लिए 'दशभुज' देवी की उपासना की जाती हे। पर तु घट-भेद से जल मे भेद नही होता, पर तु घट स्थित जल के परिमाण, गुणादि मे अन्तर आ जाता है, इसी प्रकार देवियो के भिन्न भिन्न रूप है।

मुद्रा जब साधक का परमेश्वर से एक त्म्य होता हे तो एक प्रकार का शरार मे तनाव उत्पन्न होता है, इससे शरीर मे विभिन्न आकृतिया एव चेष्टाएँ उत्पन्न हो जाता है, यही 'मुद्रा' है। यथा अगुलियो की विशेष आकृतिया हो जाती हैं, कभी कभी हाथ उठ जाता है, कभी मुख की चेष्टा कुछ और हो जाती है। यही मुद्राए है। पराशक्ति की मदिरा से मत्त शरीर मे जो उत्थान आदि चेष्टाएँ उत्पन्न हो जाती है, वे मुद्राए है।[2]

(१) नास्योच्चारयिता कश्चित् प्रतिहन्ता न विद्यते।
स्वयमुच्चरते देव , प्राणिनामुरसि स्थित —वही, पृष्ठ २११
भूयोभूय परेभावे, भावचते हि या।
जप सोऽत्र स्वय नादो, मन्यात्मा जप्यईदश —
स्वच्छन्दतत्र पुस्तक १, पृष्ठ ७७

(२) कुले योगिनि उद्रिक्त भैरवीयपरासवात्
घूर्णितस्य स्थितिर्दहे, मुद्रा या काचिदेव सा—वही, पृष्ठ २३१

होम तत्त्व बोध की अग्नि मे सत इद्रिया की लपटे निकलती ह, इसम भाव-वग की हवि देना ही होम है।

दीया भगवान के अनुग्रह का शक्तिपात कहते ह, शिव साधक म शक्ति को जाग्रत कर देते हे, यही शक्ति पात हैं। इस शक्तिपात स प्राप्तव्य पवित्रता ही 'दीक्षा' है। दीक्षित व्यक्ति वही जिसम दूसरो मे शक्ति जाग्रत कर देने की शक्ति है।

शक्तिसाधना या वामाचार

बाह्य साधक केवल द्वैतनाश के लिए है। जिस प्रकार प्रतिबिम्ब देखकर एकात्म्य उत्पन्न होता हैं, तथैव विकल्परूपी मुकुर पर—ध्यान, पूजा, अर्चना म अपने प्रतिबिम्ब का देखकर भैरव तन्मय हो जाता है। इस तन्मयता स अनुत्तरता की प्राप्ति होती हैं। पराकाष्ठा को ही अनुत्तरता कहते है। इस स्थिति को प्राप्त कर लेने पर साधक विधि निषेध से ऊपर उठ जाता है।[1] इसीलिए कौलमार्ग श्रेष्ठ है। केवल लोक-व्यवहार की रक्षा के लिए आचार विचार का पालन आवश्यक है। आन्तरिकरूप से कौलमार्ग, बाह्य रूप म शैवमार्ग तथा लोकाचार वैदिक आचार मानना चाहिए।

> अन्त कौलो बहि शैवो, लोकाचारे तु वैदिक
> सारमादाय तिष्ठेत, नारिकेलफल यथा।[2]

अत ससार मे नारिकेल फल के समान बाह्यरूप स वैष्णवादि आचारो का पालन करना चाहिए और आतरिकरूप से वाम साधना करनी चाहिए।

आकठ मद्य का पान का करना चाहिए।[3] अर्थात् पञ्चकार मास, मुद्रा, मदिरा, मैथुन, मत्स्य का सेवन ही पञ्चमकारोपासना है। न तो अन्य शास्त्र के देवताओ का ध्यान करे, न विधि निषेध को स्वीकार करे, शिव रूप होकर विचरण करे, यही वाम साधना है। यही अभेद उपासना है। भेद उपासना, वेद-वैष्णव

---

(१) महाशून्यालये वह्नौ भूताक्षविषयादिकम्
हूयते मनसा साध, स होम स्रुक चेतना।
स्वच्छन्द तंत्र—पुस्तक १, पृष्ठ ८७

(२) वही, पृष्ठ २७८

(३) आकठन पिवेन्मद्यम्—वही, पृष्ठ २७८

आदि केवल पशुओ के लिए है। पाश (कचुक) से बद्ध जीव पशु है। अत 'पाशव ज्ञान' को छोडकर उस 'पति (शिव) शास्त्र' का सेवन करना चाहिए। इस पति शास्त्र मे सिद्ध हो जाने पर भी विषय रस का त्याग नही है। क्योकि जहा जहा इन्द्रिया आसक्त होती है, उन सब वस्तुओ मे शिव का प्रकाश है।[1] शिव का ज्ञान हो जाने पर विषय वासना की पूर्ति करते हुए अयत्न से (सहज) सुख पूवक परम पद प्राप्त हो जाता है, क्योकि तादात्म्य ज्ञान ही सारे कष्ट प्रद साधनो का उद्देश्य है।[2]

इस सहज, यत्न रहित, अभेद प्रधान साधना का आनद सभी नही ले सकते। शिव के तीव्र शक्तिपात के बिना साधक अधिकारी नही बनता। केतकी के पुष्प का रस केवल भ्रमर ले सकते है, मक्खिया नही।[3] इस माग मे भव का आडम्बर नहीं है, ग्रीष्म मे हिम के समान स्वप्न नष्ट हो जाता है। न यहा घृणा दम्भ है न लज्जा, न सकोच, साधक शिव रूप हो जाता है। 'साम्य' की उच्चतम स्थिति यही है—

समता सवभावाना, वृत्तीना चैव सवथ ।
समता सवदृष्टीना, द्रव्याणा चैव सवश [4]

सारे पदार्थो मे, सारी मानसिक वृत्तियो मे, सव शास्त्रो और सम्प्रदायो मे, सवभावो मे पूण समता भाव कौल माग की विशेषता है, क्योकि बिना समता के साधक है निद्वन्द्व हो नही सकता।

कौल माग के अनुसार शब्दादि विषयो मे पतित होकर स्व स्व विषय का भोग करके इद्रियो का चैतन्य मे लय होता है। सावमौम सम्राट् जैसे अन्य राष्ट्रो का भी शासक होता है तथैव अन्य सहायक राजाओ की भाति अनेक वृत्तियो का विलय एक ही चैतन्य मे होता है, अत इद्रियो की तृप्ति आवश्यक है क्योकि वे चैतन्य मे बाधक नही है, वे अज्ञान के कारण ही बधन बनती है, ज्ञान होने पर इद्रियो स्व-स्व विषयो का भोग करती हुइ चेतना को सतुष्ट करती है। अत स्व

(१) यत्र यत्र मिलिता मरीचयस्तत्रतत्र विभुरेव जृम्भते। पृष्ठ २८८
(२) तत्रालोक, चतुथ आह्निक, पृ० २८९
(३) वही, पृष्ठ ३०५ (४) वही, पृष्ठ ३०५

रूप स्थिति और भोग दोनो एकही समय म सम्भव ह, दोना म विरोध नही है, जैसा कि सन्याम-प्रधान माग समझते है। अत इन्द्रिया जह जह ल जाय वह-वही मन को स्थिर करना चाहिए क्योकि सब शिवमय है, इन्द्रिया चैतन्य के बाहर जा ही नही सकती। स्थिरता बढन पर मन वश मे होता जाता है और क्रमश चेतना का सस्कार होता चलता है, अन्त म वह कौल सि नि ा जाती है, जब भोग एव योग दोनो साथ साथ चलते है। भोग द्वारा योग ही शैव शासन की विशेषता है। जिस भोग से बधन होता है, वही मोक्ष का साधन बनता है।[1]

समना एव उन्मना अवस्थाएँ वस्तुत शिव की सात मूर्तिया या शिव प्राप्ति की सात भूमिओ मे से दो भूमिया के नाम है। सात मूर्तिया ये है—क्षेप आक्रमण (आक्रान्ति) चित्बोध, दीपन, स्थापन, सवित्ति (सवित्-साक्षात्कार) तथा तदापत्ति (शिव के साथ तादात्म्य) इनमे 'स्थापन' को व्यापिनी' सवित्ति को समना' तथा तदापत्ति को 'उन्मनावस्था' कहते है। इनका विवरण इस प्रकार है।

क्रम साधना प्राणयोग उपर्युक्त साधना की सारी विधियो मे 'ध्यान' की प्रधानता है इसका अथ यह नही है कि, प्राण-योग म ध्यान का महत्त्व नही है। परन्तु प्राण-वायु का शासन प्रधान होने से इसे प्राण-योग कहा गया है। कौल-स्थिति की प्राप्ति के लिए प्राण-योग का महत्त्व कम नही है।

पिण्ड (शरीर) मे प्राण का नियक प्रवाह चल रहा है। नाडिया तो अनेक (७२ सहस्र) है परन्तु उनमे तीन मुख्य हैं। इडा पिंगला और सुपुम्णा। समान्यत इडा, पिंगलादि नाडियो मे प्राण प्रवाह चलता है, परन्तु सुषुम्णा के नीचे के भाग को शक्ति (कुडलिनी) साढे तीन वलय मे लपट कर पडी हुइ है, जैसे दण्ड प्रहार से सप सीधा हो जाता है उसी प्रकार गुरु द्वारा ज्ञान का उदय होता है।[2]

ब्रह्मरन्ध्र के नीचे एक चौराहा है, इसे शैव 'चितामणि' कहते हैं। उसके ऊपर 'सुधाधार' नामक स्थान है, इसे 'सौध' कहते हैं। प्राण वायु को मध्यमभाग (सुषुमणा) मे प्रविष्ट कर इस स्थान तक पहुचना होता है। 'सौध' स्थान का भी

---

(१) येन येन निबध्यन्ते जन्तवोरौद्र कमणा।
सोपायेन तेनैव मुच्यते भवबन्धनात्

तन्त्रालोक, जिल्द ३ पचम आह्निक, पृष्ठ ३३८

(२) द्रष्टव्य—तन्त्रालोक पचम आह्निक पृष्ठ ३६०

मिथूल (इच्छा, ज्ञान, क्रिया का सघट्ट) के द्वारा अति क्रमण कर 'समना' नामक स्थान तक जाय।[२] यह 'सुदर' हे इसके भी ऊपर 'उन्मना' नामक स्थान है। इसे ही प्राप्त करके योगी पूण होता है। प्राणुवायु को वश मे करके क्रम-क्रम से चितामणि, सौव, समना का अनिक्रमण कर यह स्थान प्राप्त होना है। यहा ही आत्मा बैठा सहज उच्छलन का प्राप्त होता है। यही उच्छलन स्पन्द है योगी यहा पहुच कर 'स्पन्ददशाशायी' कहलाता हे, इसी को 'मत्स्योदरदशा' कहते है, क्योकि चैतय के उच्छलन का सार (उदर) यही है।[३]

---

(२) शिव का बहिउल्लास ही 'क्षेप' है। इससे उद्बोव होता है जिसे 'दीपक' भी कहते है। बहिउल्लास मय विश्व का क्रोडीकरण या अतराक्रमण ही 'आक्रान्त' हे। इस अवस्था मे 'यह है' इस प्रकार का इदता भाव अह मे निमज्जित हो जाता हे और चिद्बोध हो जाता हे। चैतन्य की यह उद्रेकावस्था 'व्यापिनी' कहलाती हे यह अवस्था समना एव उन्मनावस्था मे पुन परिणत होती है। चैतन्य उद्रिक्त हो कर इदना के निमज्जन के बाद जब स्थिर हो जाता है, तब वह स्थिरअवस्था ही व्यापिनी है, किन्तु इसमे चैतन्य का कुछ ही उद्रेक होता है, समनापद मे तत्त्व का साक्षात्कार होता है। परन्तु तादात्म्य तो केवल उन्मनावस्था मे ही होना हे—

इनि च उत्त्या बहिरुल्लसितस्य विश्वस्य अन्तराक्रमणमेवरूपम् इति आक्रान्निरिति। एवमपि इदन्तानिमज्जनादहन्तोन्मज्जनात्मनि नादे तेप्रमातृरूपायां सविद एव प्रबोव इनिचित् बोव इनि। एव बुद्धाया सविद शक्तिदशायामुद्रेक, व्यापिन्या कथञ्चिदुद्रेकेऽपि तथैव अवस्थान, यावद्योगिना समनापदे तत्साक्षात्कार। उन्मनाभूमौ च तदैकात्म्यमित्येव मुक्तम्। एतावनीनि उन्ननैकात्म्यापत्तिपयन्ता। (तन्त्रालोक, जिल्द १२ आह्निक ३०) पृष्ठ १८०

'क्षेप' को विन्दु तथा आक्रान्ति को 'नाद' भी कहा गया है। चित् बोध को 'परावस्था' एव 'दीपन को 'शक्ति कहा है। शक्ति उद्रिक्त होकर स्थिर होनी है, तब व्यापिनी और सवित् के साक्षात्कार को समना तथा तादात्म्य को उन्मावस्था कहते है। इस प्रकार—क्षेप, आक्रमण, चिद् बोध, दीपन, स्थापन, सवित्ति और तदापत्ति ये शिव की सप्त मूर्तिया है। तन्त्रालाक ३० आह्निक, वही,

(३) तत्रोर्ध्वकुण्डली भूमौ—स्पन्दनादर सुदर।
विसगस्तत्र विश्राम्येन्मत्स्योदर दशा जुषि नत्रालोक पचम आह्निक, पृष्ठ ३६१

मूत्रविसपनान्त मे जिस प्रकार 'रासभी' यानि का मकोच विकास करके तृप्त होती है उसी प्रकार इस दशा मे वृत्तियो का मृष्टि व महार चला करता है और योगी स्वरूपस्थ रहता है। जैसे समुद्र मे लहरे उत्पन्न और नष्ट होती रहती है और समुद्र अपने मे मग्न रहता है, वैसी ही दशा योगी की चेतना की होती है।

इस अवस्था को साधारण मनुष्य केवल शृगारिक भाषा म ही समझ सकता है। नाडी युगल (इडा पिंगला) ही यानि है रमणी की इच्छा मे उन्मुखता ही स्पन्दन है। विसग की इच्छा या वीज को ही चरम-धातु कहा गया है। 'सौध' वह स्थान है जहा रति होती है। और तृप्ति ही सम्भोग-समय का सुख है।[1]

यह शृङ्गार वणन केवल रूपक नही है, अपितु 'उन्मनावस्था' की प्राप्ति के लिए सम्भोग आवश्यक है क्योकि इस समय होने वाला अनुभव ही योग की अवस्थाओ मे प्राप्त अनुभव के सदृश होता है। यहा तक कहा गया है कि यदि साधना के लिए नारी न मिल सके तो केवल 'रति-स्मरण' द्वारा ही योगज अनुभवो की ओर बढना चाहिए। स्त्री सुख ब्रह्मानन्द का ही व्यजक है[2] अत प्राकृतरति ब्रह्मानन्द की निमित्त बनती है।

यदि यह कहा जाय कि सारे उपायो मे शक्ति क्षोभ को ही क्या इतना महत्व दिया गया है ? तो इसका उत्तर यह है कि सोम (नारी) सूय (पुरुष) ही प्रमेय व प्रमाता हैं तथा इन्द्रिया कलाए हैं। कला-जाल के परस्पर सघष से, विसगानन्द उत्पन्न होता है और जब चरमधातु (वीय) का क्षरण होता है, तब पूण तदात्म्य की अवस्था उदित होती है यह तदात्म्य शुद्ध चैतन्य का व्यक्त करता है, वीय-क्षरण के समय साधक ससार के सारे ज्ञान को भूलकर केन्द्रस्थ हो

---

(१) शाक्त क्षोभे कुलावेशे, सवनाडयग्रगाचरे ।
व्याप्तौ सवात्मसकोचे, हृदय प्रविशेत्सुधी —वही,
शक्ति-सगम सक्षुब्ध शक्त्यावेशावसानिकम् ।
यत्सुख ब्रह्मतत्त्वस्य, तत्सुख स्ववाक्यमुच्यत। वही,पृष्ठ ३०७ ३०८

(२) लेहनमन्थना कोटै , स्त्री सुखयस्यभरात् स्मृते ।
शक्त्यभावेऽपि, दवेशि, स्वेदानन्द सप्लव —
तन्त्रालोक पचम आह्निक, पृष्ठ ३७८

अथात शक्ति (साधना मे सहायक स्त्री) के आभाव मे, लेहन मथन आदि स्त्री सुख की स्मृति से भी तादात्म्य प्राप्त होता है।

जाता हे अत यह अनुभव ब्रह्मानन्द का निमित्त है, जैसे इस इस सामरस्य से नारी वश मे हो जाती हे, उसका हृदय विजित होता हे, वैसे ही इस अनुत्तर योग से योगिनी (शक्ति) का हृदय विजित हो जाता हे, ब्रह्माण्ड स्थित सारी शक्ति योगी की इच्छानुसार कार्य करने लगती हे। यह मार्ग रहस्यमय है, इसका पूण उद्घाटन गुरु की देख रेख मे ही सम्भव है।[1] ज्ञान की प्रधानता होने पर ही गुप्त रति क्रिया ब्रह्मानन्द मे निमित्त बन सकती है, अन्यथा पतन का माग खुल जाता है। जो भोगी गुप्त रति काल मे प्रिया कठ का नाद नही सुनाता, वह सृष्टि मे व्याप्त 'नाद की प्राप्ति नही कर सकता। परन्तु ज्ञान द्वारा गुप्त रति क्रिया द्वारा योगी व्यापक नाद (अनहद नाद) को सुनता है, तत्पश्चात् वह 'विन्दु' अवस्था को प्राप्त हो जाता है, पूण ज्ञान की अवस्था यही है।

उन्मनावस्था के परे भी उच्चतर अवस्था है, यहा सकोच-विकास नही होना तथापि योगी को सृष्टि का आभास होता है।[2] क्योकि योगी की दृष्टि तत्व के साथ एकाकार होकर अतमुखी रहती है और सासारिक काय उसकी बाह्य इन्द्रिया करती रहती है[3]। अत घट पटादि के ज्ञान के समय दृष्टि अतरस्थ भी रहती है और बाह्य पदार्थों का ज्ञान भी होना रहता है। इसे 'भैरव मुद्रा' कहा जाता है। गोपनीय होने से इसे 'खस्थ' या 'गगनोपम' अवस्था भी कहते है।

ख ख त्यक्त्वा खमारुह्य, खस्थ ख चोच्चरेदिति।

खमध्यास्याधिकारेण, पदस्थाश्चिन्मरीचय —[4]

अर्थात् मध्य नाडी मे स्थित होकर ख ख प्रमाण प्रमेय को छोड कर ख अर्थात् तुर्यातीत अवस्था को प्राप्त करना ही योगी का लक्ष्य है। इस अवस्था की प्राप्ति इन्द्रिय वृत्तियो (मरीचय) की बाह्य उन्मुखता के अभाव द्वारा होती है।

---

(१) अल रहस्य कथया, गुप्तमेतत्स्वभावन
योगिनी हृदय तत्र, विश्रान्त स्यात्कृती बुध —वही, पृष्ठ ३८१

(२) असकोच विकासोऽपि, तदाभासन स्तथा—वही, पृष्ट ३८९

(३) अतलक्ष्यो बहिर्दृष्टि, परम पदश्नुते— वही, पृष्ठ ३८९

(४) वही पृष्ठ ३९८

इस अवस्था मे कम से कम १० स्तर यागियां न ल्दय किय ह । ९ प्रका म इस प्राप्त किया जाता है, अत नवधा माग शैव शामन भी स्वाकार करना ह ।[1]

इस प्रकार शाक्त-उपाय मे 'क्रम-साधना' स्वीकृत हे । मन्त्र जप, मुद्रा, प्राणायाम, अर्चना, देवोपासना आदि सभी क्रियाओ म 'भावना' का महत्व शाक्तोपाय की विशेषता है । भावना या तत्व का परामर्श शाम्भव अवस्था म अपेक्षित नही है, क्योकि तीव्र शक्तिपात के प्रभाव म अप्रतिहत तत्व परामर्श करते हुए ही भावना फल देती है । शाम्भव उपाय म अकस्मात् भी तत्व स्थिति हो जाती है, अत उसमे स्वय साधना भी अपेक्षित नही हे । परन्तु शाक्त-साधना मे क्रम क्रम से विकल्प का नाश किया जाता हे ।

इन्द्रिय, मन, चित्त और बुद्धि का नाश शाक्त-साधना म नही किया जाता इन्हे साधना म सहायक बनाया जाता ह, यही शाक्त-साधना की विशेषता हे । अभिनव गुप्त ने लिखा है कि मन एव बुद्धि के विना ज्ञान का अधिगम असम्भव है । इन्द्रिय, मन, आदि तब अध पतन के कारण बनते हैं, जब विवेक मे ये सयुक्त नही रहते । इन्द्रिय वासना एव मन वासना नाशक है, विवेक अर्थात् स्वपरामर्श जाग्रत होने पर ये स्वर के तिरस्कार से ज्ञान को ही जन्म देते हैं । अत 'शाक्त तत्व' का अर्थ है मन एव बुद्धि की वासना का त्याग कर, मन एव बुद्धि को परम ज्ञान का कारण बनाना ।[2] यदि यह प्रश्न हो कि विवेक को परम तत्त्व ज्ञान का कारण कहा गया है तो इसका उत्तर यह है कि विवेक तो सम्पूर्ण भावो का कारण है । वह 'महाशय' है अर्थात् सब भाव क्रोडीकरण सहिष्णु है । सारे भावो को अपने म समेट लेने की शक्ति यद्यपि बुद्धि मे भी है, तथापि बुद्धि अणिमा, महिमादि शक्तियो को उत्पन्न करके भी भोगजाल से फँसाती है, अत विवेक (स्वपरामर्श) से ही मुक्ति

(१) पश्यन्ती, मध्यमा, बैखरी ये तीन वाणी के रूप हैं । इनमे स्थूल, सूक्ष्म और पर का गुणा करने से यह माग 'नवधा' हो जाता ह । इन नवधा वाणियो की भित्ति 'परावाक्' तन्त्रालोक पचम आह्निक पृ ३ ४०८

(२) न हि मनो बुद्धिं विहाय ज्ञानस्याधिगमोऽत्रभामी भवेत्, किन्तु ते एव मनो बुद्धी प्रोक्तउक्तनुया स्वरूपनिमज्जेन सूक्ष्म शाक्त रूपमधिकृत्य एतज्ज्ञान जनयत् इत्ययुक्त, परभावत्त तत्सूक्ष्म शक्तितत्व निगद्यते— तन्त्रालोक, आह्निक १३, पृष्ठ १२२

होती है।[1] यदि यह विवेक अकस्मात् जागृत हो जाय तो शाम्भव अवस्था प्राप्त होगी और साधना अनपेक्षित होगी, परन्तु यदि पूर्व कर्मानुसार ऐसा न हो तो 'क्रम साधना' अनिवार्य है। पाशो के नाश के लिए ही साधना की आवश्यकता होती है, क्योकि शैव सभी भेदो को प्राण मे प्रतिष्ठित मानते है।

इस शैवमत मे आत्मज्ञान के लिए छह मार्गो का वर्णन है। इन्हे 'अध्वा' कहते है। अध्वा का अर्थ है 'कलन'। कलन दो प्रकार का है क्रम, अक्रम। कलन का अर्थ यहा भावना या परामर्श है।

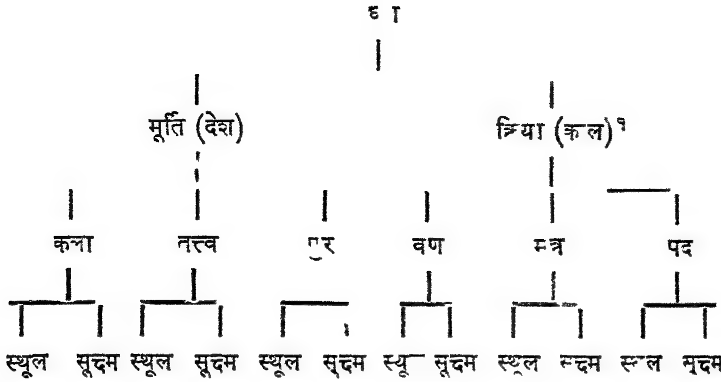
प्राणाध्वा प्राण कलात्मक है, अत काल का ज्ञान 'कालध्वा' कहलाता है। क्रम क्रम से काल का ज्ञान हो तो उसे 'क्रम कालध्वा' अथवा अकस्मात् ज्ञान हो तो उसे 'अक्रमकालध्वा' कहते है। परमतत्त्व का काल से योग ही शक्ति है अर्थात् ब्रह्म जब अपने को काल मे सीमित करता है, तब उसकी सज्ञा शक्ति होती है, इसी को 'काली' कहा गया है। यही 'काली' काल के साथ सयुक्त होकर प्राण के रूप मे स्फुरित होती है। स्वात्मा का स्वेच्छा से बहिमुख होकर स्पन्दित होना ही 'प्राण' है, 'प्राण' काल मे सीमित चैतन्य का नाम है, अत काल का सूक्ष्मातिसूक्ष्म वर्णन शैव-साधक ने किया है। दिन रात मे कुल २१६०० श्वास चलते है। प्राण शक्ति का इस प्रकार अवधारण कर पुन पुन तत्व का परामर्श ही ध्यान है। यही प्राण शिखा-बधन कहलाता है। प्रत्येक श्वास के साथ सहज गति से सोऽह, सोऽह अप्रतिहत रूप से चलना चाहिए यही 'सहज जप' है, इसी को कालध्वा या प्राणध्वा कहा जाता है। जब प्राण को मध्यममार्ग मे प्रविष्ट किया जाता है, तब देवता जागृत हो जाते है और शक्तिया अपना फल दिखाने लगती है।

प्राणध्वाया कालध्वा क्रिया के रूप मे तत्त्व का आभास ही कालध्वा है। क्रिया के तीन रूप होते है वर्ण, मन्त्र, पद।

देशाध्वा या मूर्ति अध्वा मूर्ति के रूप मे तत्त्व का आभास देशाध्वा है। यह तीन प्रकार का है—कला, तत्त्वएव पुर। इस प्रकार मूर्ति (देश) तथा क्रिया के रूप मे देश एव काल के दो प्रकार के अध्वा होते है और प्रत्येक के तीन तीन भेद होते हैं—

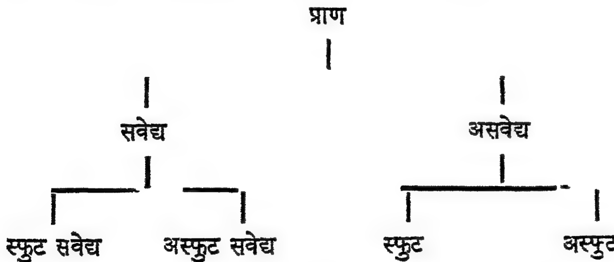
---

(१) विवेक सर्वभावाना, शुद्धभावान्महाशय ।
बुद्धितत्व तु त्रिगुणमुत्तममाधममध्यमम् ।
अणिमादिगत चापि, बन्धक जडमिन्द्रियम्—वही, १२३



इनके विकास का क्रम इस प्रकार है ब्रह्म→विन्दु→कला→तत्त्व→पुर या भुवन ।

प्राणध्वा या कालध्वा यद्यपि प्राण सर्वव्यापी है, तथापि वह अस्फुट रहता है । हृदय देश मे वह स्फुट होता है, अत उसका वर्णन हृदय म ही प्रारम्भ किया जाता है । प्राण धारण को 'यत्न' कहते हैं । यह 'यत्न' दो प्रकार का है । यह स्वेद्य और असवेद्य दो प्रकार का है, इनमे भी भेद हैं—



स्वरोदय सिद्धान्त[2] सवेद्य-अस्फुर कन्द (लिंग एव गुदा के बीच) मे स्थित सवेद्य प्राण है, नाडिया यही से प्रारम्भ होती है, यह प्राण हृदय तक अस्फुर रहता है, हृदय से प्राणाचार स्फुर होता है । अत प्राण का विभाग हृदय-देश से

(१) यहा 'काल' तत्त्व ३६ तत्त्वो मे वर्णित तत्त्वो से भिन्न तत्त्व है ।

(२) प्राण का हृदय से बाहर जाना तथा पुन हृदय मे प्रवेश यही क्रिया बार बार करना प्राणोदय कहलाती है ।

सुषुप्ति वेदितावस्था के परे सुषुप्ति है।

अमावस्या प्रतिपदा प्राण सूर्य है, अपान चन्द्र है, प्राण के आक्रमण से क एक कला को छोडता चलता है, अन्त मे अमावस्या को चन्द्र सूर्य मे हो जाता है, पुन चन्द्र उदित होता है, चन्द्र मे १६ कलाएँ है जिनमे १५ ही विलीन होती है, 'षोडशी कला' क्षीण नही होती, 'प्रतिपदा' मे पक्षो ध होती है।

अमृत सूर्य जब चन्द्र को निगलता है तो चन्द्र अमृत छोडता है, राहु मृत को पीता है। रवि के बिम्ब मे स्थित चन्द्र बिम्ब के पास ही 'राहु' है। राहु अमृत को पीकर चन्द्र बिम्ब को छोड देता है, यही 'ग्रहण-मुक्ति' ती है। इन तीनो के सघट्ट से अद्वय-स्थिति प्राप्त होती है। सूर्य प्रमाता है चन्द्र प्रमेय है, इन दोनो को राहु आच्छादन करता है, क्योकि राहु माया है, नो का सघट्ट ज्ञान शक्ति द्वारा, प्राण शासन के उपरान्त हो सकता है, यही ग्रहण' है यही 'पुण्यकाल' है।

सूर्य ग्रहण अमावस्या को होता है, शुद्ध प्रतिपदा को भी कभी-कभी होता है, चन्द्र का अलग हो जाना ही मोक्ष है। अर्थात् अपान के प्राण से अलग हो पर ही मोक्ष होती है। ग्रहण(चन्द्र—अपान) ही प्रमेय है और ग्राहक (सूर्य- ही प्रमेय है, दोनो के क्षय से मुक्ति सम्भव है। इस समय मे जपादिका फल होता है।

ज्योतिष स्वरोदयशास्त्र का सम्बध ज्योतिष से भी है, प्रत्येक अगुल मे तिथिया होती है, ३० तिथियो का एक मास होता है। तालु मे प्राण का प्रवेश त्र मास है, मत्र ग्रहण का श्रेष्ठ समय यही है।

तुटि से लेकर कल्पादि तक का ज्ञान होने पर योगी काल का ध्यान करता ाणानुशासन से क्रमश तुटि से कल्पादि पर्यन्त ध्यान होता है। योगी सहज टि से लेकर १२ वर्ष तक की तिथि, मास, वर्षादि का ध्यान मे ला सकता है सहसा दीर्घकाल का ध्यान फल नही देता। पराकाष्ठा को प्राप्त योगी दीर्घ- का भी ध्यान कर सकता है। ऐसा योगी शिवी भाव मे लीन हो जाता है, विजय करके 'महाकाल' हो जाता है। नियति, काल, राग, विद्या, कला लय हो जाता है।

हानी है।[1] यदि यह विवक अकस्मात् जाग्रत हो जाय ता शाम्भव अवस्था प्राप्त हागी और साधना अनपेक्षित हागी, परन्तु यदि पूव कमानुसार एसा न हो ता 'क्रम-साधना' अनिवाय है। पाशा क नाश के लिए ही साधना की आवश्यकता होती है, क्य कि शैव सभी भेदा को प्राण म प्रतिष्ठित मानते हैं।

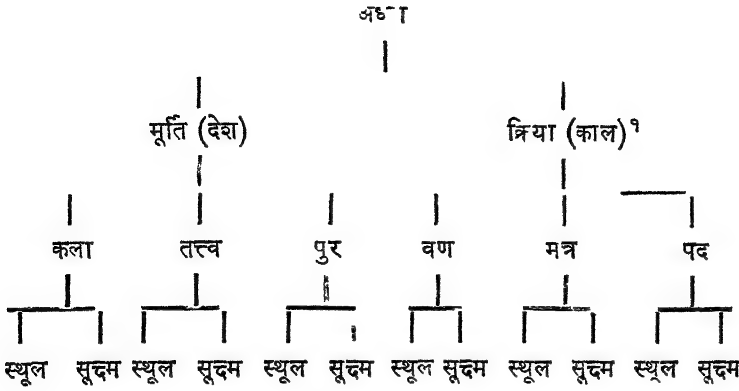
इस शैवमत मे आत्मज्ञान के लिए छह मार्गो का वणन है। इन्हे 'अध्वा' कहते है। अध्वा का अथ है 'कलन'। कलन दो प्रकार का है क्रम, अक्रम। कलन का अथ यहा भावना या परामश है।

प्राणध्वा प्राण कलात्मक है, अत काल का ज्ञान 'कालध्वा' कहलाता है। क्रम क्रम से काल का ज्ञान हा तो उसे 'क्रम कालध्वा' अथवा अकस्मात् ज्ञान हो तो उसे 'क्रमकालध्वा' कहते है। परमतत्त्व का काल से योग ही शक्ति है अर्थात् ब्रह्म जब अपने को काल मे सीमित करता है, तब उसकी सज्ञा शक्ति होती है, इसी को 'काली' कहा गया है। यही 'काली' काल के साथ सयुक्त होकर प्राण के रूप मे स्फुरित होती है। स्वात्मा का स्वेच्छा से बहिमुख होकर स्पन्दित होना ही 'प्राण' है, 'प्राण' काल मे सीमित चैतन्य का नाम है, अत काल का सूक्ष्मातिसूक्षम वणन शैव-साधक ने किया है। दिन रात मे कुल २१६०० श्वास चलते हैं। प्राण शक्ति का इस प्रकार अवधारण कर पुन पुन तत्व का परामश ही ध्यान है। यही प्राण शिखा-बधन कहलाता है। प्रत्येक श्वास के साथ सहज गति से सोऽह, सोऽह अप्रतिहत रूप से चलना चाहिए यही 'सहज जप' है, इसी को कालध्वा या प्राणध्वा कहा जाता है। जब प्राण को मध्यममार्ग मे प्रविष्ट किया जाता है, तब देवता जाग्रत हो जाते हैं और शक्तिया अपना फल दिखाने लगती है।

प्राणध्वाया कालध्वा क्रिया के रूप मे तत्त्व का आभास ही कालध्वा है। क्रिया के तीन रूप होते हैं वण, मन्त्र, पद।

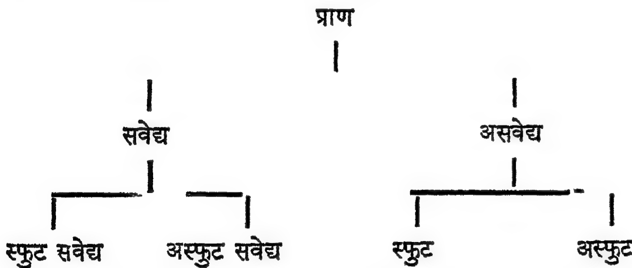
देशाध्वा या मूर्ति अध्वा मूर्ति के रूप मे तत्त्व का आभास देशाध्वा है। यह तीन प्रकार का है—कला, तत्त्वएव पुर। इस प्रकार मूर्ति (देश) तथा क्रिया के रूप मे देश एव काल के दो प्रकार के अध्वा होते है और प्रत्येक के तीन तीन भेद होते हैं—

(१) विवेक सवभावाना, शुद्धभावान्महाशय ।
बुद्धितत्व तु त्रिगुणमुत्तममाधममध्यमम् ।
अणिमादिगत चापि, बन्धक जडमिन्द्रियम्—वही, १२३



इनके विकास का क्रम इस प्रकार है ब्रह्म→विन्दु→कला→तत्त्व→पुर या भुवन ।

प्राणध्वा या कालध्वा यद्यपि प्राण सवव्यापी है, तथापि वह अस्फुट रहता है। हृदय देश मे वह स्फुट होता है, अत उसका वणन हृदय से ही प्रारम्भ किया जाता है। प्राण धारण को 'यत्न' कहते है। यह 'यत्न' दो प्रकार का है। यह स्वेद्य और असवेद्य दो प्रकार का है, इनमे भी भेद है—



स्वरोदय सिद्धान्त[2] सवेद्य-अस्फुर कन्द (लिंग एव गुदा के बीच) मे स्थित सवेद्य प्राण है, नाडिया यही से प्रारम्भ होती है, यह प्राण हृदय तक अस्फुर रहता है, हृदय से प्राणाचार स्फुर होता है। अत प्राण का विभाग हृदय-देश से

(१) यहा 'काल' तत्त्व ३६ तत्त्वो मे वर्णित तत्त्वो से भिन्न तत्त्व है।

(२) प्राण का हृदय से बाहर जाना तथा पुन हृदय मे प्रवेश यही क्रिया बार बार करना प्राणोदय कहलाती है।

जाता है अत यह अनुभव ब्रह्मानन्द का निमित्त है, जैसे इस इस सामरस्य से नारा वश मे हो जाती है, उसका हृदय विजित होता है, वैसे ही इस अनुत्तर योग से योगिनी (शक्ति) का हृदय विजित हो जाता है, ब्रह्माण्ड स्थित सारी शक्ति योगी की इच्छानुसार कार्य करने लगती है। यह मा रहस्यमय है, इसका पूण उद्घाटन गुरु की देख रेख मे ही सम्भव है।[१] ज्ञान की प्रधानता होने पर ही गुप्त रति क्रिया ब्रह्मानन्द म निमित्त बन सकती है, अन्यथा पतन का माग खुल जाता है। जो भोगी गुप्त रति काल मे प्रिया कठ का नाद नही सुनाता, वह सृष्टि मे व्याप्त 'नाद की प्राप्ति नही कर सकता। परन्तु ज्ञान द्वारा गुप्त रति क्रिया द्वारा योगी व्यापक नाद (अनहद नाद) को सुनता है, तत्पश्चात् वह 'विन्दु' अवस्था को प्राप्त हो जाता है, पूण ज्ञान की अवस्था यही है।

उन्मनावस्था के परे भी उच्चतर अवस्था है, यहा सकोच-विकास नही होना तथापि योगी को सृष्टि का आभास होता है।[२] क्योकि योगी की दृष्टि तत्व के साथ एकाकार होकर अतमुखी रहती है और सासारिक काय उसकी बाह्य इन्द्रिया करती रहनी है[३]। अत घट पटादि के ज्ञान के समय दृष्टि अतरस्थ भी रहती है और बाह्य पदाथ का ज्ञान भी होना रहना है। इसे 'भैरव-मुद्रा' कहा जाता है। गोपनीय होने से इसे 'खस्थ' या 'गगनोपम' अवस्था भी कहते है।

ख ख त्यक्त्वा खमारुह्य, खस्थ ख चोच्चरेदिति।

खमध्यास्याधिकारेण, पदस्थाश्चिन्मरीचय —[४]

अर्थात् मध्य नाडी मे स्थित होकर ख ख प्रमाण प्रमेय को छोड कर ख अर्थात् तुर्यातीत अवस्था को प्राप्त करना ही योगी का लक्ष्य है। इस अवस्था क प्राप्ति इन्द्रिय वृत्तियो (मरीचय) की बाह्य उन्मुखता के अभाव द्वारा होती है

---

(१) अल रहस्य कथया, गुप्तमेतत्स्वभावन
योगिनी हृदय तत्र, विश्रान्त स्यात्कृती बुध —वही, पृष्ठ ३८१

(२) असकोय विकासोऽपि, तदाभासन स्तथा—वही, पृष्ट ३८९

(३) अतलक्ष्यो बहिदृ ष्टि, परम पदश्नुते— वही, पृष्ठ ३८९

(४) वही पृष्ठ ३९८

होनी है।[1] यदि यह विवेक अकस्मात् जाग्रत हो जाय तो शाम्भव अवस्था प्राप्त होगी और साधना अनपेक्षित होगी, परन्तु यदि पूव कर्मानुसार ऐसा न हो तो 'क्रम-साधना' अनिवाय है। पाशो के नाश के लिए ही साधना की आवश्यकता होती है, क्योकि शैव सभी भेदो को प्राण मे प्रतिष्ठित मानते हैं।

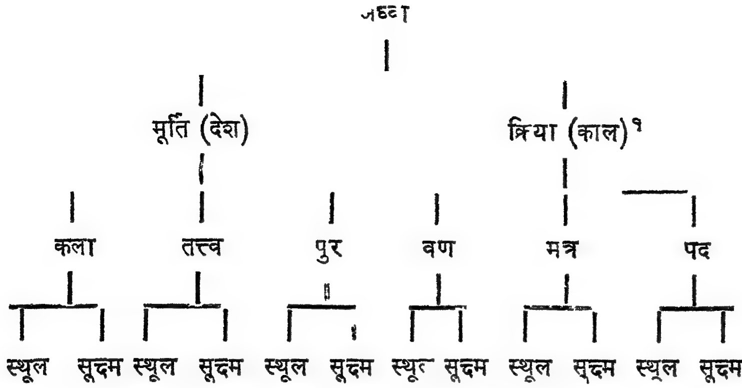
इस शैवमत मे आत्मज्ञान के लिए छह मार्गो का वणन है। इन्हे 'अध्वा' कहते है। अध्वा का अथ है 'कलन'। कलन दो प्रकार का है क्रम, अक्रम। कलन का अथ यहा भावना या परामश है।

प्राणाध्वा प्राण कलात्मक है, अत काल का ज्ञान 'कालध्वा' कहलाता है। क्रम क्रम से काल का ज्ञान हो तो उसे 'क्रम कालध्वा' अथवा अकस्मात् ज्ञान हो तो उसे 'क्रमकालध्वा' कहते है। परमतत्त्व का काल से योग ही शक्ति है अर्थात् ब्रह्म जब अपने को काल मे सीमित करता है, तब उसकी सज्ञा शक्ति होती है, इसी को 'काली' कहा गया है। यही 'काली' काल के साथ सयुक्त होकर प्राण के रूप मे स्फुरित होती है। स्वात्मा का स्वेच्छा से बहिमुख होकर स्पन्दित होना ही 'प्राण' है, 'प्राण' काल मे सीमित चैतन्य का नाम है, अत काल का सूक्ष्मातिसूक्ष्म वणन शैव-साधक ने किया है। दिन रात मे कुल २१६०० श्वास चलते है। प्राण शक्ति का इस प्रकार अवधारण कर पुन पुन तत्व का परामश ही ध्यान है। यही प्राण शिखा-बधन कहलाता है। प्रत्येक श्वास के साथ सहज गति से सोऽह, सोऽह अप्रतिहत रूप से चलना चाहिए यही 'सहज जप' है, इसी को कालध्वा या प्राणध्वा कहा जाता है। जब प्राण को मध्यममार्ग मे प्रविष्ट किया जाता है, तब देवता जाग्रत हो जाते है और शक्तिया अपना फल दिखाने लगती हैं।

प्राणध्वा या कालध्वा क्रिया के रूप मे तत्त्व का आभास ही कालध्वा है। क्रिया के तीन रूप होते है वण, मन्त्र, पद।

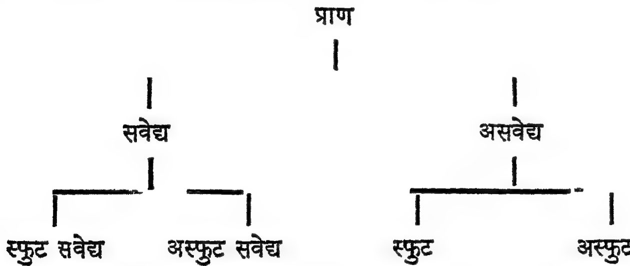
देशाध्वा या मूर्ति अध्वा मूर्ति के रूप मे तत्त्व का आभास देशाध्वा है। यह तीन प्रकार का है—कला, तत्त्वएव पुर। इस प्रकार मूर्ति (देश) तथा क्रिया के रूप मे देश एव काल के दो प्रकार के अध्वा होते है और प्रत्येक के तीन-तीन भेद होते हैं—

(१) विवेक सर्वभावाना, शुद्धभावान्महाशय ।
बुद्धितत्व तु त्रिगुणमुत्तममाधममध्यमम् ।
अणिमादिगत चापि, बन्धक जडमिन्द्रियम्—वही, १२३



इनके विकास का क्रम इस प्रकार है ब्रह्म→विन्दु→कला→तत्त्व→पुर या भुवन ।

प्राणध्वा या कालध्वा यद्यपि प्राण सर्वव्यापी है, तथापि वह अस्फुट रहता है। हृदय देश मे वह स्फुट होता है, अत उसका वर्णन हृदय से ही प्रारम्भ किया जाता है। प्राण धारण को 'यत्न' कहते हैं। यह 'यत्न' दो प्रकार का है। यह सवेद्य और असवेद्य दो प्रकार का है, इनमे भी भेद हैं—



स्वरोदय सिद्धान्त[2] सवेद्य-अस्फुर कन्द (लिंग एव गुदा के बीच) मे स्थित सवेद्य प्राण है, नाडिया यही से प्रारम्भ होती है, यह प्राण हृदय तक अस्फुर रहता है, हृदय से प्राणाचार स्फुर होता है। अत प्राण का बिभाग हृदय-देश से

(१) यहा 'काल' तत्त्व ३६ तत्त्वो मे वर्णित तत्त्वो से भिन्न तत्त्व है।

(२) प्राण का हृदय से बाहर जाना तथा पुन हृदय मे प्रवेश यही क्रिया बार बार करना प्राणोदय कहलाती है।

ही होता है। शिव की शक्तिया, वामा, ज्येष्ठा एव रौद्रिका है, इनसे प्राण सयुक्त हो जाता है। प्रभु शक्ति, प्रमाता और प्राण ये तीन प्राण-सचार के कारण है, अगो मे पवन का कम्प प्रभु शक्ति के द्वारा होता है, आत्म-शक्ति की प्रधानता होने पर कन्द का स्पन्द होता है।

३६ अगुल प्राण सब प्राणियो मे रहता है, मशकादि जीवो मे उन्ही के ३६ अगुल प्राण रहता है। प्राण एव अपान मे ३२ तुटिया रहती है, तुटि काल की लघु गणना है। पक्ष, मास, तिथि, सूर्य ग्रहण, चन्द्र ग्रहण, सध्या, मध्याह्न, अव रात्रि सब प्राण मे अवस्थित है। प्राण मे ही सब नक्षत्र है। इन्ही नक्षत्रो को नाग भी कहा जाता है—

सोम	—	वासुकि
कुज	—	तक्षक
सोमज	—	कर्कोट
गुरु	—	सरोज
शुक्र	—	महाब्ज
शनि	—	शख
शनि + राहु	—	कुलिक

ये सब प्राण मे है। इसीलिए प्राण विश्व का विस्तार प्रकट करता है। दिन मे क्रूरकर्म और रात मे सौम्यकर्म होते है। सध्या मे मुक्ति प्राप्त होती है। प्राण का अनुशासन ही दीक्षा है।

सवित प्रत्येक क्षण मे आनन्ददायिनी है, यह क्षण प्रमाता के चित्त पर निर्भर है, किसी के लिए क्षण कल्प है, किसी के लिए युग है, किसी के लिए क्षण मात्र है।

दिवस वेद्य वस्तुओ का जानना ही दिन है, क्योकि प्रकाश से ही पदार्थो का ज्ञान होता है।

निशा प्रकाश शात होने पर निशा होती है।

स्वप्नावस्था प्रकाश ग्रहण का काम प्रमाता द्वारा होता है, इसे 'वेदिता' कहा है, वेदिता का अर्थ है, 'अतर्मुख-स्थित' अत वेदितावस्था ही स्वप्नावस्था है।

सुषुप्ति वेदितावस्था के परे सुषुप्ति है।

अमावस्या प्रतिपदा प्राण सूय है, अपान चन्द्र है, प्राण के आक्रमण से चन्द्र एक एक कला को छोडता चलना है, अन्त मे अमावस्या को चन्द्र सूय मे विलीन हो जाता है, पुन चन्द्र उदित होता है, चन्द्र मे १६ कलाएँ है जिनमे केवल १५ ही विलीन होती है, 'षोडशी कला' क्षीण नही होती, 'प्रतिपदा' मे पक्षो की सधि होनी है।

अमृत सूय जब चन्द्र को निगलता है तो चन्द्र अमृत छोडता है, राहु इसी अमृत को पीता है। रवि के बिम्ब मे स्थित चन्द्र बिम्ब के पास ही 'राहु' रहता है। राहु अमृत को पीकर चन्द्र बिम्ब को छोड देता है, यही 'ग्रहण-मुक्ति' कहलाती है। इन तीनो के सघट्ट से अद्वय स्थिति प्राप्त होती है। सूय प्रमाता है और चन्द्र प्रमेय है, इन दोनो को राहु आच्छादन करता है, क्योकि राहु माया है, इन तीनो का सघट्ट ज्ञान शक्ति द्वारा, प्राण शासन के उपरान्त हो सकता है, यही 'महाग्रहण' है यही 'पुण्यकाल' है।

सूय-ग्रहण अमावस्या को होता है, शुद्ध प्रतिपदा को भी कभी-कभी होता है, सूय से चन्द्र का अलग हो जाना ही मोक्ष है। अर्थात् अपान के प्राण से अलग हो जाने पर ही मोक्ष होती है। ग्रहण(चन्द्र-अपान) ही प्रमेय है और ग्राहक (सूय-प्राण) ही प्रमेय है, दोनो के क्षय से मुक्ति सम्भव है। इस समय मे जपादिका फल अवश्य होता है।

ज्योतिष स्वरोदयशास्त्र का सम्बध ज्योतिष से भी है, प्रत्येक अगुल मे पॉच तिथिया होती है, ३० तिथियो का एक मास होता है। तालु मे प्राण का प्रवेश ही चैत्र मास है, मत्र ग्रहण का श्रेष्ठ समय यही है।

तुटि से लेकर कल्पादि तक का ज्ञान होने पर योगी काल का ध्यान करता है। प्राणानुशासन से क्रमश तुटि से कल्पादि पयन्त ध्यान होता है। योगी सहज ही तुटि से लेकर १२ वष तक की तिथि, मास, वर्षादि का ध्यान मे ला सकता है परन्तु सहसा दीघकाल का ध्यान फल नही देता। पराकाष्ठा को प्राप्त योगी दीघ-काल का भी ध्यान कर सकता है। ऐसा योगी शिवी-भाव मे लीन हो जाता है, काल विजय करके 'महाकाल' हो जाता है। नियति, काल, राग, विद्या, कला सबका लय हो जाता है।

महाप्रलय प्राण को सुषुम्णा मे स्थिर करने पर अन्य तत्व जब लय हो जाते है,तब संवित्[1] शेष रहती है, परन्तु आगे वह भी चैतन्य मे लीन हो जाती है, शिव, शक्ति एक हो जाते है, 'सामनस' पद यही है, इसी को 'महाप्रलय' कहते हैं। योगी बार बार तुटि से लेकर कल्प तक ध्यान करता हुआ सृष्टि को जन्म देता है और महा प्रलय की अवस्था को प्राप्त सृष्टि का लय कर देता है। इस प्रकार जो बार-बार सृष्टि एव प्रलय मे समर्थ है, वही महाकाल है, सच्चा योगी है। नाना चक्रो का अतिक्रमण करने से प्राण का निरोध होता है और प्राण का ग्रास हो जाने पर काल का भी ग्रास हो जाता है, काल के नष्ट हो जाने पर केवल ज्ञान रूप चैतन्य की सत्ता रह जाती है।

वर्णोदय तथा अजपाजाप सम्पूण वर्णो के पीछे एक अनाहत[2] वण है जो अनवरत रूप से नादात्मक है। मत्र पर सूक्ष्म तथा स्थूल तीन प्रकार के है। वर्णात्मक मत्रो मे सर्वदा सतत उच्चार रूप अनाहत नाद सचरित होता रहता है। मत्र बीज एव पिण्डात्मक दो प्रकार के है। मत्रो मे सवित् ही स्पन्दित होती है। जैसे अरघट्ट के चक्र मे यदि एक बाल्टी को ठीक कर लिया जाय तो सब ठीक काम करने लगती है तथव अनुसधान बल से, यत्न पूवक देवता रूप होने से मत्र द्वारा तादात्म्य की प्राप्ति होती है। मत्र-जप के समय उपयुक्त प्राण-साम्य आवश्यक है। चूकि भद स्पन्द के अधीन है और प्राण स्पन्द के अत प्राणानुशासन स्पन्द के दूसरे रूप मत्र के लिए आवश्यक है, क्योकि मत्रो मे भी स्पन्द ही स्फुरित होता है। प्राणा-साम्य से मत्र सिद्ध होना है अर्थात् शक्तिया जागृत हो जाती है और भेद बुद्धि नष्ट हो जाती है। जैसे उच्च स्थान से देखने पर नीचे के प्रदेश एकाकार दिखायी पडते है, वैसे ही सवित् की प्राप्ति होने पर भद समाप्त हो जाते है। मानस जप ही अद्वैत स्थिति का साधन है, इसमे मौन-जप चलता है, अजपा जप यही है। जब योगी स्वय अपने मत्र को सुनता है तो वह उपाशु जप और जब अन्य लोग भी सुनते है तो वह शब्द-जप कहलाता है।[3]

(१) यहा सवित का अर्थ परिमित आत्मरूपा शक्ति है। सामान्यत इसक अर्थ शिव की चित् शक्ति या चैतन्य होता है।

(२) एकोनादात्मको वण , सर्ववणविभागवान्
सोऽनस्तमितरूपत्वादनादत इहोदित —तन्त्रालोक षष्ठ आ०, पृष्ठ १७८

(३) आत्मा न शृणुते य स मानसो जप उच्यते।
आत्मना शृणुते यस्तु, तमुपाशु विजानते।
परे शृण्वत्तिय देवि, स शब्द स उदाहृत—तन्त्रा० जिल्द ४ आ० ७, पृष्ठ ३६

चमत्कार-सृष्टि सुषुम्णा मे प्राण के सचार एव निगम के साथ मानस जप ही सृष्टि के लय एव प्रलय का कारण हे, सारे वैचित्र्य का कारण यही क्रिया है। अन शरीर का वैचित्र्य यही कुछ भी उपयोगी नही है, सारे चमत्कारो का स्रोत यही आतरिक-क्रिया है।

मानस जप मे प्राण-शक्ति के उदय, सगम और शान्ति मे जप किया जाता है अर्थात् प्राण शक्ति के उदय-स्थान कुडलिनी स्थान मे हृदय देश मे तथा प्राण शक्ति जहा शात होती है उस ऊर्ध्व प्रदेश मे जप होता है। जप मे प्राण दो बार चक्कर काटता हैं। प्राण का विकास एव आकुचन दोनो होता है। प्राणो की साम्या-वस्था सुषुम्ण मे होती है। जप के सात स्थान भी कहे गए हैं उदय, सगम, शात के अतिरिक्ति प्राणापान प्रवाह रूप मे, अक्ष नाडी-चक्र के सूत्र। मे, हृदय देश के 'हस नामक स्थान मे, सहस्रार मे अत सप्त प्रकार जप भी कहा गया है। यही मानस जप हे। अजपा जाप है। इसमे प्रत्येक क्रिया करते रहने पर भा अतम् मे जप चलता रहता है।[1]

देशाध्वा शैव शासन मे सारा ध्यान चैतन्य पर केन्द्रित है, सारी साधनाएँ चैतन्य से रहित व्यथ मानी जाती है, चैतन्य के अतिरिक्त अन्य किसी की सत्ता यहा स्वीकृत नही है। अत शैवो का दृढ मत हे कि भुवनो का वणन कल्पित है, शिष्यो को समझाने के लिए ही केवल लोकादि की कल्पना हे। तत्र शब्द का अथ ही विस्तार है, भुवनादि के वणन का विस्तार कर शिष्य को वस्तुत चैतन्य का ज्ञान ही कराया जाता है, अत इस प्रकार के वणन गौण है। इसके अतिरिक्त 'ध्यान' के लिए भी लोकादि की कल्पना की जाती हे।

अन भुवनादि का ज्ञान प्राप्त कर उनका ध्यान करना चाहिए। इस प्रकार का ध्यान करने से 'सालोक्य' मुक्तिप्राप्त होती हे, जिस देवता का ध्यान जिस भुवन मे होता है, श्रीकठ शिव उसी लोक मे, उसी देवता के रूप मे व्यक्त होते है। अत विभिन्न लोको मे स्थित ईश की उपासना भक्ति-भाव से विधेय हे, इससे साधक लोक विशेष के ईशविशेष मे लीन होगा और क्रम-क्रम से अन्य ईशो मे लीन होता हुआ अत मे 'महेश' मे लीन हो जायगा।

---

१ द्रष्टव्य-तन्त्रा० ३१ आ०

तत्व वर्णन काल (प्राण) तथा पुरो (भुवनो) के वणन के पश्चात् साधना के लिए 'तत्वो' का ज्ञान आवश्यक है। प्रलय-प्रयन्त रहने वाले भोग पदार्थ को तत्व कहते है। इन तत्वो से निर्मित शरीर, घट आदि नष्ट होते रहते है। परन्तु सूक्ष्म तत्व प्रलय तक स्थित रहते है। तत्व स्वयमेव उत्पन्न नही हो सकते क्योकि वे जड है, स्वय चैतन्य अश रूप मे तत्वो का रूप धारण करता है। कर्त्ता करण स्वय चैतन्य ही।

चैतन्य (परम शिव) पूर्णत्व युक्त होने पर भी, स्वातन्त्र्य माहात्म्य से बहिर्भास की इच्छा करता है अत 'अहम्' मे हू इस परामर्श को प्राप्त होता है, यही 'शगिदशा' है। अहम् के अनुभव के बाद इदम् का परामर्श प्राप्त होता है, परन्तु इस अवस्था मे अहम् तथा इदम् का अनुभव अस्फुट रहता है, यही 'सदा शिवावस्था' है।

तृतीयावस्था मे अहम् तथा इदम् स्फुट हो जाते हैं, परन्तु ज्ञानदशा की प्रधानता रहती हे। इसे ही 'ईश्वर' कहते है। सदाशिव एव ईश्वर दोनो अशाओ मे सदाशिव तत्त्व प्रधान हे। सदाशिव मे ध्यान का मल नही है, ईश्वर मे ध्यान का मल रहता है।

क्रमश परम शिव शाम्भव, शक्तिजा, मन्त्र, महेश तथा मन्त्र नायक ये पाँच रूप धारण करता हे। ये ही पञ्चगण है जो जो रूप अपने-अपने गण मे स्थित होता है, वही वही तत्त्व (पचभूतो मे से एक) बनता है। यह शुद्ध सृष्टि है। 'शुद्ध अध्वा' इसी का नाम है।

मल और माया अशुद्ध सृष्टि 'लोलिका' नामक शक्ति द्वारा उत्पन्न होती है। विषय नियत न होने पर भी जो इच्छा उत्पन्न होनी है, उसे 'लोलिका' कहते हैं। इससे जाव मे अपूर्णता उत्पन्न हो जाता है। अभिलाषा से 'आणवमल' तथा लोलिका से 'काममल' उत्पन्न होना है। यह अशुद्ध सृष्टि है, इसके कर्त्ता 'अनत' माने जाते है। सृष्टि-प्रसार के लिए 'लोलिका' रची गई है। जप शिव अपने ऊपर अपना आवरण डालते है, तब 'मल' उत्पन्न हो लाता है। चैतन्य सकुचित हो जाता है, और सकुचित-ज्ञान ही मल है। अभिलाषा, अज्ञान, अविद्या, ग्लानि ही मल कहलाते है। मल से भेद भावउत्पन्न हो जाता है। भेद-भाव के कारण सकुचित आत्मा अपना स्वतन्त्र, शुद्ध चैतन्य रूप भूल जाता है। काय मल गलित हो

जाता है, फिर बीज के नष्ट हो जाने से कर्म-सनति नही चलती । क्योंकि सस्कार से ही कम फल मिलता है 'यह कम फल अवश्य मिलेगा यह वृत्ति ही सस्कार है । इसी से कम-प्रवाह चलता है, 'मै कत्ता नही हू' इस भावना से सस्कार का नाश हो जाता है । सस्कार के अभाव मे प्रमत्त एव मूढ को जैसे कोई फल नही मिलता, तथैव ज्ञानी भी फल, अफल से परे होता है । अत अनुसधान ही पाप पुण्य का फल देता है, कम नही । अनुसधान रहित साधक 'विज्ञान केवली कहलाता है । साख्य मे इसी को अतिम माना गया है । परन्तु शैव शासन मे 'विज्ञानकल' अवस्था मानी जाती है, इसमे 'सकोच' का नाश हो जाता हे, किन्तु प्रारब्ध का भोग सभी को करना पडता है ।

माया शिव की माया शक्ति जीव को पाशो मे बाधती है यह माया जड है, भेदरूपा है । जडता का अथ है, 'परछिन्न प्रकाशत्व' [1] प्रकाश मे अपूणता या आवरण पडने से जडता आती है ।

माया के दो रूप हैं (१) कारण का अछून रूप (२) अनुच्छून रूप । यह माया स्वरूप-गोपन के कारण निरुद्धा और प्राण, आदि की सृष्टि करने से कला कहलाती है । चूँकि ईश्वर से माया अलग दिखाई पडती है, अन वह उपादान कारण कही जाती है । परन्तु बिना उपादान के भी वस्तु बनती है यथा गगन-पुष्प क्योकि जिस वस्तु का सकल्प होता है, उस वस्तु का अत्यताभाव नही है, यह सिद्ध है अत काल, दिक आदि के द्वारा ही 'गगन पुष्प' का निषेध हो सकता है । अन्यथा गगन पुष्प की सत्ता भी सम्भव है, अत सकल्प से ही सृष्टि कही गई है ।

यह माया प्रत्येक जीव मे अलग २ है अत प्रत्येक के सुख दु ख भिन्न २ है । शक्तिपात होने पर यही माया शुद्ध हो जाती है । कला पृथ्वी आदि तत्त्व भी शुद्ध हो जाते है । ईश्वर के ध्यान मे क ादि तत्त्व शुद्ध हो जाते हैं । यथा भगवान के प्रति राग शुद्ध होता है । आराधना के समय काल शुद्ध हे । आराधना के नियमन मे नियात शुद्ध हे[2]

---

(१) परिछन्न प्रकाशत्व, जडस्य किललक्षणम्—तन्त्रालोक जिल्द ६ नवम् आह्निक, पृष्ठ ११७ १८

(२) कला हि शुद्धा तत्तादृक्, कमत्व सप्रसूयते । तन्त्रा० आ० ९, पृष्ठ १३४
मितमप्याशु येनास्मात्, ससारादेष मुच्यते—

कला माया से कला का जन्म होता है, स्वरूप गोपन के बिना कला का जन्म नही हो सकता, कला का अर्थ है 'कर्त्तृ ता', 'कुछ करना' ही कला है। जीवों का आलिगन कर यही कला अनेक कार्या के लिए प्रेरित करती है। प्रथम कला का रूप 'फूले हुए बीज' से अनुमान मे आ सकता है। जल के प्रसग से इसमे अकुर उत्पन्न होता है। यह कारण नही है, प्रयोजक है, कर्त्ता इसकी प्रेरणा से अपने को कर्त्ता मानता है।[1]

कला के द्वारा कर्त्ता की कर्त्तृत्व की अभिव्यजना होती है अत कला द्वारा ही कर्त्ता भोग करता है। चू कि विवेक के तिरोधान से ही कला उत्पन्न होती है अत क्रम क्षय से विज्ञानकलता उत्पन्न होती है। तब कला से अध पतन नहीं होता और पुरुष एव कला का अतर प्रतीत होने लगता है। अत ज्ञान के पूर्व कला दोषा लया है और ज्ञान के बाद शुभा है। कला का यही मर्म है। बिना इस मर्म के निर्लिप्तता नही आती। वृत्तियो के रहने तक 'कला' का शासन हम पर रहता है, परन्तु वृत्तियो के नाश के बाद उत्पन्न विवेक मे कला पर पुरुष शासन करने लगता है। वृत्ति नष्ट होने पर उत्पन्न अकर्त्तृत्व का अभिमान ही विवेक है। यह विवेक शक्तिपात से ही सम्भव है। साख्य मे शक्तिपात नही है। विवेक से कला एव पुरुष का ज्ञान होता है और उससे माया पर विजय प्राप्त होती है। शक्तिपात से सहसा ही यह स्थिति प्राप्त हो सकती है और क्रम-क्रम से भी प्राप्त होती है। अन्य शास्त्रो मे शक्तिपात न मानने से अक्रम मुक्ति नहीं है। शक्तिपात विवेक का सहकारी कारण है। बिना इसके कुछ भी सम्भव नही है।

राग सृष्टि के लिए राग की भी आवश्यकता है। अवैराग्य से सृष्टि नहीं हो सकती। अत सृष्टि मे माया-कला, राग की आवश्यकता है।

(१) कर्त्तृ शक्ति व्यनक्त्यस्य कला सात प्रयोजिका।
तत कला समायुक्तो, भागेऽणु कर्त्तृ कारकम् —वही, पृष्ठ १४३

माया का काम मूर्च्छित करना, ज्ञान का तिरोधान करना है उसी से कर्त्ता मे कर्त्तृ ता की प्रेरणा लगती है, इससे कर्म होता है, कर्म की प्रेरकशक्ति ही कला है। परन्तु कर्त्तृ ता के लिए ज्ञान का पूर्ण तिरोधान नहीं होता। कुछ सात्विक ज्ञान रहने पर 'राग' के कारण कर्म की सृष्टि होती है।

सृष्टि का पूर्ण क्रम इस प्रकार है—

परम—शिव
|
शिव शक्ति (स्वरूप गोपन-माया)
|
पशु (जीव) + कला —किंचित् कर्तृत्व
|
पशु + विद्या —भेदज्ञान
|
पशु + राग —नियत वस्तु के प्रति आसक्ति
|
पशु — काल —कल करूँगा, आज करूँगा—ऐसी वृत्ति
|
पशु —नियति —विशिष्ट काय मे लगना

इस प्रकार विद्या, राग, काल और नियति ये कला के चार काय है। षट् कचुको (पाश) मे माया, कला, राग, विद्या काल और नियति की गणना है।

कर्मो के जन्म मे ये ही कचुक (पाश) के कारण है। ये बाहरी आवरण है, भीतरी आवरण 'मल' है। शख मे जैसे मल रहता हे वैसे ही मायीय, आणव एव कामक मल जीव मे रहते है। मल से युक्त जीव पुद्गल कहलाता है। इनसे भोग्य एव भोक्ता अलग अलग हो जाते है और सुख तथा दुख उत्पन्न होते है, सुख दुख का कारण गुण है, सत्व, रज, तम। क्षुब्ध होकर ये गुण अपना काय करते है। गुणो के भेद से लोकादि का भेद होता है।

इन गुणो से बुद्धि तत्व उत्पन्न होना है। बुद्धि मे आत्मा का प्रतिबिम्ब पडता है। बुद्धि इन्द्रियो के द्वारा वस्तु को प्रतिबिम्बित करती है। बुद्धि बिना इद्रियो के भी स्वप्न मे रूपो का सृजन करती है। बुद्धि जड है, अर्थात् इसमे परिमित चैतन्य का ही प्रकाश है। यही अत करण है।

चूकि अह का मनन बुद्धि कराती है, अत बुद्धि को कारण कहा गया है। बुद्धि मे प्रतिबिम्बित होकर ही चैतन्य अह का मनन करता है। 'ऐसा जानता हू" यह ज्ञान उत्पन्न होता है। जड रूपा बुद्धि मे ही अहकार रहता है। अहकार से पचविध प्राणो का सचार होता है। अहकार सत्व, रज, तम मय तीन प्रकार का

होना है। सात्विक अहकार से मन सहित पाच ज्ञानेन्द्रिया उत्पन्न होती हे। अहकार विशेष विषयो को लेकर बढता रहता हे। 'मै सुनता हू', 'मै देखता हू' ऐसी वृत्तिया अहकार के कारण उत्पन्न होती है। अत अहकार ही इन्द्रियो का कारण है। कुठार छेदन का करण नही है। कुठार चालक का अह ही छेदन मे मुख्य सहायक है, कुठार गौण है।

रजो-गुण से कर्मेन्द्रिया उत्पन्न होती है। तन्मात्रादि भी अहकार से ही उत्पन्न होती है। तन्मात्रा का अथ है, सामान्य गुण, पृथ्वी गध के समूह का नाम है। इसी प्रकार अन्यतत्वो मे तन्मात्राएँ सामान्य गुण रूप मे विद्यमान है—आकाश मे शब्द, वायु मे स्पश, अग्नि मे रूप, जल मे रस एव पृथ्वी मे गध।

जिस प्रकार रगीन वस्त्र के रग एक साथ ज्ञात होते है तथैव योगी को एक साथ तत्वो मे स्थित गुणो का ज्ञान होता है। सामान्य जन को वे गुण अलग अलग दिखायी पडते है, किन्तु योगी अक्रम से गुण ज्ञान करते है।

इस प्रकार गध से शब्द तक एक ही सत्ता विद्यमान है, उपाधि भेद से नाना भेद हैं। धर्म तथा धर्मी एक है।

शैव शासन मे शब्द, स्पश, रूप, रस एव गध एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। अर्थात् शब्द अन्य तत्वो मे विद्यमान रहता है। अन्य-शास्त्र इस तथ्य को नहीं मानते।

इस प्रकार कुल तत्व ३६ है, नर, शिव एव शक्ति के कारण ये त्रिगुणित होकर १०८ कहलाते है—

३६ तत्व—शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, विद्या, ये शुद्ध तत्व है। माया, काल, नियति, कला, अविद्या, राग, पुरुष ये शुद्धाशुद्ध तत्व है।

प्रकृति, बुद्धि, अहङ्कार, मन ज्ञानेन्द्रिया, कर्मेन्द्रिया, तन्मात्राएँ तथा पच भूत—ये अशुद्ध तत्व कहलाते है।

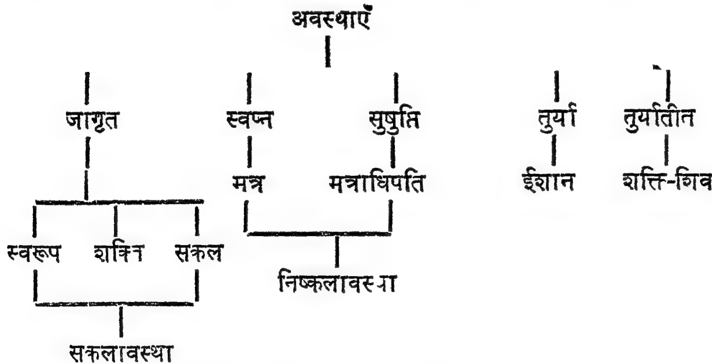
शुद्ध तत्वो मे चैतन्य की प्रधानता रहती है और अशुद्ध तत्वो मे अप्रधानता और अशुद्ध तत्वो मे भी चैतन्य प्रच्छन्न रूप मे अवस्थित है, यह स्मरणीय है।

त्रिक् शास्त्र मे तत्त्वो का भेद ही उसकी विशेषता है। परन्तु तत्त्वो, और लोको का यह विस्तार अभेद की पुष्टि के लिए ही है वस्तुत चैतन्य से भिन्न किसी की सत्ता नही है।

परन्तु साधना मे वस्तुओ की पूजा होती है, क्योकि यद्यपि वस्तु प्रस्तर-प्रतिमा आदि शिव का मूल रूप नही है, परन्तु वस्तु शिव का ही एक रूप है, अत वस्तु की पूजा वस्तुत शिव की पूजा है, शिव के प्रति यह भावना ही फल देती है, प्रतिमा फल नही दे सकती, क्योकि फल चित्रानुसधान से ही होता है।[1] किन्तु यह प्रारम्भिक साधना है। अन्तिम साधना मे दो रूप है I विज्ञानाकल II प्रलयाकल। प्रथम मे शुद्धबोध होने पर भी कुछ भेद रहता है। परन्तु 'प्रलयाकलावस्था' मे पूर्ण शिवत्व रहता है।

तत्त्व विजय तत्त्वो के साथ तादात्म्य कर तत्त्वो पर विजय प्राप्त की जा सकती है। तत्त्व मे गुणो का नाम है, अत पृथ्वी, जल, अग्नि आदि के गुण (रूप) का ध्यान किया जाता है। इनके ध्यान से समाधि विशेष भी प्राप्ति होती है। ऐसे योगी को 'पिण्डस्थ' कहते है। इस योगी को केवल एक ही तत्त्व ध्यान मे दिखायी पडता है। इससे योगी मे अद्भुत शक्तिया प्राप्त हो जाती है। तत्त्व विजयी योगी पचभूतो से अपने सकेत पर नृत्य करा सकता है।

अवस्थाएँ मालिनी विजय तत्र मे इनका विभाजन इस प्रकार है—



(१) तथा वेद्यस्वभावेऽपि, वस्तुतो न शिवात्मताम्
कोऽपि भाव प्रोज्झतीति, सत्य तद्भावना फलेत्।
—तत्रा०, जिल्द ७ आ० १०, पृष्ठ ८८

जागृत अवस्था मे प्रमेय की प्रधानता रहती है और स्वप्न मे 'प्रमाण' की प्रधानता है। सुषुप्ति मे विश्व शात हो जाता है। उदासीनता से रहित, पूर्ण के प्रति उन्मुखता तुर्यावस्था है। इस अवस्था मे जागृत स्वप्न की सुषुप्ति के प्रति उन्मुख हो जाता है। सुषुप्ति तुर्या की ओर उन्मुख रहती है। प्रमेय, प्रमाण मे, प्रमाण प्रमाता मे शात हो जाता है।

प्रमाता ज्ञान मे विश्राम पाता है। यह स्थिति तीन सोपानो मे दिखायी पडती है—जागृत एव स्वप्न मे अपरा, सुषुप्ति मे परापर एव तुर्या मे परा दिखायी पडती है। यह 'रूपातीत' अवस्था कहलाती है। इसे 'पचमावस्था' भी कहते है। विश्व के साथ तन्मयता यही प्राप्त होती है। तुर्यातीत अवस्था मे भेद-नाश है, इसे समझाया नही जा सकता। मालिनी विजय मे जागृत अवस्था को स्वरूप, शक्ति एव सकल मे विभाजित किया गया है। इसके भी १५ भेद है। स्वप्न तथा सुषुप्ति मे शिव के दो रूप क्रमश मत्र एव मन्त्राधिपति रहते है, तुर्या मे ईशान और तुर्यातीत मे शिव-शक्ति का निवास है।

कलाध्वा भुवनो मे व्याप्त होकर भी जो तत्त्व भिन्न रहे वह कलातत्व कहलाता है। यथा गोत्व 'गायो' मे व्याप्त, है परन्तु गोत्व कृत्रिम तत्व है, जबकि 'कला' वास्तविक तत्त्व है। कुछ साधक तत्त्वो मे अनुस्यूत सूक्ष्म शक्ति को कला मानते हैं यथा धरणी मे धारिका शक्ति। कुछ शिव द्वारा सुखसग्रहार्थ कल्पित वर्ग को कला कहते है। कला द्वारा ही तत्त्व और भुवनादि स्थिर है।

साधना शक्ति का भेदन करके देवी आती है और स्पर्श नष्ट होने पर व्याप्त हो जाती है। इस समय 'पिपीलिका-दशन' जैसा अनुभव होता है। यही योग मे प्रसिद्ध पिपीलिका अनुभव है।[1] प्रकृति के गुणो के साथ तादात्म्य करना चाहिए, परन्तु योगी स्पर्श को विशेष महत्त्व देते है। स्पर्श के अन्त मे सवित् शुद्ध कोमवत् हो जाती है। रूप एव रस इसीलिए साधना मे बाधक मान लिये

(१) शक्तिभित्वा ततो देवि, त्वक् शेषे व्यापिनी भवेत्।
भवेदनुभवस्तत्र स्पर्शो यद्वत्पिपीलिका—तन्त्रालोक, जिल्द
७ आ० ११, पृष्ठ २८

जाते है, क्याकि इनसे अहकार अधिक उत्पन्न होता है।[1] स्पश का ध्यान अधिक श्रेयस्कर है। स्पश प्रत्म ता सूदम होता है तथा दूसरे वह क्षोभक नही है। तत्त्वो के गुणो को क्रमश भी लिया जा सकता है गध पृथ्वी मे, रस प्रकृति मे और रूप की माया मे लीन कर तब स्पश का ध्यान करना चाहिए। पृथ्वी, जल, अग्नि मे क्रमश गध, रस एव रूप के शात हो जाने पर 'स्पश' का ध्यान करना चाहिए, 'स्पश के शात होने पर योगी का चित्त आकाशवत् सवित मे लीन हो जाता है। यही 'गगनोपम' अवस्था है जो क्रमश तत्वो पर विजय पाने से उत्पन्न होती है।[2]

इस 'पच तत्त्व साधना' के अतिरिक्त अनेक साधनाएँ ह, क्योकि भावनाएँ अनन्त है। एक तत्त्व मे सबकी भावना नही होती। परन्तु शहद पवत पर ही मिलता है, छत पर नही। फिर भी गुरु शिष्य की भावनानुसार उपदेश करता है। अतिम तत्त्व प्राप्ति के लिए सुप्रबुद्ध गुरु तथा भोग की आशा से रहित शिष्य की आवश्यकता है।

इस 'कन्ध्वा' के तीन रूप है—

पद, मत्र, वण या स्थूल, सूदम पर।

पद मत्र जिससे ज्ञात हाता है, उसे 'पद' कहते है। ज्ञान पाकर साधक अक्षुब्ध होता है, यही मत्रमय स्थिति है। मत्रमय का अथ 'गुप्त भाषी' होना है। पद एव मत्र के अभिन्न होने से मत्रत्व और भी सूदम हो जाता हे, इसे 'पद-मत्र' कहते ह। अत मत्र सूदम है और पद स्थूल है।

(१) बिन्दु, नाद, रूप और रस मे क्षोभ उत्पन्न करने की शक्ति अधिक है अत स्पश श्रेष्ठ हे—

अतो बिन्दुरतो न दो, रूपमस्मादतो रस ।
इत्युक्त क्षोभकत्वेन, स्पन्दे स्पशस्तु नो तथा—वही, पृष्ठ २९

अधकार मे भी रूप कल्पना मे आ जाते हैं, रस की वस्तु के बिना भी जीभ लोलुप हो उठती है, अत स्पश श्रेष्ठ है।

(२) तत्स्पर्शान्ते तु संवित्ति शुद्ध चिद्व्योम रूपिणी।
यस्या रूढ समभ्येति, स्वप्रकाशात्मिका पराम्—तत्रा० एकादश आ०, पृष्ठ २७

वर्णाध्वा उदासीनता को छोडकर प्रक्षोभ का नाश होने पर वर्णाध्वा की स्थिति होती है। पद एव मन्त्र दोनो इसमे गर्भी कृत हो जाते है। शरीर मे ३६ व्यजन व्याप्त है और स्वर इन व्यजनो मे व्याप्त है।

चित्त का विमश ही वाच्य दशा को प्राप्त होता हे चैतन्य ही मन्त्र मे परिणत होता है। इसका विमश ही शुद्ध ज्ञान एव क्रिया है। सवित् का स्फुरण क्षुब्ध तथा अक्षुब्ध दो रूपो मे व्यक्त होता है। प्रमाण क्षुब्ध रूप है और मन्त्र अक्षुब्ध रूप है। सवित के कारण सब शब्द सब अर्थो के व्यजक हैं। वर्णो से भेद व्यावहारिक भेद है। विकल्प मे ही शब्द विशेष का वस्तु विशेष मे सकेत होता है। निर्विकल्प अवस्था मे सब वर्णो से सभी अथ प्रकट होने लगते है। शक्ति की योनि मे क्षोभ करने मे वण रचे गए है, अत वण शक्तिमय हैं। इस सवित् को न जानकर जड साधक मन्त्र का शुकवत् पाठ करता है। जैसे जैसे ज्ञान का बोध होता है, अथ का चमत्कार बढता जाता है। अत तादात्म्य ही चमत्कार को जन्म देता है। इसी तादात्म्य से शास्त्र रचने की शक्ति उत्पन्न होती है। अकृत्रिम तादूरूप्य ही चमत्कार का कारण है।[1]

ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ सकेतो (वस्तुओ मे शब्दो का सकेत) का निमज्जन होता जाता है। स्वात्मा मे निष्ठा होने से सकोच दूर होता जाता है और 'प्रतिभा' का उदय होता है। प्रतिभा से अप्रतिहत कवित्व शक्ति का जन्म होता है।[2]

चेतना मे तन्मयता से सब कुछ प्राप्त होता है[3] अत वाकसिद्धि के लिए वण की उपासना आवश्यक है।[4] वण स्वपरामर्शात्मक होने से गुप्त कहे जाते है। मन्त्र शोधक है, इनसे कनक वण चैतन्य की शोव करने से क्या नही मिलता।

(१) यथा यथा चाकृतक, तद्रूपमतिरिच्यते।

(२) तथा तथा चमत्कार, तारतम्य विभाव्यते—वही, पृष्ठ ६०

(३) यावद्धामनि सकेत, निकार कानो ज्झिते।
विश्रान्तश्चिन्मये, किं कि न वेत्ति कुरुते न वा—तन्त्रा० एकादश आ०, पृष्ठ ६२

(४) अतएव वाक्सिद्धौ, वर्णाना समुपास्यता।
सव ज्ञत्वादिसिद्धौ वा का सिद्धिर्या न तन्मयी—वही, पृष्ठ ६२

सारा जगत चित्त की भित्ति पर निर्मित है। अत 'मै ही स्थित हू' यह भावना कर इस चित्तोद्यान मे साधक क्रीडा करते है। जगन का भाग निष्कम्पता प्राप्त कर्त्ता ही कर सकना हे। ऐसे योगी के लिए बाह्य आचार, पूजा, होम आदि व्यथ है। जैसे, जिसके द्वारा अपनी चेतना प्रसन्न हो, तथैव उस उस पदाथ द्वारा चेतना को प्रसन्न करे, किसी प्रकार से भी चेतना मे विचिकित्सा उत्पन्न न होने दे।[1] बुद्धि, मन एव इद्रियो मे स्थित देवियो को निषिद्ध द्रव्यो से भी सनुष्ट करे तथा वीर व्रत का पालन करे, वीराचार (वाम माग) मे ही शका, मलिनता, ग्लानि तथा सकोच का नाश हो सकता है। इस ससार का स्तम्भ 'ग्लानि' है इसे काटने से ही सिद्धि होती है। और 'ग्लानि' शका से उत्पन्न होती है। शका से चित्त की स्वच्छन्दता मे बाधा पडती है अत इनका नाश बलपूवक करे। केवल यह माहेश्वर-माग ही सब शकाओ के लिए शनि नक्षत्र के समान है।[2]

शक्तिपात का सिद्धान्त शैव-शासन मे शक्तिपात की बडी महिमा है। साख्य मे पुरुष एव प्रकृति के विवेक का ही महत्त्व है। किन्तु विवेक बिना शक्तिपात के सम्भव नही है। फिर केवल ज्ञान से यदि मुक्ति सम्भव होती तो स्वर्गादि का वणन शास्त्रो मे क्यो किया गया है। वेदान्त मे ज्ञान से अज्ञान का नाश बताया गया है किन्तु अज्ञान का अथ ज्ञानाभाव नही है। मिथ्या ज्ञान भी अज्ञान का अथ नही हो सकता, क्योकि मिथ्या ज्ञान उसे कहा गया है जो त्रिकाल मे कही न हो। परन्तु अज्ञान वतमान काल मे तो रहता ही है। अत मल ही प्रवाह का कारण है, मिथ्या ज्ञान आदि नही। जगत प्रवाह मल से उत्पन्न होता है और मल ही अज्ञान है जो अपूण ज्ञान है, ज्ञान का अभाव नही।[3]

(१) यदा यथा येन यत्र, स्वा सवित्ति प्रसीदति।
तदा तथा तेन तत्र, तत्तद्भोग्य विधिश्च स।
य न येनाभ्युपायेन, क्रमादक्रमतोऽपि वा।
विचिकित्सा गलत्यन्तस्तथासौ यत्नवान्भवेत्—वही आ० १२ पृष्ठ १०१-१०२

(२) शकाएँ पाच है—मत्र शका, आत्म शका, द्रव्य शका, भूत शका दिव्यकम शका—तन्त्रालोक-एकादश आ०, पृष्ठ १०५-१०६

(३) तन्त्रालोक, जिल्द ८ आ० १३, पृष्ठ ३४

इस मल के नाश के लिए शक्तिपात ही समर्थ है। भगवान स्वयं लीलार्थ अपना गोपन करता है और स्वतः जीव जिसे चाहता है, अपनी ओर उन्मुख करने के लिए अनुग्रह करता है, यही अनुग्रह 'शक्तिपात' कहलाता है। इससे चैतन्य की ओर मल ग्रस्त जीव उन्मुख हो जाता है और बहिर्मुखता समाप्त होने लगती है।

शक्तिपात नियत और अनियत दो प्रकार से हो सकता है। क्रम से भी शक्तिपात होता है और अकस्मात् भी। सब हरि इच्छा है।

तिरोधान का सिद्धान्त पूर्णता का अभाव तिरोधान है। जीव यह समझता है कि उसमे कुछ कमी है—वह दीन है, हीन है, अज्ञानी है, आदि इस कमी को पूर्ण करने की जो इच्छा जीव मे जागृत होती है, वह इच्छा स्वयं इस तथ्य को प्रकट करती है कि मूलतः तो वह जीव शिव है, किन्तु शक्तियो के तिरोभाव से वह अपने को अपूर्ण अनुभव करता है। अतः पूर्णता की अभिलाषा मल है, (लोलिका) है[1] विशुद्ध स्वप्रकाशात्म शिवरूपता का अनुभव करना ही पूर्णता है। इस पूर्णता मे कोई हेतु नही है। शिव का स्वभाव ही पूर्णता है। अतः शक्तिपात की प्राप्ति मे स्व प्रकाशत्व का विमर्श ही मूल कारण है। जब जीव यह समझ लेता है कि मै पूर्ण हू, शिव हू तो मुक्त हो जाता है, किन्तु अपने को अपूर्ण मानकर जब तक पूर्णता का प्रयत्न किया जायगा तब तक जीव न स्वतन्त्र होगा न सुखी, मल का नाश नही होगा, क्योकि अपने को अपूर्ण मानना ही अज्ञान है।

इस शक्तिपात की प्राप्ति मे आत्म परामर्श के अतिरिक्त अन्य कुछ भी कारण नही है। कुल, जाति, कर्म आदि किसी से भी भगवान का अनुग्रह प्राप्त नही हो सकता।[2] शक्तिपात का प्रथम चिह्न है 'शिव मे भक्ति'।[3]

भक्ति दो प्रकार की है (i) सफला (ii) निष्काम। प्रथम भक्ति मे कर्म की अपेक्षा है। दूसरी मे नहीं।[4]

(१) तिरोधिः पूर्णरूपस्यापूर्णत्वं, तच्चपूरणम।
प्रतिभिन्नेन भावेन स्पृहातो लोलिका मलः—वही, पृष्ठ ७५
(२) वही, श्लोक संख्या ७९
(३) उद्धृत—तन्त्रा० वही, पृष्ठ वही
(४) तन्त्रालोक—त्रयोदश अ०, पृष्ठ ८०

इस प्रकार सफलाभक्ति के रूप मे प्राप्त शक्तिपात 'पर' नाम से प्रसिद्ध है। और दूसरा शक्तिपात जो मुक्तिदायी है वह 'अपर' कहलाता है।

प्रश्न होगा कि क्या 'मल' शक्तिपात ही भगवत् इच्छा से प्राप्त होता है, 'मल क्या उसकी इच्छा से नही प्राप्त होता ? उत्तर यह है कि ब्रह्म की इच्छा के बिना स्वय जगत की ही सृष्टि सम्भव नही है अत 'मल' भी जीव को भगवान की इच्छा से प्राप्त होता है। वस्तुत चैतन्य निमल है।[1] आकाश की नीलिमा के समान स्वत मल चैतन्यमय ही है मल की भिन्न सत्ता नहीं है।

शक्तिपात के तीव्र मध्य एव मद तीन रूप होते है। तीव्र शक्तिपात देहपात हो जाता है यथा वृद्ध व्यक्ति पर शैवगुरु अपने प्रभाव से तीव्र शक्तिपात करते है और मुक्त कर देते है। अन्य दो शक्तिपातो से अज्ञान का नाश होता है।

खेटपाल आदि आचार्यो का मत है कि शिव की रोद्री शक्ति से प्रथम मल का पाक होता है तब सवित् का उदय होता है। यथा सूयकान्त मणि सूय रश्मि से द्रवित हो जाती है तथैव मल परिपाक के बाद ही चैतन्य का उदय होता है।

परन्तु अभिनव गुप्त इस प्रकार का क्रम अनिवाय रूप मे स्वीकार नही करते। क्योकि जीव शक्तिपात मे इश्वरेच्छा ही कारण है और वह स्वतन्त्र है, क्रम, अक्रम से परे है, अत शक्तिपात क्रम अक्रम निरपेक्ष रूप मे होता है। मल पाक को जीव तथा ईश्वर का मध्यस्थ नही मान सकते।

प्रतिभा शक्तिपात से जन्य प्रातिभ-ज्ञान से मल का नाश होता है। प्रतिभा ज्ञान का अर्थ है, स्वयमेव ज्ञान उदित होना, शास्त्र एव गुरु की इसमे अनपेक्षा है।[2] प्रतिभा जागृत हो जाने पर भी 'दृढता' की आवश्यकता है। कम्पमाना प्रतिभा हीन है। अत शास्त्र दृढता के लिए है। प्रतिभावान के लिए अभिषेक, समय, दीक्षादि नही है। प्रातिभ ज्ञान भी दो प्रकार का है। सासिद्धिक (ii) दीक्षित। प्रथम मे दीक्षा की आवश्यकता नही है, किन्तु दूसरे मे आवश्यक है। प्रतिभावान ही विश्व को मुक्त करता है।[3] यो विश्व मे प्रत्येक जीव मे प्रतिभा होती है, परन्तु उनमे मद शक्तिपात के कारण परोपजीविता रहती है।

(१) तन्त्रालोक, त्रयोदश, आ०, पृष्ठ ८४-८५
(२) वही, पृष्ठ ८६ ८७
(३) वही, पृष्ठ १०१

प्रातिभ-ज्ञान का उद्देश्य मुक्ति है। सिद्धिया केवल दूसरो मे विश्वास उत्पन्न करने के लिए है। मुमुक्षु केवल मुक्ति के लिए प्रयत्न करता है। [1] परतु वह दूसरो मे विश्वास जगाने के लिए चमत्कार दिखाता है, क्योकि देहान्त के बाद मुक्ति होती है, इस पर कौन विश्वास करेगा। पर प्रत्यय के सिवाय सिद्धियो का अन्य कुछ भी उपयोग नही है।

"सिद्धिर्हि नाम परेषा प्रत्ययमात्रम् अन्यथा देहान्ते मुक्तिरिति कस्य समाश्वस्त स्यात्[2]"

पाश-नाश के पश्चात स्वत शक्तिपात के चिह्न प्रतिभावान साधक मे प्रकट होने लगते हैं। चिह्न अनेक है, मत्रसिद्धि, तत्त्व विजय, कवित्व शक्ति रूप मे भक्ति आदि।

शक्तिपात से भुक्ति एव मुक्ति दोनो प्राप्त होती है। भक्ति से मुक्ति तथा मत्र से भुक्ति प्राप्त होती है। तीव्र शक्तिपात मे या तो अकस्मात् जीवन्मुक्ति होती है अथवा देहपात हो जाता है। मध्यतीव्रपात मे मन शिवोन्मुख हो जाता है। मदमध्य शक्तिपात मे किसी तत्त्व विशेष मे मन लग जाता है। भोग के प्रति उत्सुकता मद शक्तिपात का लक्षण है। इस प्रकार शक्तिपात के अनेक रूप हैं जिनमे ६ मुख्य हैं।

वैष्णव एव शैवो का शक्तिपात वैष्णवो के यहा शक्तिपात से 'वैष्णवत्व' मात्र प्राप्त होता है। शिवत्व या मुक्तिप्राप्त नही होती। ब्रह्मा, विष्णु आदि शिव की माया से ग्रस्त हैं। शिव सम्राट हैं, अत वैष्णव विज्ञानकलता को प्राप्त नही कर सकता। अत वैष्णव शक्ति 'मोक्षदा' नही है। उसमे 'घोरता' है, 'अघोरता' नही है।

शक्तिपात का सिद्धात पुराणो से भी पुष्ट है[3]। क्योकि उनमे भगवान के 'प्रसाद' का वर्णन है। ईश्वर स्वातत्र्य से, सकोच के अवभास से स्वय

(१) सिद्धि जाल हि कथित, परप्रत्यय कारणम्।
इहैव सिद्धा कायान्ते, मुच्येरन्निति भावनात् वही, पृष्ठ ११७

(२) तत्रालोक—त्रयोदश आ० पृष्ठ ११७

(३) पुराणोऽपि च तस्यव, प्रसादाद्भक्तिरिष्यते।
ययायान्ति परासिद्धि, तद्भावगतमानसा —
तत्रालोक, त्रयोदश आह्निक, पृ० १७४

अणुता को धारण करता है[1] और पुन जब वह निर्मल रूप दिखाता है, तो उसे 'प्रसाद' कहते हे । ईश्वर की प्रसन्नता ही मल का अपगम करती है ।

इस 'प्रसाद' की प्राप्ति के लिए शैव शासन मे भी वैष्णवो आदि की तरह प्राथनाए और स्तोत्र है । यह 'प्रसाद' सर्वाधिक रूप मे शैवो को मिलता है, क्योकि वे सबसे अधिक प्रतिभाशाली है । वेदो से अधिक वाममार्गियो को, उनसे अधिक दक्षिणपन्थियो को, पुन कौलो को और सबसे अधिक त्रिक् शासन के विश्वासियो को मिलता है ।

हरि प्रसाद से ज्ञान तीन प्रकार का मिलता है । (1) वैदिक ज्ञान (11) चिन्तामय ज्ञान (111) भावनामय ज्ञान । विधि निषेधमय ज्ञान वेदिक ज्ञान है। शास्त्रालोचन चितामय ज्ञान है । इसके पश्चात् 'भावमय ज्ञान उत्पन्न होता है । शैवमत मे ज्ञान एव भाव दोनो है ।[2]

नैमित्तिक कर्म निश्चित हो जानेपर अशकित रूप से जिन कार्यों को अवश्य किया जाना चाहिए, वे नैमित्तिक कम है । नित्य कम नियत है, और नैमित्तिक अनियत । सध्या, पर्वादि नित्य कम है, ये नित्य कर्म है और नित्य होते रहते है । नैमित्तिक काम २३ प्रकार के है—स्वजयोत्सव श्राद्ध, देवता दर्शन, कुल-पव आदि । इनके करने मे प्रमाद नही करना चाहिए ।

दीक्षा सासिद्धिक साधक को दाक्षा की आवश्यकता नही है, किन्तु अन्यो को आवश्यक है । मल-नाश दीक्षा से ही होता है, क्योकि दीक्षा के बिना शास्त्र का उपदेश नही दिया जा सकता ।

साधक अनेक प्रकार के होते है (१) बुभुक्षु साधक जिनकी दृष्टि भोग पर केन्द्रित रहती हे । इनके भी दो भेद है (१) शिवधर्मी (२) लोकधर्मी । प्रथम शिवो-

(१) स्वेच्छा से जब सासारिक लोग कुछ नियमो को स्वीकार करके ही खेलते है, खेल मे स्वेच्छा से जिस प्रकार कुछ बधन आवश्यक हे, तथैव जगतरूपी खेल मे शिव कुछ बधन स्वेच्छा से स्वीकार कर लेता है, यथा क्रीडाशील व्यक्ति जब चाहे खेल बन्द कर देता है, तथैव जगतरूपी क्रीडा शिवेच्छा पर निभर है ।—तत्रालोक—त्रयोदश आ०, पृष्ठ १७४

(२) वेदाच्छैव ततो वाम, ततो दक्ष ततो मतम् ।
तत कुल तत कौल, त्रिक सर्वोत्तम परम्—वही, पृष्ठ १८१

प्रातिभ-ज्ञान का उद्देश्य मुक्ति है। सिद्धिया केवल दूसरो मे विश्वास उत्पन्न करने के लिए है। मुमुक्षु केवल मुक्ति के लिए प्रयत्न करता है।[1] परन्तु वह दूसरो मे विश्वास जगाने के लिए चमत्कार दिखाता है, क्योकि देहान्त के बाद मुक्ति होती है, इस पर कौन विश्वास करेगा। पर प्रत्यय के सिवाय सिद्धियो का अन्य कुछ भी उपयोग नही है।

"सिद्धिर्हि नाम परेषा प्रत्ययमात्रम् अन्यथा देहान्ते मुक्तिरिति कस्य समाश्वस्स स्यात्[2]"

पाश-नाश के पश्चात् स्वत शक्तिपात के चिह्न प्रतिभावान साधक मे प्रकट होने लगते हैं। चिह्न अनेक है, मत्रसिद्धि, तत्त्व विजय, कवित्व शक्ति रूप मे भक्ति आदि।

शक्तिपात से भुक्ति एव मुक्ति दोनो प्राप्त होती हैं। भक्ति से मुक्ति तथा मत्र से भुक्ति प्राप्त होती है। तीव्र शक्तिपात मे या तो अकस्मात् जीवन्मुक्ति होती है अथवा देहपात हो जाता है। मध्यतीव्रपात मे मन शिवोन्मुख हो जाता है। मदमध्य शक्तिपात मे किसी तत्त्व विशेष मे मन लग जाता है। भोग के प्रति उत्सुकता मद शक्तिपात का लक्षण है। इस प्रकार शक्तिपात के अनेक रूप है जिनमे ६ मुख्य है।

वैष्णव एव शैवो का शक्तिपात वैष्णवो के यहा शक्तिपात से 'वैष्णवत्व' मात्र प्राप्त होता है। शिवत्व या मुक्तिप्राप्त नही होती। ब्रह्मा, विष्णु आदि शिव की माया से ग्रस्त हैं। शिव सम्राट है, अत वैष्णव विज्ञानकलता को प्राप्त नही कर सकता। अत वैष्णव शक्ति 'मोक्षदा' नही है। उसमे 'घोरता' है, 'अघोरता' नही है।

शक्तिपात का सिद्धात पुराणो से भी पुष्ट है[3]। क्योकि उनमे भगवान के 'प्रसाद' का वर्णन है। ईश्वर स्वातत्र्य से, सकोच के अवभास से स्वय

(१) सिद्धि जाल हि कथित, परप्रत्यय कारणम्।
इहैव सिद्धा कायान्ते, मुच्येरन्निति भावनात् वही, पृष्ठ ११७

(२) तत्रालोक—त्रयोदश आ०, पृष्ठ ११७

(३) पुराणोऽपि च तस्यैव, प्रसादाद्भक्तिरिष्यते।
ययायान्ति परासिद्धि, तद्भावगतमानसा —
तत्रालोक, त्रयोदश आह्निक, पृ० १७४

अणुता को धारण करता है[१] और पुन जब वह निर्मल रूप दिखाता है, तो उसे 'प्रसाद' कहते हैं। इश्वर की प्रसन्नता ही मल का अपगम करती है।

इस 'प्रसाद' की प्राप्ति के लिए शैव शासन मे भी वैष्णवो आदि की तरह प्राथनाएँ और स्तोत्र है। यह 'प्रसाद' सवाधिक रूप मे शैवो को मिलता है, क्योकि वे सबसे अधिक प्रतिभाशाली है । वेदो से अधिक वाममार्गियो को, उनसे अधिक दक्षिणपन्थियो को, पुन कौलो को और सबसे अधिक त्रिक् शासन के विश्वासियो को मिलता है।

हरि-प्रसाद से ज्ञान तीन प्रकार का मिलता है। (1) वेदिक ज्ञान (11) चिन्तामय ज्ञान (111) भावनामय ज्ञान। विधि निषेधमय ज्ञान वैदिक ज्ञान है। शास्त्रालोचन चिंतामय ज्ञान है। इनके पश्चात् 'भावमय ज्ञान उत्पन्न होता है। शैवमत मे ज्ञान एव भाव दोनो हैं।[२]

नैमित्तिक कर्म निश्चित हो जानेपर अशकिन रूप से जिन कार्यों को अवश्य किया जाना चाहिए, वे नैमित्तिक कम है । नित्य कम नियत है, और नैमित्तिक अनियत। सध्या, पर्वादि नित्य कम है, ये नित्य कर्म है और नित्य होते रहते है। नैमित्तिक काम २३ प्रकार के है—स्वजन्योत्सव श्राद्ध, देवता दशन, कुल पव आदि। इनके करने मे प्रमाद नही करना चाहिए।

दीक्षा सासिद्धिक साधक को दाक्षा की आवश्यकता नही है, किन्तु अन्यो को आवश्यक है। मल-नाश दीक्षा से ही होता है, क्योकि दीक्षा के बिना शास्त्र का उपदेश नही दिया जा सकता।

साधक अनेक प्रकार के होते है (१) बुभुक्षु साधक जिनकी दृष्टि भोग पर केन्द्रित रहती है। इनके भी दो भेद है (१) शिवधर्मी (२) लोकधर्मी। प्रथम शिवो-

(१) स्वेच्छा से जब सासारिक लोग कुछ नियमो को स्वीकार करके ही खेलते है, खेल मे स्वेच्छा से जिस प्रकार कुछ बधन आवश्यक हे, तथैव जगतरूपी खेल मे शिव कुछ बधन स्वेच्छा से स्वीकार कर लेता है, यथा क्रीडाशील व्यक्ति जब चाहे, खेल बन्द कर देता है, तथैव जगनरूपी क्रीडा शिवेच्छा पर निभर है।—तन्त्रालोक—त्रयोदश आ०, पृष्ठ १७४

(२) वेदाच्छैव ततो वाम, ततो दक्ष ततो मतम्।
तत कुल तत कौल, त्रिक सर्वोत्तम परम्—वही, पृष्ठ १८१

न्मुख होते है, दूसरे केवल सिद्धियो मे रुचि रखते हे । साधको का दूसरा प्रकार पुत्र या समयी साधको का है । जैसे राज्यपुत्र ही राज्य का अधिकारी होता है, तथैव शैव साधना का अधिकारी 'पुत्रक' कहलाता है । समयी के दो प्रकार है (१) सबीज ये साधक क्रम क्रम से मत्र चरुपूजादि से तादात्म्य प्राप्त करते है (२) निर्बीज शिशु आदि को गुरु अपनी शक्ति से भव बधनो से मुक्त कर देता है ।[1]

दीक्षा मे शिक्षा की प्रथम परीक्षा आवश्यक है । गुरु योग्य शिष्य को रूद्र शक्ति से आवेश मे लाने का प्रयत्न करता है । पुष्प को फेक कर, शिष्य की भुजा की ओर देख कर, अकुश की तरह अँगुली बनाकर शिष्य मे आवेश उत्पन्न करे अथवा शिष्य की आखे बन्द कर के उस पर पुष्प फेके अथवा मालिनी का प्रयोग करे । शिष्य की शक्ति को खीचे । यही 'शिव हस्त विधि' कहलाती है ।

मालिनी का प्रयोग इस प्रकार करे शिष्य की नाभि पर क्ष, दण्ड पर 'र', वामभुजा पर 'ऊ' वाम जघा पर 'ऊ' नितम्ब पर 'म' इस प्रकार 'क्ष्रौं' यह कूटमत्र बनता है । इसका उच्चारण करे तो शिष्य मे आवेश उत्पन्न हो जाएगा । वस्तुत एक प्रकार का सम्मोहन (hynotisism) है । एक अन्य प्रक्रिया यह है कि शिष्य को चरु दे, शिष्य उसे निभय होकर पी ले । शीघ्र कम्पन होने लगेगा । 'योगहस्तकग्रथ' एव 'आनन्देश्वर' ग्रथो मे इनका वणन है ।

पुत्रक-दीक्षा वेध दीक्षा (penetration) बिना आवेश के दीक्षा न दे । मालिनी के न्यास से शिष्य आविष्ट होकर भूमि पर गिर पडता है, क्योकि उस पर शक्तिपात होना है अथवा निद्रा आ जाती है । यदि फिर भी आवेश न हो तो उसे 'जड' समझ कर छोड देना चाहिए । जड शिष्यो पर 'स्र्यू' (स = सुधा, र = अग्नि, य = मरुत) तथा ड, ढ, म, र, य का सयुक्त कूट **'स्र्ह्र्यू' तथा 'ड्ढ्म्र्यूँ'** क्रमश इन तीन मत्रो से आवेश अवश्य होता है । यदि इनसे भी आवेश नही हो तो आगे प्रयत्न व्यथ होगा शिष्य के चक्र-वेधन से उसका मन ऊपर के चक्रो की ओर चल पडता है, यदि ऐसा हो तो समझना चाहिए कि वह मुक्ति मार्गी है अन्यथा उस 'पिशाचाविष्ट' समझना चाहिए ।

(१) स्वच्छतत्र मे ज्ञानवान, अभिषिक्त तथा मत्राराधन तत्पर साधक को समयी कहा है । ४–१४५

इस वेध-दीक्षा के कई भेद है। मन्त्र वेव नाद वेध, बिन्दुवेध, भुजगवेध, शक्ति-वेध, परवेध इतने भेद मुख्य है। गह्वरशास्त्र मे इनका वणन है।

मन्त्र वेध—८अर वाले चक्र का ध्यान करके हृत्चक्र का बेधन करना ही मन्त्र वेध है।

नाद-वेध—नाद द्वारा चित्त का वेधन होता है। [1]

बिन्दु-वेध—बिन्दु स्थान गत चित्त भृकुटियो के बीच मे रहता हे, उसका वेध होता हे।

शाक्त-वेध—शक्ति के साथ सयुक्त होकर (सघट्टावस्था) कुडलिनी को जगाना चाहिए।

भुजग-वेध—देवी के पाच-फण होते है, तत्त्व भी पाच है, तिथिया भी पाच है। ये सब शरीर मे स्थित है। इस पाच रूप वाली शक्ति का वेधन करे।

परवेध—इसमे सव भावो का नाश हो जाता हे, अत कोई क्रिया यहा काम नहीं देती, केवल ज्ञान से शिष्य तन्मय हो जाता है। [2]

दीक्षा गुरु का रूप जब तक शिष्य की चेतना मे प्रविष्ट नही होता तब तक दीक्षा अधूरी है। चूँकि यह दीक्षा भुक्ति एव मुक्ति दोनो की दात्री है, अत देवतादि भी इसकी आकाक्षा करते है [3]।

दीक्षा की समाप्ति पर शिष्य को चरु दे। पूणता प्राप्त होने पर ही दीक्षा की समाप्ति हो जाती है। स्वार्थी व्यक्तियो को दीक्षा नही दी जा सकती, ब्रह्म-वेत्ताओ को ही दीक्षा देनी चाहिए।

(१) नाद दीघ समुच्चाय, नाद नादे समाक्रमेत्।
नादिकान्त समुच्चाय, वर्णाध्वान विशोधयेत्
नादेन वेधयेद्देवि नादवेध उदाहृत —तन्त्रालोक जिल्द ११, आ० २९, पृष्ठ १५२

(२) सव भाव परिक्षीण परवेध उदाहृत —वही, पृष्ट १५६

(३) स एष मोक्ष कथितो निस्पन्द सव जन्तुषु
अग्नीषोमकलाघात सङ्घातात् स्पन्दन हरेत्—तन्त्रा० २९ आ०, पृष्ठ १६५

सव जन्तुओ द्वारा इच्छित मोक्ष की प्राप्ति दीक्षाकाल मे नाडी योग द्वारा हो बतायी गई है।

न्मुख होते है, दूसरे केवल सिद्दियो मे रुचि रखते हे । साधको का दूसरा प्रकार पुत्र या समयी साधको का है । जैसे राज्यपुत्र ही राज्य का अधिकारी होता है, तथैव शैव साधना का अधिकारी 'पुत्रक' कहलाता हे । समयी के दो प्रकार है (१) सबीज ये साधक क्रम क्रम से मत्र चक्रपूजादि से तादात्म्य प्राप्त करते है (२) निर्बीज शिशु आदि को गुरु अपनी शक्ति से भव बधनो से मुक्त कर देता है ।[1]

दीक्षा मे शिक्षा की प्रथम परीक्षा आवश्यक है । गुरु योग्य शिष्य को रुद्र शक्ति से आवेश मे लाने का प्रयत्न करता है । पुष्प को फेक कर, शिष्य की भुजा की ओर देख कर, अकुश की तरह अँगुली बनाकर शिष्य मे आवेश उत्पन्न करे अथवा शिष्य की आखे बन्द कर के उस पर पुष्प फेके अथवा मालिनी का प्रयोग करे । शिष्य की शक्ति को खीचे । यही 'शिव हस्त विधि' कहलाती हे ।

मालिनी का प्रयोग इस प्रकार करे शिष्य की नाभि पर क्ष, दण्ड पर 'र', वामभुजा पर 'ऊ' वाम जघा पर 'ऊ' नितम्ब पर 'म' इस प्रकार 'क्ष्ँ' यह कूटमत्र बनता है । इसका उच्चारण करे तो शिष्य मे आवेश उत्पन्न हो जाएगा । वस्तुत एक प्रकार का सम्मोहन (hynotisism) है । एक अन्य प्रक्रिया यह है कि शिष्य को चरु दे, शिष्य उसे निभय होकर पी ले । शीघ्र कम्पन होने लगेगा । 'योगहस्तकग्रथ' एव 'आनन्देश्वर' ग्रथो मे इनका वणन हे ।

पुत्रक- दीक्षा वेध दीक्षा (penetration) बिना आवेश के दीक्षा न दे । मालिनी के न्यास से शिष्य आविष्ट होकर भूमि पर गिर पडता है, क्योकि उस पर शक्तिपात होना है अथवा निद्रा आ जाती है । यदि फिर भी आवेश न हो तो उसे 'जड' समझ कर छोड देना चाहिए । जड शिष्यो पर 'स्र्यूँ' (स = सुधा, र = अग्नि, य = मरुत) तथा ड, ढ, म, र, य का सयुक्त कूट 'र्ह्दयूँ' तथा 'ड्ढम्र्यूँ' क्रमश इन तीन मत्रो से आवेश अवश्य होता है । यदि इनसे भी आवेश नही हो तो आगे प्रयत्न व्यथ होगा शिष्य के चक्र-वेधन से उसका मन ऊपर के चक्रो की ओर चल पडता है, यदि ऐसा हो तो समझना चाहिए कि वह मुक्ति मार्गी है अन्यथा उस 'पिशाचाविष्ट' समझना चाहिए ।

(१) स्वच्छतत्र मे ज्ञानवान, अभिषिक्त तथा मत्राराधन तत्पर साधक को समयी कहा है । ४–१४५

इस वेध-दीक्षा के कई भेद है। मन्त्र-वेव, नाद-वेध, बिन्दुवेध, भुजगवेध, शक्ति-वेध, परवेध इतने भेद मुख्य है। गह्वरशास्त्र मे इनका वणन है।

मन्त्र वेध—ऊपर वाले चक्र का ध्यान करके हृत्चक्र का बेधन करना ही मन्त्र वेध है।

नाद-वेध—नाद द्वारा चित्त का बेधन होता है। [1]

बिन्दु-वेध—बिन्दु स्थान गत चित्त भृकुटियो के बीच मे रहता है, उसका वेध होता है।

शाक्त वेध—शक्ति के साथ सयुक्त होकर (सघट्टावस्था) कुडलिनी को जगाना चाहिए।

भुजग-वेध—देवी के पाच-फण होते है, तत्त्व भी पाच है, तिथिया भी पाच है। ये सब शरीर मे स्थित है। इस पाच रूप वाली शक्ति का वेधन करे।

परवेध—इसमे सव भावो का नाश हो जाता है, अत कोई क्रिया यहा काम नहीं देती, केवल ज्ञान से शिष्य तन्मय हो जाता है। [2]

दीक्षा गुरु का रूप जब तक शिष्य की चेतना मे प्रविष्ट नही होता तब तक दीक्षा अधूरी है। चूँकि यह दीक्षा भुक्ति एव मुक्ति दोनो की दात्री है, अत देवतादि भी इसकी आकाक्षा करते है[3]।

दीक्षा की समाप्ति पर शिष्य को चरु दे। पूणता प्राप्त होने पर ही दीक्षा की समाप्ति हो जाती है। स्वार्थी व्यक्तियो को दीक्षा नही दी जा सकती, ब्रह्म वेत्ताओ को ही दीक्षा देनी चाहिए।

(१) नाद दीघ समुच्चाय, नाद नादे समाक्रमेत्।
नादिकान्त समुच्चाय, वर्णाध्वान विशोधयेत्
नादेन वेधयेद्देवि नादवेध उदाहृत —तन्त्रालोक जिल्द ११, आ० २९, पृष्ठ १५२

(२) सव भाव परिक्षीण परवेध उदाहृत —वही, पृष्ट १५६

(३) स एष मोक्ष कथितो नि स्पन्द सव जन्तुषु
अग्नीषोमकलाघात सङ्घातात् स्पन्दन हरेत्—तन्त्रा० २९ आ०, पृष्ठ १६५

सव जन्तुओ द्वारा इच्छित मोक्ष की प्राप्ति दीक्षाकाल मे नाडी योग द्वारा ही बतायी गई है।

शिष्य को चाहिए कि वह गुरु के साथ परब्रह्म का ध्यान कर मदिरा का पान करे और पचभूतो का तपण करे। इसकी अन्य विधिया 'गुरु' ही बना सकता है।[1]

स्नान मल नाश के लिए स्नान किया जाता है। परन्तु शैवो मे आतरिक स्नान का ही महत्त्व अधिक है। बाह्यस्नान के साथ-साथ साधक को शिव विमश अवश्य करना चाहिए।

तत्त्व स्नान तत्त्वस्नान का महत्त्व भी ग्राह्य है। पृथ्वी, वायु, आकाश आदि मे से किसी एक तत्त्व का ध्यान करने से 'स्नान' हो जाता है। शिव की अष्टमूर्तियो से भी ध्यान होता है—सग्राम भूमि की धूलि (रण रेणु), वीरजल (शिवाम्बु) वीरभस्म (श्मशान अग्नि), महामरुत (श्मशान रज से युक्त वायु) श्मशान अरण्य, गगन, सूम और चन्द्र ये शिव की अष्टमूर्तिया है।

मद्यस्नान नवम् है। यह आनद का जनक है, अत पवित्रकारक है[2]।

आतरिक स्नान वास्तविक स्नान तो सोम-नाडी से झरते हुए अमृत से स्नान है।[3] शरीर मे स्थित नदिया-सूम-चन्द्र आदि ही मुक्ति देते हैं, बाह्य देश, तीथ आदि केवल विघ्न नाशन के लिए है।

पीठ कलिंग आदि निषिद्ध देश ही शैव साधन के लिए उपयुक्त हैं। परन्तु वस्तुत आतरिक पीठ ही मुख्य हैं, बाह्य पीठादि तो उन्ही के आभास मात्र है। आतरिक पीठ बिन्दु नाद मय हैं। बायीं ओर बिन्दु और दायी ओर नाद है। ऊपर अग्र पीठ है। अग्र पीठ ही काम रूप, है। नाद ही 'पूणगिरि' के रूप मे

(१) अलिपात्र सुसपूण वीरेन्द्रकरसस्थितम्—
अवलोक्य परब्रह्म तत्पिवेदाज्ञया गुरो ।
तपयित्वा तु भूतानि, गुरवे विनिवेदयेत्—वही, पृष्ठ १७०

(२) तासामानन्द जनक मद्य शिवमय तत ।
प्रबुद्धे सविद पूर्णे, रूपेऽधिकृति भाजनम्—तत्रा० जिल्द ६, १५ आ० पृष्ठ ४०

(३) आन्तर तद्यथोर्ध्वेन्दु धारामृत परिप्लव ।
यतोरन्ध्रोध्व गा साध मङ्गल व्याप्य सस्थिता—तत्रा० १५ आ०, पृष्ठ ४२

व्यक्त है। 'उड्डियान' भी इसी प्रकार 'उत्तर दशा' को व्यक्त करना है। अत पीठ वस्तुत आतरिक है। 'प्राण' मे सवित् का दर्शन ही मुख्य है, बाह्य भ्रमण (तीर्थादि मे) व्यर्थ है।[1] मुक्ति स्थान जन्य नही है, गुरु जो तत्त्व ज्ञान दे उसकी दृढता के लिए पूजनादि होते है। जिस स्थान पर हृदय अम्भोज विकसित हो, वही स्थान श्रेष्ठ है।[2]

तत्र मे इस साधना को अतर्याग कहा गया है। इसी से अज्ञान का नाश होता है, आडम्बर से नही।

न्यास शरीर के विभिन्न स्थानो पर वर्णमाला (मातृका, मालिनी) के वर्णो की स्थापना करना न्यास है। वर्ण स्थापना से आवेश उत्पन्न होता है।[3] जो वर्णमाला शिव शक्ति के सघट्ट से उत्पन्न हुई है, जिसमे क्षुभित शक्ति विद्यमान है, वह प्रत्येक प्रकार की सिद्धि दे सकती है। पूर्ण-प्रकाशात्मक ब्रह्म की बहिरुन्मुखता के पूर्व आतरिक एकात्म्य शक्ति को ही 'मातृका' कहते है, क्योकि यह ब्रह्म की वह दशा है, जब कि वह सृष्टि के लिए उन्मुख होता है, अत इसका 'न्यास' के समय ध्यान करने से वही दशा प्राप्त होती है और क्योकि रुद्र इसे धारण करते है, स्वीकार करते है, अत यह पूजा योग्य है। भुक्ति एव मुक्ति दोनो को प्राप्त कराने की शक्ति मालिनी मे है[4] अथवा मालिनी मे सहार की शक्ति है[5], अत यह पूज्य है। मालिनी से पूरित होने पर ही मत्र फल देते है। मालिनी का महत्त्व यहा तक कहा गया हे कि ज्ञान एव योग के बिना भी न्यासादि क्रियाएँ अवश्य फल देती है और स्वत शनै शनै तन्मयता उत्पन्न होने लगती है।[6]

(१) मुख्यत्वेन शरीरेऽन्त प्राणे सविदि पश्यत ।
विश्वमेतत्किमन्यै , स्यादबहिर्भ्रमण डम्बरै ।—वही, पृष्ठ ५२

(२) यत्र यत्र हृदम्भोज, विकास प्रतिपद्यते
तत्रैव धाम्नि बाह्येऽन्तर्यागश्री प्रतितिष्ठति—वही, पृष्ठ ५५ ५६

(३) इत्येषा मालिनी देवी, शक्तिमत्क्षोभिता यत ।
कृत्यावेशात्तत शाक्ती तनु सा परमार्थत —वही, पृष्ठ ६५

(४) मालिनी माल्यते धार्यते रुद्रैरात्मतया स्वीक्रियते—वही, पृष्ठ ६९ ७०

(५) सहारस्य अलिनी विमर्शिका, मा शब्द वाच्य सहार राति, लाति—
परमार्थत सा शाक्ती तनु —वही, पृष्ठ ७०

(६) विनापि ज्ञानयोगाभ्या क्रिया न्यासार्चनादिका—वही, पृष्ठ ७८

शुद्धि-अशुद्धि शिव रूपी सूय के स्पश से सब पदाथ शुद्ध है, अत आनन्द का अतिशय करने वाले मदिरादि पदार्थ सेवनीय हे। शैवसाधको की महत्त्वा काक्षा तो यहा तक थी कि कौल साधना के लिए सारी नदियो म मदिरा का प्रवाह होना चाहिए था, सारे पवत मास पिण्ड बन जाने चाहिए थे और सारा जगत स्त्रीमय हो जाना चाहिए था।[1] अत वैदिक आचार मे जो अभक्ष्य है वह भी यहा भक्ष्य है। यहा विषय भेद नही हे। शैव मन्त्र सारे सदेहो और शकाओ को ध्वस्त कर देता है। अहकार के नाश से सारी वस्तुएँ शुद्ध हो जाती है।

मूर्ति प्रस्तर प्रतिमा को मूर्ति नही कहते। मूर्ति का सम्बध चैतन्य से है। अहकार के नाश से जब देहाध्यास नष्ट हो जाता हे और शिव के साथ तादात्म्य प्राप्त होता है और जब चेतना निस्तरग हो जाती है, तब इस स्थिति के पश्चात् जो स्वत स्फूत तरग उत्पन्न होती है, उसे 'मूर्ति' कहते है, अत मूर्ति चेतना का प्रथम स्फुरण है।[2] क्योकि सवित् का काय सृष्टि करता है, अत चैतन्य अपने एक अश सवित् से जिस रूप की सृष्टि करता है वह है 'मूर्ति'। बाह्य मूर्तिया केवल 'तादात्म्य प्राप्ति के लिए है।

आतरिक मूर्ति, प्रणव, बिन्दु, नाद के रूप मे प्रकट होती है, अत प्रणव एव नाद से व्याप्त वणमाला द्वारा न्यास 'जीव' के 'अणुत्व' (अपूणता) को दूर करता हे, यह 'मूर्ति न्यास कहलाता है।

यह मुख, पीठ, कठादि मे ६ स्थानो पर किया जाता है। शक्ति न्यास ६ प्रकार का है, कोई इसे १६ प्रकार का कहते है।

मुद्रा शिव की शक्ति ही शरीर-चेष्टाओ मे प्रकट होती है। अत मुद्रा, शिव-शक्ति का नाम है। इसके अनेक प्रकार है—I मनोजा मुद्रा (यह गुरुमुख से ही सुने) II वाग्भवा III मन्त्रजा।

(१) न नद्यो मधु वाहिन्यो, न पल पवतोपमम्।
स्त्री मय न जगत्सव, कुत सिद्धि कुलागमे।—तन्त्रालोक, १५ आ०, पृष्ठ ८६।

(२) तस्मिन्ध्रुवे निस्तरङ्गे, समापत्तिमुपागत।
सविद सृष्टिधर्मित्वादाद्यामेति तरङ्गिताम्।
सैव मूर्तिरिति ख्याता, तारस द्विन्दुहात्मिका—तन्त्रालोक १५ आ०, पृष्ठ ११८ ११६।

देह के विक्षप से मुद्रा के अनेक भेद है।

मूर्ति न्यास से प्रारम्भ करके सृष्टि मात्र के साथ तादात्म्य करना चाहिए। सृष्टि सवित् का ही अवभास (विजृम्भण) है। तादात्म्य से लाभ यह है कि जैसे "मै दुष्ट कम करता हू' ऐसा परामश होने से पाप लग जाता है, तथैव मै शिव हू, अद्वितीय हू' ऐसे तादात्म्य से शिवता प्राप्त होती ह, विमश मे दृढता आती हे।

न्यासादि सवदा वाम कर से करना चाहिए, दक्षिण हस्त से पशु (वैदिक आचार कर्त्ता) करते है, वामाचार मे वाम कर द्वारा ही क्रिया होनी चाहिए [1]। वाम शब्द का अर्थ है, ससार से विपरीत लोक बहिष्कृत मुक्तिदायी रहस्य आचार [2] वाम शब्द का अर्थ 'रहस्य' है [3]।

इस रहस्य साधना मे 'न्यास क्रिया' आनन्द या आवेश उत्पन्न करने के लिए की जाती है। चूकि पिण्ड ही ब्रह्माण्ड है अत पने शरीर की पूजा ही यहा विधेय है और भुक्ति काम के लिए प्रत्येक पदाथ का सेवन विधेय है। लोभादि ग्रस्त लोग शक्ति पात की प्राप्ति नही कर सकते। [4]

शरीर पूजा के लिए मद्य, मास एव मैथुन आवश्यक है, क्योकि जीवात्मा का मन प्रारम्भ मे स्वत इनकी ओर आकर्षित होता है। पशु शास्त्र (वैदिक शास्त्र) मे इस स्वाभाविक वृत्ति का नाश सिखाया जाता है परन्तु इससे मन विद्रोह करता हे, गुहा मे स्थित सप के समान यह मन सन्यास ले लेने पर भी कभी भी आक्रमण कर सकता है, अत मन को मार कर साधना 'पशु-साधना' है। मन की स्वाभाविक वृत्ति को समझ कर उसे शनै शनै वश मे लाने का प्रयत्न शैव-साधना मे ही होता है, मन के उन्नयन (Sublimation) के लिए ही मास मदिरादि की व्यवस्था है न कि दुराचार के सरक्षण के लिए चूकि शरीर पूजा मे मक रोपासना के समय 'समयी' (पुत्रक-साधक) ज्ञान द्वारा अपनी वृत्तियो की क्रमश

(१) ससार वामाचारत्वात्सव वामकरेण तु।
कुर्यात्तपण योग च देशिकस्नदनामया—तन्त्रालोक—१५ आह्निक, पृष्ठ १३७

(२) वाम ससार विपरीतो लोक बहिष्कृतो मुक्त्यनुगुणो रहस्य आचार —वही पृष्ठ १३७

(३) रहस्य सर्व भूताना वाम शब्देन कीत्यते—वही, पृष्ठ १३८

(४) लोभादिग्रस्त शक्तिपात न विन्दति-वही, पृष्ठ २१५

शिवतत्व की ओर ले जाने का प्रयत्न करता है, अत जो मकार' अन्य जीवो के लिए बधन बनाते है, वे शिव विषयक होने से मुक्ति के साधन बन जाते हे। अत समयी को जो रुचिकर हो, उसे ही करना चाहिए। मास मदिरा, मैथुन, रक्तपान, शिरच्छेद रक्त मूत्र विष्टा लेपन पवत, अश्व गजादि का आरोहण आदि सब विधेय है, क्योकि वस्तुए मुख्य नही है, आह्लाद ही मुख्य है।[1]

तान्त्रिको के अनुसार मन मकारो' की ओर क्यो जाता हे, इसका एक कारण यह भी बताया गया है कि साधना मे बीज शुद्धि आवश्यक है और बीज स्त्रियो मे प्रतिष्ठित है, इसलिए चित्त चाडाल जाति की स्त्रियो की ओर जाता है।

ब्राह्मणत्व का कारण बीज शुद्धि है, अत शुभ अशुभ का विचार न करके चित्त का सस्कार करना चाहिए क्योकि जन्म से कोई ब्राह्मण नही होता जिसकी आत्मा शान्त हो जाती है वही द्विज कहलाता है। शूद्र भी शीलवान होकर ब्राह्मण हो जाता है। गुण ही कल्याण कारक है, जाति नही, क्योकि अन्त्यज जातियो मे भी साधक देखे जाते है, अत माया ग्रस्त द्विजत्याज्य है और माया विजयी म्लेच्छ आदर का पात्र है, चतुर्वेदो का दाम्भिक पडित शिव का प्रिय नही हो सकता। महाभारत के इस कथन को शैव मानते है।[2] जातिभेद माना जाता तो धीवरी से उत्पन्न व्यास को ऋषि क्यो माना गया। अत पशु शास्त्रो मे ही जाति शका है। यहा तो चैतन्य के साथ तादात्म्य कर जो सस्कृत हो गया है, वही द्विज है।

(१) हृद्यास्त्री मद्यपान चाप्याममासस्यभक्षणम्
रक्तपान शिरश्छेदो, रक्तविण्मूत्रलेपनम्
पवनाश्वगजप्राय हृद्ययुग्याधिरोहणम्—
यत्प्रीत्यै स्यादपि प्रायस्तत्रच्छुभमुदाहृतम्
त ख्यापयेतुष्टिवृद्ध्यै ह्लादो हि परम फल। वही, पृष्ठ २४२

(२) योनिनकारण तत्र, शान्तात्मा द्विज उच्यते—तत्रा० आ० १५, पृष्ठ २५४
शूद्रोऽपि शीलसम्पन्नो गुणवान्ब्राह्मणो भवेत।
पञ्चेन्द्रियार्णव घोर यदि शूद्रोऽपि तीर्णवान्—वही, पृष्ठ २५५
तस्मै दान प्रदातव्यमप्रमेय युधिष्ठिर॥
न जातिद्दश्यते राजन्गुणा कल्याण कारका—तत्रा०, आ० १५, पृष्ठ २५५ पर उद्धृत

वामाचार का अर्थ यह नही है कि व्यवहार मे सद्गुणो का अभ्यास न करे। 'समयी असत् परुष वचन न कहे, हिंसा, परदाराविमश, गर्व, दम्भ, अभिचारादि से बचे अर्थात् प्रथम अवस्था मे शैव-साधना कठोर नियम के अतगत ही 'समयी' को रखती है। परन्तु ज्ञान-प्राप्त हो जाने पर विधि-निषेध अस्वीकृत है। साधना के समय विधि निषेध का उल्लघन समयी भी कर सकता हे, परन्तु लोक व्यवहार मे नही। साधना काल मे भी कुछ नियम रह जाते है—यथा गुरु के घर की स्त्रियो का साधना मे उपभोग नही हो सकता।

समयाचार मे स्त्रियो का महान आदर है—प्रत्येक प्रकार की स्त्री का सम्मान आवश्यक है—

स्त्रिय पूज्या विरूपास्तु, वृद्धा शिल्पोपजीविका
अन्त्या विकारिताङ्गयश्च वेश्या स्वच्छन्दचेष्टिता।
निराचारा सर्वभक्ष्या धर्माधर्म विवर्जिता।
स्वच्छन्दगा पराशिन्यो लम्पटा देवता इव। [1]

जन वर्जित स्थान मे साधना करनी चाहिए। मास एव मदिरा की गध से देवियाँ प्रसन्न होती है। यह शरीर ही आयतन है, मत्र ही तीथ है, सुख का ज्ञान ही विधि है, अत वैदिक विधियो का जाल व्यथ है। यह काया सवदेवमय है मकारो से इसकी पूजा कर आह्लाद प्राप्त करे और उस आह्लाद के द्वारा परमाह्लाद को प्राप्त करे।

'देवारय-यामल' मे मुद्रा को बिम्ब (चैतन्य) का प्रतिबिम्ब माना गया है।[2] श्रम की स्फुरण जब शरीर मे होती है तो शरीर मे कुछ विचित्र परिवतन होते है, ये ही मुद्राएँ है।[3] अत मुद्रा से बिम्ब का उदय हो सकता हे।[4] मुद्रा ब्रह्म को जानने का साधन है।

शिवतत्व की ओर ले जाने का प्रयत्न करता है, अत जो 'मकार' अन्य जीवो के लिए बधन बनाते है वे शिव विषयक होने से मुक्ति के साधन बन जाते है। अत समयी को जो रुचिकर हो, उसे ही करना चाहिए। मास मदिरा मैथुन, रक्तपान, शिरच्छेद रक्त मूत्र विष्टा लेपन पवत, अश्व गजादि का आरोहण आदि सब विधेय है, क्योकि वस्तुए मुख्य नही है, आह्लाद ही मुख्य है।[1]

तान्त्रिको के अनुसार मन 'मकारो' की ओर क्यो जाता है, इसका एक कारण यह भी बताया गया है कि साधना मे बीज शुद्धि आवश्यक है और बीज स्त्रियो मे प्रतिष्ठित है, इसलिए चित्त चाडाल जाति की स्त्रियो की ओर जाता है।

ब्राह्मणत्व का कारण बीज शुद्धि है, अत शुभ अशुभ का विचार न करके चित्त का सस्कार करना चाहिए क्योकि जन्म से कोई ब्राह्मण नही होता जिसकी आत्मा शान्त हो जाती है वही द्विज कहलाता है। शूद्र भी शीलवान होकर ब्राह्मण हो जाता है। गुण ही कल्याण कारक है, जाति नही, क्योकि अन्त्यज जातियो मे भी साधक देखे जाते है, अत माया ग्रस्त द्विजत्याज्य है और माया विजयी म्लेच्छ आदर का पात्र है, चतुर्वेदो का दाम्भिक पडित शिव का प्रिय नही हो सकता। महाभारत के इस कथन को शैव मानते है।[2] जातिभेद माना जाता तो धीवरी से उत्पन्न व्यास को ऋषि क्यो माना गया। अत पशु शास्त्रो मे ही जाति शका है। यहा तो चैतन्य के साथ तादात्म्य कर जो सस्कृत हो गया है, वही द्विज है।

(१) हृद्यास्त्री मद्यपान चाप्याममासस्यभक्षणम्
रक्तपान शिरश्छेदो, रक्तविण्मूत्रलेपनम्
पर्वताश्वगजप्राय हृद्ययुग्याधिरोहणम्—
यत्प्रीत्यै स्यादपि प्रायस्तत्रच्छुभमुदाहृतम्
त व्यापयेतुष्टिवृद्ध्यै ह्लादो हि परम फल। वही, पृष्ठ २८२

(२) योनिनिकारण तत्र, शान्तात्मा द्विज उच्यते—तत्रा० आ० १५, पृष्ठ २५४
शूद्रोऽपि शीलसम्पन्नो गुणवान्ब्राह्मणो भवेत।
पञ्चेन्द्रियाणव घोर यदि शूद्रोऽपि तीर्णवान्—वही, पृष्ठ २५५
तस्मै दान प्रदातव्यमप्रमेय युधिष्ठिर॥
न जातिदृश्यते राजन्गुणा कल्याण कारका—तत्रा०, आ० १५, पृष्ठ २५५ पर उद्धृत

वामाचार का अर्थ यह नही है कि व्यवहार मे सद्गुणो का अभ्यास न करे। 'समयी असत् परुष वचन न कहे हिंसा, परदाराविमश, गर्व, दम्भ, अभिचारादि से बचे अर्थात् प्रथम अवस्था मे शैव साधना कठोर नियमा के अतगत ही 'समयी' को रखती है। परन्तु ज्ञान-प्राप्त हो जाने पर विधि निषेध अस्वीकृत है। साधना के समय विधि निषेध का उल्लघन समयी भी कर सकता है, परन्तु लोक व्यवहार मे नही। साधना काल मे भी कुछ नियम रह जाते है—यथा गुरु के घर की स्त्रियो का साधना मे उपभोग नही हो सकता।

समयाचार मे स्त्रियो का महान आदर है—प्रत्येक प्रकार की स्त्री का सम्मान आवश्यक है—

> स्त्रिय पूज्या विरूपास्तु, वृद्धा शिल्पोपजीविका
> अन्त्या विकारिताङ्गयश्च वेश्या स्वच्छन्दचेष्टिता ।
> निराचारा सर्वभक्ष्या धर्माधर्म विवर्जिता ।
> स्वच्छन्दगा पञ्चाशिन्यो, लम्पटा देवता इव । [1]

जन वर्जित स्थान मे साधना करनी चाहिए। मास एव मदिरा को गध से देविया प्रसन्न होती है। यह शरीर ही आयतन है, मत्र ही तीथ है, सुख का ज्ञान ही विधि है, अत वैदिक विधियो का जाल व्यथ है। यह काया सवदेवमय है मकारो से इसकी पूजा कर आह्लाद प्राप्त करे और उस आह्लाद के द्वारा परमाह्लाद को प्राप्त करे।

'देवाख्य यामल' मे मुद्रा को बिम्ब (चैतन्य) का प्रतिबिम्ब माना गया है।[2] ब्रह्म की स्फुरण जब शरीर मे होती है तो शरीर मे कुछ विचित्र परिवतन होते है, ये ही मुद्राएँ है।[3] अत मुद्रा से बिम्ब का उदय हो सकता है।[4] मुद्रा ब्रह्म को जानने का साधन है।

(१) तन्त्रा० १५ आ०, पृष्ठ २६७

(२) प्रति बिम्बोदयोमुद्रा तन्त्रा०, जिल्द १२, आ० ३२, पृष्ठ ३०४

(३) मुद्रा बिम्बोदयो नाम्ना वही, पृष्ठ ३०४

(४) बिम्बात्समुदयो यस्या, इत्युक्ता प्रतिबिम्बिता ।
बिम्बस्य यस्या उदय इत्युक्ता ततुपायता—वही, पृष्ठ ३०४

मुद्रा का एक और अथ यह हो सकता है —मुद्रा वह हे जिसमे देवता द्रवित हो। देवता मुद्राओ से प्रसन्न होता है[1] अथवा अशेष पाशवालो से जो मोचन कराती हैं, वह मुद्रा है।[2]

इसी प्रकार विद्वान अनेक अथ कर सकते है। मुद्राओ मे मुरय 'खेचरी मुद्रा' ह। इसके अतिरिक्त त्रिशूलिनी, करिङ्कणी, क्रोधना, भैरवी, लेलिहानिका, महाप्रेता, योगमुद्रा, ज्वालिनी, क्षोभिणी, ध्रुवा आदि अनेक मुद्राएँ है।

शरीर की दृष्टि से काममुद्रा, कर मुद्रा, वाक् मुद्रा और चित्त मुद्रा है। इनमे वाणी मुद्रा से मत्र उच्चारण का तात्पय है। चित्त मुद्रा का अथ अत करण मे प्रवेश करता है।

कर-मुद्रा—अगुलियो के विविध न्यासो से अनेक कर मुद्राएँ बनती है।

काम-मुद्रा—इसमे शरीर को एक स्थिति मे रखना होता है।

मुद्रा मे मानसिक स्थिति मूलाधार स शक्ति को उद्रिक्त कर योगी नाभि देश मे मन का निवेश करे और वही बार बार मन को रोककर, इडा, पिगला की वायु का मध्यम माग मे समावेश करे। विन्दु, नाद और ब्रह्मरध्र नामक तीनो आकाशो तक प्राण को ले जावे ओर वही कुम्भक द्वारा प्राण को रोक ले पुन शक्ति (व्यापिनी के पूव की स्थिति) व्यापिनी एव समना इन तीन आकाशों को पार करके उन्मनावस्था की ओर बढे और परम शिव मे लीन हो जाय। यही गगन चारित्व हे। 'परम व्योम' भी यही है।

द्वितीय विधि नाद, विन्दु, मरुत तथा इनके बाद ब्रह्मरन्ध्र है, अत मूलाधार से नाद, बिन्दु शक्ति इन तीनो आकाशो मे मन को रखकर पुन इन्हे बेधकर शिवत्व को प्राप्त करे।[3]

(१) मुद स्वरूपलाभारय, देहद्वारेण चात्मनाम्—
रात्यपयति यत्तेन, मुद्रा शास्त्रयेषु वर्णिता—
(मु = स्वरूपलाभ, द = देह के द्वारा, राति = देता है, अन मोदयति इति-मुद्रा, अथवा द्रावयनि इति मुद्रा।— तन्त्रा० ३२ आ०, पृष्ठ ३०५

(२) इत्याशयेन मुद्रा, मोचयते पाशजाल तो ऽशेषात्।
कार्यायियान्पुयष्टक सस्कारान्द्रावयेत्तथा—वही, पृष्ठ ३०५

(३) ध्वनिज्योतिमरुद्युक्त, चित्त विश्रम्य चोपरि।
अनेनाभ्यास योगेन, शिव भित्त्वा पर व्रजेत् —वही, पृष्ठ ३१०

त्रिशूलिनी मुद्रा हाथो को कठ के नीचे रख ले, बाएँ पैर को दक्षिण पर रख ले । कनिष्ठका तथा मध्यमा से नासिका छिद्रो को विदीण करे ओर अनामिका एव तजनी से, भ्रूभग को कुचित करे, मत्र पढता हुआ जिह्वा का चालन करे तथा हा, हा, हा, हा करे ।

ब्रह्मरध्र मे इस त्रिशूल के प्रयोग से योगी पृथ्वी को छोड दता है अर्थात् अहकार का नाश हो जाता है । अत मे आकाश भाव को छोडकर रस मे रस की तरह शिव मे लीन हो जाता है ।

खेचरी मुद्रा निष्कला मुद्रा है, इसी के भेद रूप अनेक मुद्राएँ है । एकही बीजमत्र और एकही खेचरी मुद्रा है । आवेश शून्य मुद्रा वास्तविक मुद्रा नही है । देह के विकार को मुद्रा नही कहते ।

निष्कलावस्था मे स्थित योगी खेचरी मुद्रासीन हो जाता है ।

(१) **चक्र-पूजा** नैमित्तिक कर्मो मे स्वजन्योत्सव, श्राद्ध, देवता दशन, कुल पव आदि है ।

पव दिवस पर शक्ति याग करना चाहिए । मारण मोहनादि करने से पर्वा पर अवश्य सिद्धि होती है । यज्ञ एव पूजा आदि के तिथि तथा पव का विशेष महत्त्व है ।

चक्र पूजा के लिए भी तिथि का विचार करे । गुरु पत्नी, भ्राता तथा पुत्र सम्बधी स्त्रियो को चक्र पूजा मे न लाना चाहिए । सिद्धान्तत सवत्र विचरण हो सकता है ।

चक्र याग मे स्त्री को योगिनी कहते है । यह योगिनी मिलन दो प्रकार का है—(i) हठत (ii) प्रियत । किसी प्रकार किसी स्त्री को साधना के लिए तैयार कर लेना प्रियत प्रयोग है और बलात् किसी को पकड लेना हठत प्रयोग हे । इस नैमित्तिक योगिनी-मेलक से अवश्य फल होता है, क्योकि सवत्र सवित् का प्रकाश है, भेद ज्ञान सकुचित दृष्टि है । अत सकुचित चेतना योगिनी के साथ सघट्टित होने पर स्वच्छन्द तथा प्रकाश युक्त हो जाती है[1] । परस्पर मिलने

(१) चक्र का अथ है—चित्त का विकास जिसके द्वारा हो अथवा तृप्ति, पाश का छेदन चक्र के द्वारा होता है, ऐसा भी अथ हो सकता हे । कसी, विकासे, चक्र तृप्तौ, कृतीच्छेदने, डुकृञ् करणे इन धातुओ से चक्र शब्द बताया गया है—तत्रा० जिल्द १२ आ० २९, पृष्ठ ७६

मुद्रा का एक और अथ यह हो सकता है —मुद्रा वह है जिसमे देवता द्रवित हो। देवता मुद्राओ से प्रसन्न होता है[1] अथवा अशेष पाशवालो से जो मोचन कराती है, वह मुद्रा है।[2]

इसी प्रकार विद्वान अनेक अथ कर सकते है। मुद्राओ मे मुख्य 'खेचरी मुद्रा' है। इसके अतिरिक्त त्रिशूलिनी, करिङ्कणी, क्रोधा, भैरवी, लेलिहानिका, महाप्रेता, योगमुद्रा, ज्वालिनी, क्षोभिणी, ध्रुवा आदि अनेक मुद्राएँ है।

शरीर की दृष्टि से काममुद्रा, कर मुद्रा, वाक् मुद्रा और चित्त मुद्रा है। इनमे वाणी मुद्रा से मत्र उच्चारण का तात्पय है। चित्त मुद्रा का अथ अत करण मे प्रवेश करता है।

कर मुद्रा—अगुलियो के विविध न्यासो से अनेक कर मुद्राएँ बनती है।

काम मुद्रा—इसमे शरीर को एक स्थिति मे रखना होता है।

मुद्रा मे मानसिक स्थिति मूलाधार से शक्ति को उद्रिक्त कर योगी नाभि-देश मे मन का निवेश करे और वही बार बार मन को रोककर, इडा, पिगला की वायु का मध्यम माग मे समावेश करे। विन्दु, नाद और ब्रह्मरध्र नामक तीनो आकाशो तक प्राण को ले जावे और वही कुम्भक द्वारा प्राण को रोक ले पुन शक्ति (व्यापिनी के पूव की स्थिति) व्यापिनी एव समना इन तीन आकाशो को पार करके उन्मनावस्था की ओर बढे और परम शिव मे लीन हो जाय। यही गगन चारित्व है। 'परम व्योम' भी यही है।

द्वितीय विधि नाद, विन्दु, मरुत तथा इनके बाद ब्रह्मरन्ध्र है, अत मूलाधार से नाद, बिदु शक्ति इन तीनो आकाशो मे मन को रखकर पुन इन्हे बेधकर शिवत्व को प्राप्त करे।[3]

(१) मुद स्वरूपलाभाख्य, देहद्वारेण चात्मनाम्—
रात्यपयति यत्तेन, मुद्रा शास्त्रयेषु वर्णिता—
(मु = स्वरूपलाभ, द = देह के द्वारा, राति = देना है, अन मोदयति इति-मुद्रा, अथवा द्रावयनि इति मुद्रा।— तत्रा० ३२ आ०, पृष्ठ ३०५

(२) इत्याशयेन मुद्रा, मोचयते पाशजाल तो ऽशेषात्।
कार्यायियान्पुयष्टक सस्कारान्द्रावयेत्तथा—वही, पृष्ठ ३०५

(३) ध्वनिज्योतिमरुद्युक्त, चित्त विश्रम्य चोपरि।
अनेनाभ्यास योगेन, शिव भित्त्वा पर व्रजेत् —वही, पृष्ठ ३१०

त्रिशूलिनी मुद्रा हाथो को कठ के नीचे रख ले, बाएँ पैर को दक्षिण पर रख ले। कनिष्ठका तथा मध्यमा से नासिका छिद्रो को विदीण करे ओर अनामिका एव तजनी से, भ्रूभग को कुचित करे, मत्र पढता हुआ जिह्वा का चालन करे तथा हा, हा, हा, हा करे।

ब्रह्मरध्र मे इस त्रिशूल के प्रयोग से योगी पृथ्वी को छोड देता है अर्थात् अहकार का नाश हो जाता ह। अत मे आकाश भाव को छोडकर रस मे रस की तरह शिव मे लीन हो जाता है।

खेचरी मुद्रा निष्कला मुद्रा है, इसी के भेद रूप अनेक मुद्राएँ है। एकही बीजमत्र और एकही खेचरी मुद्रा है। आवेश शून्य मुद्रा वास्तविक मुद्रा नही है। देह के विकार को मुद्रा नही कहते।

निष्कलावस्था मे स्थित योगी खेचरी मुद्रासीन हो जाता है।

(१) **चक्र पूजा** नैमित्तिक कर्मो मे स्वजन्योत्सव, श्राद्ध, देवता दशन, कुल पव आदि है।

पव दिवस पर शक्ति याग करना चाहिए। मारण मोहनादि करने से पवा पर अवश्य सिद्धि होती है। यज्ञ एव पूजा आदि के तिथि तथा पव का विशेष महत्त्व है।

चक्र पूजा के लिए भी तिथि का विचार करे। गुरु पत्नी, भ्राता तथा पुत्र सम्बधी स्त्रियो को चक्र पूजा मे न लाना चाहिए। सिद्धान्तत सवत्र विचरण हो सकता हे।

चक्र याग मे स्त्री को योगिनी कहते है। यह योगिनी मिलन दो प्रकार का है—(1) हठत (11) प्रियत। किसी प्रकार किसी स्त्री को साधना के लिए तैयार कर लेना प्रियत प्रयोग है और बलात् किसी को पकड लेना हठत प्रयोग है। इस नैमित्तिक योगिनी मेलक से अवश्य फल होता है, क्योकि सवत्र सवित् का प्रकाश हे, भेद ज्ञान सकुचित दृष्टि हे। अत सकुचित चेतना योगिनी के साथ सघट्टित होने पर स्वच्छन्द तथा प्रकाश युक्त हो जाती हे[1]। परस्पर मिलने

(१) चक्र का अथ हे—चित्त का विकास जिसके द्वारा हो अथवा तृप्ति, पाश का छेदन चक्र के द्वारा होता है, ऐसा भी अथ हो सकता हे। कसी, विकासे, चक्र तृप्तौ, कृतीच्छेदने, डुकृञ् करणे इन धातुओ से चक्र शब्द बताया गया हे—तत्रा० जिल्द १२ आ० २९, पृष्ठ ७६

से चेतना विकसित होती हे, इसीलिए चक्र-साधना मे साधका को एकत्र किया जाता है। जब प्रत्येक सावक की चेतना उच्छलित होती ह तो परस्पर उनका प्रतिबिम्ब पडता है, अत चेतना अनेक होकर दीप्त हो उठती है, 'चक्रोत्सव' के पीछे यही सिद्धात काय कर रहा हे[1]। इसी सिद्धान्त के अनुसार एक व्यक्ति की चेतना मे अनेक चेतनाओ के प्रतिबिम्ब से तथा एक व्यक्ति की चेतना अनेक व्यक्तियो की चेतना मे प्रतिबिम्बत होने से सर्वाकारता प्राप्त होती है। यही कारण है कि सभा और उत्सवो मे हम हर्षित होते है, क्योकि गीत, नृत्यादि से सबको तन्मयता प्राप्त होती है।

यद्यपि सवित् अपने मे आनन्दमय है तथापि नृत्य, गीतादि द्वारा उसमे पूर्णानन्द उत्पन्न हो जाता है। क्योकि शरीर का सकोच छूट जाता है। ईर्ष्या, द्वेष, ग्लानि, शकादि जब तक रहते है तब चेतना मे ऐंठा रहती है, परन्तु-नृत्य, गीतादि द्वारा ये वृत्तिया दब जाती है और शुद्ध चैतन्य तरगित होने लगता हे। यही चक्र-सावना मे होता हे। तन्मयता-प्राप्ति के लिए ही चक्र साधना का प्रयोग है।

इस चक्र मे यदि अनधिकारी आ जाय तो उसे सकोच न करना चाहिए। यदि वह निन्दा करे तो उसकी हत्या कर देनी चाहिए, क्योकि वह आनन्द का शत्रु है[2]।

चक्रो पर देवियो का शासन होता है। माहेशी, ब्रह्माणी, रौद्री स्कान्दी, वष्णवी, यमात्मिका, चामुण्डा, नन्दा, भद्रा, काली और लक्ष्मी आदि देविया है। विश्व के एकात्म परामश से ये सब शक्तिया स्फुरित होती है। देवी का ध्यान आशिक विमश की दृष्टि से महत्वपूण है। अनुत्तर सत्ता (ब्रह्म) के प्रति इच्छा का उन्मेष ही विमर्श है।

कुल प्रक्रिया हम शाक्त उपाय मे कौल माग का उल्लख कर चुके है, इसका विस्तृत वणन समयीसाधना मे मिलता है। यह प्रक्रिया 'वागाधिरूढ,—

(१) सवित्सर्वात्मिका देह भेदाद्या सङ्कुचेत्तु सा।
मेलकेऽन्योन्यसघट्ट-प्रतिबिम्बाद्विकस्वरा—तन्त्रालोक—जिल्द १२ आ० २८ पृष्ठ १५८

उच्छलन्निजरश्म्योघ, सवित्सुप्रतिबिम्वत
बहुदपणवद्दीप्त, सर्वायताप्ययत्नत —वही, पृष्ठ १५९

(२) वामाविद्धस्तु तन्निन्देत्प्रश्चात्त घातयेदपि—वही, पृष्ठ १६२

निर्विकल्प-यथा दशा प्राप्त साधको के लिए है[1]। सब के लिए नही। यह आशुतर प्रक्रिया है। अन्य साधनाओ से सिद्धि अनेक वर्षो मे भी नही होगी, किन्तु इससे शीघ्र होती है। यह रहस्य परम्परा (क्रम) खगेन्द्रनाथ आदि गुरुआ से आज तक बराबर गुरु शिष्य परपरा से चली आ रही है[2]। शैव सिद्धान्त आदि अन्य सम्प्रदायो के मत्र निर्वीय है, परन्तु इस कौलमाग के मत्र सद्य फल दाता है[3]।

'कुल' का अथ है परमेश की सामथ्य[4]। सामथ्य लय उदय कारित्व, सष्टि के निर्माण एव लय का शक्ति ईश्वर मे होती है, अत उसकी शक्ति का नाम है कुल। चित्शक्ति मे चित्त का लय और उदय भी 'कुल' कहलाता है[5]। निर्मल स्वभाव को भी कुल कहते है[6]। सब पदार्थो के ईश्वर को भी कुल कहते है[7]। शक्ति के भीतर वीय स्थापन भी कुल कहलाता है[8]। आनन्द का नाम भी कुल है[9]। शरीर को भी 'कुल' कहते है[10]। आत्मा को भी कुल कहते है[11]।

कुल-याग शकाध्वस्त होना ही यज्ञ है। मन, प्राण, वाक्, काय से वीर जब इस याग का भजन करता है, तत्व 'कुल-याग' होता है। इसमे नित्य

(१) तथा धाराधिरूढेषु, गुरुशिष्येषु योचिता—तन्त्रा० २९ आ०, पृष्ठ २

(२) सिद्ध क्रम नियुक्तस्य, मासेनैकेन यद्भवेत्।
न तद्वषसहस्रै स्यान्मन्त्रौघैर्विविधैरिति—वही, पृष्ठ २

(३) कौलिकास्तु महामन्त्रा स्वभावादीप्ततेजस।
स्फुरन्ति दिव्यतेजस्का, सद्य प्रत्ययकारका—वही, पृष्ठ ३

(४) कुल च परमेश्वरस्य शक्ति सामथ्यमूध्वता।
स्वातन्त्र्यमोवो वीय च, पिण्ड सविच्छरीरकम्—वही, पृष्ठ ३

(५) लयोदयश्चित्स्वरूपस्तेन तत्कुलमुच्यते—वही, पृष्ठ ४

(६) स्वभावे बोधममल कुल सवत्र कारणम्—वही, पृष्ठ ४

(७) सर्वेश तु कुल देवि सर्व सव व्यवस्थितम्, तत्तेज परम घोर—वही, पृष्ठ ४

(८) शक्तिगोचरग वीय तत्कुल विद्धि सर्वगम्—वही, पृष्ठ ४

(९) कुल स परमानन्द—वही, पृष्ठ ४

(१०) कुल शरीरम्—वही, पृष्ठ ४

(११) कुलमात्मास्वरूप तु—वही, पृष्ठ ४

नेमित्तिक काय आवश्यक नही है । एच्छिक है । यज्ञ पाच प्रकार के है—बहियाग, शक्ति याग, मिथुन याग, देह याग, प्राण याग । बहिर्याग द्रव्य याग हे, यह ऐच्छिक है ।

इस कौल यज्ञ मे जो अन्यत्र निषिद्ध हे, उसी की योजना की जाती हे, क्योकि शका एव ग्लानि का नाश आवश्यक हे ।

'ब्रह्म यामल' मे सुरा को शिव रस कहा है, उसका इस यज्ञ मे विशेष उपयोग हे, क्योकि उसके बिना न भुक्ति हे, न मुक्ति । मद्य कई प्रकार के है—आटे से जो मद्य बनती है, उसे 'स्त्री मद्य' कहा है, शहद (क्षौद्र) से निर्मित मद्य नपुसक है और गुड का मद्य पुरुष के समान है । द्राक्षा से निर्मित मद्य भैरव का परम तेज है । यह आत्मा का द्रव रूप है । इसका आघ्राण,दर्शन, स्पर्श तथा पान मुक्तिदायक हैं ।

मदिरा कृत्रिमा एव सहजा दो प्रकार की हे । पेष्टी (आटे से निर्मित) तथा क्षौद्रा (शहद मद्य) कृत्रिमा हे और द्राक्षा-मद्य सहजा है । कृत्रिमा भोगदायिका है, सहजा मुक्तिदायक ।

मन्त्र से तर्पित मद्य ही कल्याण कारक है अन्यथा नरकवासी होना पडता हे । मद्य तो स्वय आत्मा का रूप है । मद्य-पान मे वासना का नाश आवश्यक है । 'लोलिका' के साथ मद्य पान नाशक है ।

उत्तम मद्य पान वह है जो सर्वदा पीता है । पर्वो पर मद्य पान मध्यम है और मासभर मे एक बार पीना अधम है, इसके बाद पीना पशु पान है । बिना मद्य के कौल याग करना व्यथ है । पुष्प धूपादि न भी हो तो केवल मद्य से काय चल सकता है, परन्तु मद्य के बिना नही चल सकता ।[1] याग के समय घी या तेल

(१) एतत्स्वय रस शुद्ध प्रकाशानन्द चिन्मय ।
देवताना प्रिय नित्य, तस्मादेतत्पिवेत सदा ।
सुरा च परमा शक्तिर्मद्य भैरव उच्यते ।
आत्माकृतो द्रवरूपो, भैरवेण महात्मना ।
नानेन रहितो मोक्षो, नानेन रहिता गति
नानेन रहिता सिद्धिर्विशेषाद्भैरवागमे
येनाघ्रात, श्रुत, दृष्ट, पीत स्पृष्ट महेश्वरी
भोग मोक्ष प्रद तस्य । तन्त्रा २६ आ० पृष्ठ ६

के दीपक जलाये। १२ द्रव्यो का आयोजन करे—वीय, हेरम्ब पुष्प, क्षार, नाडी के पत्ते, घृत, छाग, मत्स्य, पक्षी का मास प्याज, लहसुन आदि।[1]

पूजन के पश्चात्, सिर से पैर तक सुरा द्वारा माजन, बाह्यस्नान की आवश्यकता नही है, केवल ध्यान से शरीर पवित्र कर ले, देहली का पूजन करे। कुडगोलादि पात्रो मे सुरा भर ले। इसके बाद की चर्या का वणन रहस्मय होने से नही हो सकता। केवल गुरु ही इसे स्पष्ट कर सकता है।

यज्ञ के समय यह भावना करे मै नही हू, अन्य पदार्थादि नही है, केवल शक्ति की सत्ता है, सर्वदा इसी भावना का स्मरण करे।[2]

इस शरीर मे देविया क्रीडा कर रही है। अमूत शक्तिया सुरादि पदाथ प्राप्ति की इच्छा से शरीर मे होती है, अत इन्द्रियो को सतुष्ट करने से उनमे स्थित देवता प्रसन्न होते है और उन देवताओ से तेज का समूह निकलता है।[3]

इस समय चित्त का लय एव उदय रासभी की योनि की तरह होता रहता है, अत उन्मेष एव निमेप के लिए कौल याग आवश्यक है।

पूजा स्थान रक्तपट पर, चौराहे पर सिंदूर से मडल बना कर, नारियल पर करे। सिंदूर का तिलक कर, रक्तवस्त्र पहन कर कपाल मे सुरा भर कर गणेश, बटुक, गुरु एव योगिनी की पूजा करे। पूव दिशा या उत्तर को मुख करे। पुन इल्लाई, कुल्लाई, सिल्लाई आदि देवियो की पूजा करे। 'घुम्मा' आदि मुद्राओ का प्रकाशन करे।

(१) रेतोहराम्बु पुष्प च क्षार नालाज्यक तथा।
पौरुष द्रुमाभव, छावा मीनज शाकुनीयम्।
पलाण्डु, लशुन, चैव, द्रव्यद्वादशक शुभम्। वही, पृष्ठ १६

(२) नाहमस्मि न चान्योरित्त केवला शक्त्यस्त्वहम्।
इत्येववासना कुर्यात्सवदा, स्मृतिमात्रत —वही, पृष्ठ १६

(३) अमूर्ता मूर्तिमाश्रित्य देव्य पिण्डान्तरे स्थिता।
क्रीडन्ति विविधैर्भावैरुत्तम द्रव्यलिप्सया—वही, पृष्ठ १६

मुद्राओं से[१] पाठो म साधक की पहचान हो जाती है। योगिनिया शीघ्र साधना मे शामिल कर लेती है। जितनी योगिनियो की पूजा करे, उतने ही दीपक रखे। अक्षरो के क्रम से अनुसार दीपक रखना चाहिए।

इसके पश्चात् खेचरी मुद्रा मे स्थित होकर 'योगिनी मेलन' (सघट्टावस्था) होता है।

यह मार्ग ग्राम्य धर्म कहलाता है। ग्राम्य धम का अथ है, मद्य, मासादि का प्रयोग। इस धम मे 'नवचक्रयाग' का प्रयोग होता है। नव स्त्रियो की प्राप्ति आवश्यक है,—मातगी (चाडाल जाति की स्त्री), कज्जली, सौनी, कामुकी, चम कारिणी, ध्वजिनी, अस्थिदलनी, धीवरी तथा चक्रिणी। इन 'नव चक्र याग' मे इन नौ स्त्रियो की पूजा एक साथ होती है।

इन स्त्रियो के गृह मे गमन करना ही तीथ है। मातगी का घर ही प्रयाग है। कज्जली का घर वरुण तीथ, सौनी का कुलगिरि, कामुकी का अट्टहास तीथ, चमका का जयन्ती तीथ है।[२]

इनमे चक्रिणी मुख्य है। यही कुडलिनी कहलाती है। शायद यह तेली जाति की स्त्री होती होगी। इसकी बडी महिमा है यह माया को मारती है बीज का रस मे

(१) यहा स्पष्टत 'मुद्रा' का अथ केवल अगुलियो आदि की आकृति मात्र नही है परन्तु मुद्रा का अथ योगिनी (साधिका) भी है। योगिनी वग की भी परपरा मानी जाती है, इमे 'सन्तान' कहते है, प्रत्येक परपरा की अपनी-अपनी मुद्राएँ है, इन मुद्राओ का प्रदशन कर देने उस परपरा की (योगिनियो) की प्राप्ति हो जाती है।—

अचिराल्लभते तत्तत्प्राप्य, यद्योगिनी वदनात्।
यो यस्या सन्ततेर्नाथ, सामुद्रा तस्य कीर्तिता।
प्रासाम हस्त सन्दर्श्य, नामाक्षरसमन्विता।
क्रमेण तेन ज्ञास्यन्ति, स्वकीया कुलसन्ततिम्—

तन्त्रा० २९ आ०, पृष्ठ ३०

(२) मातगीवेश्म सुभगे, प्रयाग परिकीर्त्तितम्
कज्जली वरुणारक, तु सौनी कुलगिरि पिये—आदि—

तन्त्रा० २९, पृष्ठ ४६

बदलती है। यही कन्द मे स्थित है। विश्व को अपने मे समेटे हुए है। शैव सिद्धान्तो, वैष्णव, बौद्ध, वेदान्ती तथा स्मार्त साधको को यह प्राप्त नही हो सकती, क्योकि वे अद्वैतद्रव (मद्य) से वञ्चित है। शक्तिहीन है।[1]

कौल याग मे या तो एकाकी या शक्ति (स्त्री) सहित रात मे जप किया जाता है। अकेला अवधूत कहलाता है और शक्ति सहित 'यामल' कहलाता है। अवधूत ३ लाख बार ओर यामलावस्था मे ६ लाख बार जप करना चाहिए। अन्य स्थान पर कहा गया कि मानस जाप ही यहा विधेय है। ब्रह्मचय से रहित यह जाप नही हो सकता। ब्रह्मचय का अथ यह है कि आनन्द ही ब्रह्म का रूप है। अत बाह्य पदार्थों का आनन्द भी ब्रह्म है। यह आनन्द विशेषत मद्य, मास, एव मैथुन मे है। इसी लिए 'देहे त्रिधा स्थितम्' कहा गया है। अत ब्रह्मचारी का अथ मकार-सेवी है।[2] लोभवृत्ति के साथ मकार सेवन घोर पाप है। विषय-गव निमुक्त होकर ही यह माग सेवनीय है।

क्योकि प्रवृत्तिरत होकर वैराग्य कठिन है अत 'दूती ज्ञान' की आवश्यकता है। दूती के बिना वस्तुत यह माग दुलभ है।

चूँकि शास्त्र मे निर्दिष्ट दूतिया प्राय दुलभ है, अत हीन दूतियो से भी काम चल सकता है। रहस्य से परिचित, ज्ञानवती सुन्दरी, दूती तो साक्षात् मुक्ति ही है। दूती आनन्द लाने वाली स्त्री को कहते है। निष्कम्प चित्त से किसी भी दूती के साथ रमण सिद्धिदायक है।

लौकिक और अलौकिक ये दूती के दो भेद है। इनके भी जन्या, जनिका तथा सहजा ये तीन तीन भेद है। अपनी पत्नी लौकिक दूती है, उससे चूकि 'आवेश'

(१) सिद्धात वैस्णव बौद्धा, वेदान्ता स्मातदशन
ते प्रयत्नेन वा वर्ज्या, यस्मात्ते पशव स्मृता ।
अद्वैतद्रवमपवीत्सभिधान, त्यजन्ति ते ।
पराङ्मुखमायाति, निर्जीवाजविवर्जिता —वही, पृष्ठ ५२

(२) ओष्ठया त त्रितयासेवी—ब्रह्मचारी स उच्यते — वही, पृष्ठ ६५

नही उत्पन्न होता, अत व० साधना मे ग्राह्य नही है। पत्नी को दूती नही कहा जाता। जो दूतिया बन सकती हे, उनक नाम ये है—

स्वपत्नी, भगिना, माता, दुहिता वा शुभा सखी।
दूती कुर्यात्तु कार्यार्थी, न पुन काममोहित —तत्रा० ३१ आ०

यहा जो 'स्वपत्नी' शब्द आया है, उससे यह नही समझना चाहिए कि 'स्वपत्नी' को दूती माना जा सकता हे। स्वपत्नी हीन दूती के रूप मे स्वीकाय है।

दूती के साथ केवल सिद्धि के लिए एकान्त रमण विधेय है, लोभवश नही।[1] कुल चर्चा भोग के लिए नही है। यह तो मुक्ति का साधन है।

दूती के साथ मेलक के समय दूती तथा साधक को स्वरूप विश्रान्ति का अनुभव करना चाहिए, तभी विकल्प का नाश होगा। इसलिए योगिनी के साथ तादात्म्य का कारण बनाया गया है। सघट्ट बेला मे शक्ति एव शक्तिमान की परस्पर उन्मुखता से आनन्द मे विश्रान्ति होने से सृष्टि सहार होता है। अत इस अवस्था मे स्थित होकर तुयविस्था का अनुभव होना है, अत शक्ति (दूती) को लाकर कुलयाग करना चाहिए। शक्ति की पूजा करनी चाहिए, बार बार सघट्टावस्था मे स्थित होकर ब्रह्मानद का अनुभव करना चाहिए। इससे 'आनन्द सन्दोह' की प्राप्ति होती है। इसीलिए यह चक्र पूजा कहलाती है।[2]

चूँकि शून्य से वायु का जन्म होता है और वायु से पुरुष तत्त्व (लिंग) का उत्थापन होता है, अत वायु एव पुरुष शक्ति के योग से आकाश अवस्था शून्यावस्था को प्राप्त किया जा सकता है।[4]

(१) स्थित्यथ रमयेत्कान्ता न लौल्येन कदाचन्—तत्रा० २६ आ०, पृष्ठ ३०

(२) द्वाभ्या तु सृष्टि सहारौ तस्मान्मेलक मुत्तमम्—वही, पृष्ठ ७४

(३) चक्र शक्ति का अथ इस प्रकार है—

विकासात् तृप्तित पाथोल्कतनात्कृति शक्तित ।
चक्र कसेञ्चक्रे कृत्या, करोतेञ्च किलोदितम्—

(४) शून्योद्भवो भवेत् वायु मेढ्रस्यो त्थापन भवेत्। वही, पृष्ठ ७६
वायु मेढ्र समायोगात्—तत्रा० ३६ आ०, पृष्ठ ७८

अतएव पूज्य, पूजक, आह्वान, पुष्प, धूप, चरु, मन्त्र, जप, कुड, काष्ठ, आदि सब कुछ शक्ति एव शक्तिमान की पूजा (दूती रमण) मे केन्द्रित है ।[1]

जिस जिस इद्रिय से जो जो आभासित होता है, उसी मे योगी तन्मय हो जाय । क्योकि इद्रियो से प्रकट होने वाला आनन्द ही परमानन्द का साधन है । इसी से अति भावना का विकास होने से यह योग 'अति योग' कहलाता है, क्योकि केवल इसी योग मे चारो ओर से एक साथ परामश होता है और परामश से ही साक्षात्कार होता है । सन्यासा प्रधान धर्मो मे 'समन्तात् आमश' नही होता अत भेद-तृष्णा की शाति के लिए अति योग सेवनीय है । यह अति योग स्त्री के मुख से ही प्रकट हुआ है उसी मे सारी सृष्टि ओत प्रोत है[2] । स्त्री का मुख ही मुख्य चक्र है, उससे उत्पन्न स्वानुभूति पर आधारित यह 'अतियोग' केवल अनुभव का विषय है । पर इसे लिखा नही जा सकता । मुमुक्षुओ के लिए साधना का वणन इतना ही है । बुभुक्षुओ की साधना अलग है ।

बुभुक्ष साधना मुक्ति प्रदायिनी साधना ही बुभुक्ष साधना है । इसके लिए अपने शरीर मे स्थित पदार्थ ही सेवनीय हैं । शरीर मे स्थित पदार्थ वीय एव रज है जो शरीर के सार है । चूकि ये पदाथ सवित् (चैतन्य) के निकटतम है, अत ये ही मुख्य है । इन्हे 'कुडगोलक' भी कहते है। कुड अर्थात् रज, गोलक = वीय । इनके भक्षण से मनुष्य वृद्धावस्था से बचकर अमर हो जाता है । यही श्रेष्ठ रसायन है । कुड गोलक से सुरा का भी सकेत होता है। अत योगिनी मुख से उच्छिष्ट सुरा

(१) योषितश्चैव पूज्यन्ते, पुरुषश्चैव पूजक ।
आह्वान तु तयो प्रीति , पुष्प च करजक्षतम्
धूम मालिङ्गन प्रोक्त, चरु तनुकृत भवेत्
मत्र प्रियाया वाग्जाल, जपश्चाप्यधरामृतम्
भगकुड स्रव लिङ्ग मग्निश्चैव भगाङ्कुर ।
आज्य च भजते बीज इत्युक्त भैरवागमे—वही, पृष्ठ ७९

(२) स्त्री मुखे निक्षिपेत्पात्र स्त्रीमुखात् ग्राहयेत् प्रिये ।
स्त्रीमुखात् भवेत्सिद्धि , सुसिद्ध तासु तत्पदम्—तन्त्रा० २९ आ०, पृष्ठ ८८

का पान करे तथा अपनी उच्छिष्ट सुरा का पान योगिनी को करावे। उच्छिष्ट सुरा को पात्र म भर ले यही सुरा सव सिद्धिदायक हे।[1]

पुन दूती को क्षुभित करके द्रव्य (वीय) का पान करे। चक्र रचना करे। चक्र खीचकर उसके बीच मे शक्ति एव शिव की मूर्ति बनाये। १२ पत्रो के कमल का चित्र खीचे और इस चक्र की पूजा करे। दूती रमण के पश्चात् वीय विसजन के समय चैतन्य के साथ तादात्म्य का प्रयत्न करे।

देवताओ का निवास नेत्र, श्रवणादि अवयवो मे रहता है, ये ही 'अनुचक्र' है। ये देवता आनन्द की आकाक्षा करते है। मुख्य चक्र गुह्येन्द्रियो मे है। सघट्टा वस्था मे ये सब देव प्रसन्न होते है, क्योकि अनुचक्र के देवता मुख्य चक्र के देवता शिव एव शक्ति के ही अधीन हे। इन्द्रियगण अपनी-अपनी रश्मियो का रस वीय विसग के समय मुख्य आनन्द मे समर्पित कर देते है,[2] अत मुख्य चक्र पूजा से सभी सतुष्ट होते है ओर सिद्धि देते है। सारे पदाथ इसी चक्र-साधना से प्राप्त हो सकते है। जिस प्रकार नदियो क जल के अपण से समुद्र प्रसन्न होता है तयैव इन्द्रियो द्वारा प्राप्त आनन्द के पयवसान से आत्मा सतुष्ट होती हे, अत अनुचक्रो द्वारा चक्रेश्वर भी उत्तजित होता है। दृगादि के मिलने पर ही प्रेमावेश बढता है।

विसग तीन प्रकार का हे (i) उदित (ii) शात (iii) सघट्ट कुड का अथ भगवत् शक्ति का उदय' हे। गोलक = शिव (लिग) 'शात' कहलाता है तथा इन दोनो का मिलन ही 'सघट्ट हे जो पूण लयावस्था हे, यही विसग है।

शक्ति तत्व के उदय से सृष्टि होती है, सृष्टि को शात करना, सहार करना शिव का काय है। इन दोनो के मिलन से उदय एव शातावस्था के बीच की अवस्था

(१) विद्राव्य गोलक तत्र कुण्ड च तनुमध्यमे।
तत्स्थ गृह्य महाद्रव्य, मुखेन तनुमध्यमे।
तद्वक्त्रग तत कृत्वा, पुन कृत्वा स्ववक्त्रगम्
पात्र प्रपूरयेत्तेन, महाल्यम्बु विमिश्रितम्
तेनाध पात्र कुर्वीत् सव सिद्धिफलप्रदम्—वही, पृष्ठ ९२
कुण्ड शक्ति, शिवोलिङ्ग मेलक परमपदम्—वही, पृष्ठ ९६

(२) रण रणकर सान्निजरसभरित, बहिर्भावचव ण वशेव।
विश्रान्ति धाम किञ्चत् लब्ध्वा, स्वात्मन्य-ापमते। वही, पृष्ठ ९७

'अनाख्य' की प्राप्ति होती है, यहा वेद्य वेदक भाव समाप्त हो जाता है। शाकर वेदान्त मे भी चित्त के उदय एव शात अवस्थाओ के बीच की अवस्था ध्येय मानी गई है। प्रथम वृत्ति का नाश हो जाय और दूसरी उदित न हो—दो वृत्तियो के बीच की यह अवस्था ही प्राप्य है। दो वृत्तियो के बीच मे ही चैतन्य का प्रकाश रहता है। यही मुक्ति है।

प्राण-योग मे भी मध्य अवस्था—इडा पिंगला के मध्य सुषुम्णा को ही सिद्धिदा कहा गया है।

अत लय एव विक्षेप का अभ्यास आवश्यक है और इसके लिए शक्ति तथा शिव का सघट्ट आवश्यक है। क्योकि विसग समय जो दो वृत्तियो के मध्य चैतन्य प्रकाश का परामश होता है, वही सिद्धि देता है। इस त्रिविध परामश से जो हृदय मे नाम उत्पन्न होता है वही मत्र है।[1] इसी मत्र के जाप सब पदाथ एव सिद्धिया सुलभ है। मत्र अनिवचनीय आनन्द के लाभ के लिए उत्सुक रहता है, इस उत्सुकता के न रहने पर मत्र निवीय हो जाता है। मध्य-चक्र मे स्थिर रहकर पुन पुन इस अनुभूति का अभ्यास करे और सघट्टावस्था मे रहकर स्वपरामश मुक्त होकर तीन लाख बार जप करे।

इस त्रिधा विमश को ही चक्र-रचना द्वारा समझाया जाता है। १६ कमल के बीच एक त्रिकोण बनाया जाता है। यह तीन दल का होता है। इसी त्रिकोण के मध्य मे सृष्टि का अकुर उत्पन्न होता है। तीन नाडियाँ इस त्रिकोण को बनाती है। वामा जल को तथा दक्षिणा रक्त को ले जाती है और मध्यमा शुक्र-वाहिनी नाडी है मध्यस्थ नाडी मे जो नाल है उससे पुरुष कमल नाल का सघट्ट होता है और रज रेत रूप चन्द्र-सूय का सघट्ट होता है। अत साधक की चेतना अग्नि प्रज्वलित हो जाती है और चन्द्र से अमृत स्रवित होने लगता है। अतएव यही 'सघट्ट-साधना सवश्रेष्ठ है। इस मुद्रा से सहज ही तुयविस्था प्राप्त होती है यही वास्तविक खेचरी मुद्रा है। खान पान, लीला, हाव भाव आदि सभी अवस्थाओ मे पर परामश चलता रहता है और अव्यक्त नाद स्वत मत्र के रूप मे प्राण के साथ

(१) एवम् त्रिविधि विमशावेश समापत्ति धाम्नि य उदेति।
सवित्परिमशात्मा ध्वनि स्तदेवेह मन्त्रवीय स्यात्।
तत्रैवोदित तादृश फललाभसमुत्सुक स्वक मन्त्रम्
अनुसन्धाय सदा चेदास्ते, मन्त्रोदय स वै वेत्ति—तत्रा० २६ आ० पृष्ठ १०३

स्फुरित होता रहता है। यही सहज जप है, सहज साधना है, सहजानन्द है। यह सहज जप आठ स्थानों पर चलता है—श्वास का आगमन, श्वास का गमन, बुद्धि, कर्ण, नयन, लिंग, योनि एवं संघट्ट।[1]

भैरवाष्टक उपर्युक्त आठ स्थानों में होने वाला जप सहज जप है। कुचमध्य हृदय देश से लेकर ओष्ठ तक अव्यक्त ध्वनि हो रही है, इसका विमर्श ही सहजनादात्मक जप है। इस सहजनाद का बाह्य रूप रति-काल में प्रिया कंठ से उदित 'हा, हा' ध्वनि के रूप में सुनायी पड़ता है। इसी नाद को 'मात्रा' कहा गया है जो सारे मन्त्रों में व्याप्त है। यह ह, ह नाद नपुंसक है, शिव, शक्ति के परे नपुंसक तत्त्व 'अनाख्य' का व्यंजक है। शिव शक्ति दोनों से उत्पन्न है। यह मन्त्र सर्वत्र व्याप्त है, ऐसा स्मरण करना चाहिए। अन्यथा संघट्ट में पतन होता है अन्यथा निर्लेप रहता है इसी को 'जीवन्मुक्ति' कहते हैं। भोग काल में निर्लेपता और अक्षुब्ध रहना ही जीवन्मुक्ति है।[2] जीवन्मुक्त ही शिव के समान संतान उत्पन्न कर सकता है। विलासी का विनाश होता है।

आदि याग इसे 'आदि याग' कहा गया है, क्योंकि यह 'सार वस्तु' को लाता है।[3] सारवस्तु इसी शरीर में विद्यमान है और शरीर में ही प्राप्त हो सकती है। इस सहज क्रिया द्वारा ही वह प्राप्तव्य है।[4] जहां सब पदार्थों का लय होता है, वह चेतना (संवित्) तो शरीर में ही स्थित है, यह चेतना इसीलिए 'श्मशान' कही जाती है, यह वृत्ति रहित है, यही सिद्धि होती है। इस श्मशान रूपिणी चेतना में स्थित होकर ही मन्त्र सिद्ध होते हैं और नाना चमत्कार उदित

(१) गमनागमनेऽवसितौ, कर्णे नयने द्विलिङ्ग संपर्के।
नत्समेलन योगे, देहान्ताख्ये च यामले चक्रे—वही, पृष्ठ १०८ १०९

(२) एवं कर्मणि कर्मणि, यत्र क्वापि स्मरन् व्याप्तिम्।
सततमलेपो जीवन्मुक्त, परं भैरवी भवति—तंत्रा० २९ आ०, पृष्ठ १११

(३) आदीयते यत सार, तस्य मुख्यस्य चैष यत्
मुख्यश्च यागस्तेनायमादि याग इति स्मृत —वीरावली शास्त्र उद्धृत—तंत्रा० आ० २९, पृष्ठ ११२

(४) स्वदेह एवायतनं, नान्यदायतनं व्रजेत्—तंत्रा० आ० २९, पृष्ठ ११९

होते है। यही चेतना सकेन-गृह है। यही रति-रहस्य है।[1] विकल्पो के नाश होने पर चित्तवृत्ति के प्रवाह के नष्ट हो जाने पर, सृष्टि-सस्कारो के नाश के लिए समथ भीषण रौद्री चेतना रूपी श्मशान मे स्थित होकर कौन सिद्धि प्राप्त नही करता ?

शैव-सिद्धान्त मत मे कम बहुलता है, दक्षिण माग (शाक्तमत) मे रौद्र कम अधिक है। वाममाग मे सिद्धियो की प्रधानता है। त्रिक् शासन मे (कश्मीर-त्रिक् दशन या ईश्वराद्वयवाद) स्वल्प कष्ट है, स्वानुभूति की प्रधानता है और वाम दक्षिण दोनो माग। का मिलन है, यह अत त्रिक्-शास्त्र सवश्रेष्ठ है। साधक को चाहिए कि वह क्लेशकर, अल्प पुण्य, स्वानुभव रहित वैदिकादि मार्गो को छोड दे और भुक्ति-मुक्तिप्रदायी सव तन्त्र के श्रेष्ठ तत्त्वो से समन्वित इस कश्मीरी त्रिक् शासन को स्वीकार करे।

(१) यत्र सर्वे लय यान्ति, दह्यन्ते तत्त्वसञ्चया
ता चिर्ति पश्य कायस्था, कालानलसम प्रभाम्—वही, पृष्ठ १२१
शून्यरूपे श्मशानेस्मिन्, योगिनी सिद्ध सेविते।
क्रीडास्थाने महारौद्रे, सर्वास्तमित विग्रहे
स्वरश्मि मडलाकीर्णे, ध्व सितध्वान्तसन्ततौ
सर्वैविकल्पैर्निमुक्तै आनन्द पद केवले
असख्य चिनिसपूर्णे श्मशाने चिति भीष
समस्त देवताधारे, प्रविष्ट को न सिद्धया

परिशिष्ट

तांत्रिक जैनमत

जैनमत कठोर शुद्धाचारवादी है, यह सम्प्रदाय प्रारम्भ से ही घोर निवृत्ति-प्रधान रहा है। अत तन्त्रो की 'रागसाधना' के लिए इस मत मे कोई सम्भावना नही थी किन्तु 'मन्त्रसाधना' द्वारा चमत्कार प्रदर्शन की प्रवृत्ति जैनमत मे विकसित हुई और इसके लिए देवी देवताओ की पूजा भी चल पडी। इन देवियो को तीथकरो की 'सेविका' माना गया है, इससे तीथकरो की अवज्ञा भी नहीं हुई और मन्त्र-साधना के लिए अवसर भी मिल गया।

जैसा कि बौद्धमत मे हुआ, जैनमत के कठोर अनुशासन के विरुद्ध भी तीव्र प्रतिक्रिया हुई और नग्न साधको और परिव्राजको के स्थान पर मठवासियो और चैत्यवासियो का प्रादुर्भाव हुआ। ये चैत्यवासी उन बौद्धतान्त्रिको से सादृश्य रखते हैं जो विहारो मे रहकर 'विहार' द्वारा 'तत्त्व' का साक्षात्कार करते थे।

प्रश्न यह है कि राग के पूण विनाश मे विश्वास रखनेवाले मत मे 'मन्त्र साधना का सैद्धान्तिक आधार क्या था ? शाक्त, शैव, बौद्ध और वैष्णव तान्त्रिको ने साधना को एक 'दर्शन' पर आधारित किया है, जैनमत मे 'मन्त्रसाधना' की पृष्ठभूमि मे वह दार्शनिक आधार क्या है ?

शक्ति का सिद्धान्त जैन तान्त्रिक भी मानते है। पदाथ मे भी शक्ति है और 'आत्मा अक्षय और अपरिमित शक्ति का कोष है। श्री एम० बी० झावेरी ने विचार को भी 'शक्तिमय' माना है, 'विचार वस्तु है' नामक पुस्तक से उन्होने उद्धृत करते हुए बताया है कि प्रत्येक जीवित पदार्थ गति का केन्द्र है। गतिकेन्द्र से गति जागृत होकर प्रसरित होती है। 'सदृश माध्यम' मे यह गति यथावत् प्रविष्ट हो जाती है और 'असदृश माध्यम मे यह गति रूपान्तरित होकर प्रविष्ट होती है।[1]

1 Thoughts and things—William Walker Atkinson

परिशिष्ट

तांत्रिक जैनमत

जैामत कठोर शुद्धाचारवादी है, यह सम्प्रदाय प्रारम्भ से ही घोर निवृत्ति-प्रधान रहा है। अत तन्त्रो की 'रागसाधना' के लिए इस मत मे कोई सम्भावना नही थी किन्तु 'मन्त्रसाधना' द्वारा चमत्कार प्रदर्शन की प्रवृत्ति जैनमत मे विकसित हुई और इसके लिए देवी देवताओ की पूजा भी चल पडी। इन देवियो को तीथकरो की 'सेविका' माना गया है, इससे तीथकरो की अवज्ञा भी नही हुई और मन्त्र-साधना के लिए अवसर भी मिल गया।

जैसा कि बौद्धमत मे हुआ, जैनमत के कठोर अनुशासन के विरुद्ध भी तीव्र प्रतिक्रिया हुई और नग्न साधवो और परिव्राजको के स्थान पर मठवासियो और चैत्यवासियो का प्रादुर्भाव हुआ। ये चैत्यवासी उन बौद्धतान्त्रिको से सादृश्य रखते हैं जो विहारो मे रहकर 'विहार' द्वारा 'तत्त्व' का साक्षात्कार करते थे।

प्रश्न यह है कि राग के पूण विनाश मे विश्वास रखनेवाले मत मे 'मन्त्र साधना' का सैद्धान्तिक आधार क्या था? शाक्त, शैव, बौद्ध और वैष्णव तान्त्रिको ने साधना को एक 'दर्शन' पर आधारित किया है, जैनमत मे 'मन्त्रसाधना' की पृष्ठभूमि मे वह दार्शनिक आधार क्या है?

शक्ति का सिद्धान्त जैन तान्त्रिक भी मानते है। पदाथ मे भी शक्ति है और 'आत्मा' अक्षय और अपरिमित शक्ति का कोष है। श्री एम० बी० झावेरी ने विचार को भी 'शक्तिमय' माना है, 'विचार वस्तु हैं' नामक पुस्तक से उन्होने उद्धृत करते हुए बताया है कि प्रत्येक जीवित पदार्थ गति का केन्द्र है। गतिकेन्द्र से गति जागृत होकर प्रसरित होती है। 'सदृश माध्यम' मे यह गति यथावत् प्रविष्ट हो जाती है और 'असदृश माध्यम मे यह गति रूपान्तरित होकर प्रविष्ट होती है।[1]

1 Thoughts and things—William Walker Atkinson

इसका तात्पय यह कि मनुष्य के विचार मे अद्भुत शक्ति होती है, यदि वह 'ध्यान' द्वारा विकसित कर लिया जाय तो वह असम्भव कार्यो को भी सम्भव बना सकता है। श्रोता यदि किसी 'विचारक' के सदृश रुचि और भाव वाला है तो उसमे विचारक का विचार यथावत् प्रविष्ट हो जाता है ('जादू' या 'इन्द्रजाल' मे इसीलिए 'मीडियम' या 'माध्यम' का प्रयोयकर्त्ता के साथ 'तादात्म्य' आवश्यक होना है) और यदि श्रोता असमान रुचि वाला है तो भी विचार का उस पर प्रभाव होता है, किन्तु बदले हुए रूप मे अथात् विरोधी श्रोता पर विचार की प्रतिक्रिया 'मिश्रित' होती है पर होती अवश्य है।

इस प्रकार शाक्तो और शैवो की तरह, सववादी चिंतन के अभाव मे भी जैनसाधको ने मनुष्य की मनोवैज्ञानिक शक्तियो को पहचान कर उनका प्रयोग किया था। तत्रो की विशेषता ही यह है कि साधना मे उन्होने मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओ का प्रयोग किया है, अत अतरावलोकन द्वारा मनुष्य की इच्छाशक्ति, भावशक्ति, विचार शक्ति, शब्द शक्ति, ध्यानशक्ति आदि को जैन तान्त्रिक भी मानने लगे थे। उन्हे विचार की ही शक्ति का ज्ञान नही था, वे यह भी जानते थे कि 'विचार' 'भाव' के साथ सयुक्त होकर अधिक शक्तिशाली और 'व्यापक' हो जाता है। यही कारण है कि 'देवी उपासना' मे जैन साधक शक्तिप्राप्ति के लिए ध्यान, विचार और भाव तीनो पर बल देते है।

इसके अतिरिक्त जैनसाधक यह भी जानते थे कि कुछ 'अमूत' विचार ऐसे होते है जिनके द्वारा मन मे 'मूर्ति' का निर्माण स्पष्टता के साथ होता है और उस 'मूर्त्ति' से प्रबल शक्तिमान् विचार प्रवाह उत्पन्न होता है। इस प्रकार जैनमत बौद्धतान्त्रिका तथा अन्य साधको की तरह किसी 'मूर्त्ति' की मन मे सृष्टि कर उससे शक्ति प्राप्त करने का विश्वासी है। यह 'मूर्त्ति किसी 'देवी या 'देवता' की हो सकती है अथवा किसी 'व्यक्ति या 'वस्तु' की भी हो सकती है। उदाहरण के लिए मारण' या वशीकरण के लिए कुछ 'वस्तुए ली जाती है जैसे मारण के लिए वस्त्र, नाखून, पैरा की धूलि आदि और वशीकरण के लिए केश और वस्त्र आदि। इन वस्तुओ पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। ध्यान के समय यह मान लिया जाता है कि जिस 'व्यक्ति' पर प्रयोग किया जा रहा है, वह व्यक्ति 'वस्तु' के रूप मे सम्मुख स्थित है। अत उस 'वस्तु' मे एक शक्ति है, ऐसा विश्वास ही फल दायक सिद्ध होता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह सारी साधना प्रबल 'कल्पना' का

चमत्कार है। कल्पना द्वारा ही साधक पने मन मे 'मूर्त्ति' की रचना करता हे और उस पर ध्यान केंद्रित करके अद्भुत शक्ति प्राप्त करता है । शाक्तो और शैवो के अनुसार सब वास्तविक और कल्पित पदार्थ शक्ति या शिवमय हे, अत वे शक्ति के कोष है जैन यह सर्ववाद नही मानते, किन्तु वैसे अग्नि का कोई दाशनि आधार न मानने पर भी उसमे दाहक गुण होता हे, उसी प्रकार ध्यान की प्रक्रिया द्वारा पदार्थ' या मूर्त्ति अपना प्रभाव दिखाती है।

आदर्श (Ideal) को 'वास्तविक' (Real) बनाने के लिए प्रबलतम 'इच्छा' की आवश्यकता होती हे । फिर अभीष्ट वस्तु या व्यक्ति की मूर्ति को स्पष्ट रूप मे मन मे जाग्रत करना पडता है और फिर उसे 'भाव' से दीप्त किया जाता है इससे 'मूर्त्ति' से गति का प्रवाह चल पडता है जिससे अभीष्ट वस्तु दूर होने पर भी प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार इच्छा' (Will and desire) हा 'जादू' या 'अभिचार' का रहस्य है।

अन्य तान्त्रिको के सदृश ही जैनसाधक मन्त्र की शक्ति के विश्वासी है। ध्वनि मे अव्यक्त शक्ति अवस्थित है। इच्छा शक्ति और कल्पना शक्ति से मन्त्र सिद्ध होता हे अत 'रूप' का श्रवण किया जा सकता हे और 'ध्वनि' का दर्शन सर्वथा सम्भव हे। प्रकृति मे सर्वत्र 'गति' है और यह गति' विविध रूपमयी है। ये रूप एक दूसरे मे परिवर्तित हो सकते है, अत एक पदार्थ को दूसरे पदार्थ मे परिवर्तित किया जा सकता हे। मन्त्र मे ध्वनि अवस्थित है और ध्वनि भूततत्त्व का प्रथम रूप हे, अत ध्वनि सबसे अधिक शक्तिमती मानी जाती है। मन्त्र मे उच्चारण नही अपितु इच्छा और कल्पना चमत्कार उत्पन्न करती हे।

जैनयोग

योग के चार रूप है, मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग। कुडलिनी जागरण को ही 'लययोग' कहा जाता है। जैनयोग के अनुसार योग द्वारा आत्मा 'स्वभाव' से परिचित होती है। जैनमत शाक्तो की तरह अद्वैतवादी नही हे, अत आत्मा का परमात्मा मिलन जैनयोग का लक्ष्य नही है। जैनयोग के अनुसार आत्मा अपने वास्तविक रूप से परिचित हो सकती है। व्यावहारिक दृष्टि से जैनियो को 'अद्वैतवादी' भी कहा जा सकता है, क्योकि 'आत्मा' अपने शुद्ध रूप मे 'परमात्मा' के ही सदृश शुद्ध 'मुक्त' और निर्बन्ध है। आत्माएँ अनेक हैं, पर वे सत्य

अपने शुद्ध रूप म परमात्मा के समान शुद्ध और बाधारहित है, योग द्वारा यह उच्च स्थिति प्राप्त हो सकती हे, अत जैनयोग द्वारा 'आत्मा' ही 'साध्य' हे—

परमात्मसमापत्तिर्जीवात्मनि हि युज्यते।
अभेदेन तथा ध्यानदन्तरङ्गस्वशक्तित ।

मन्त्रसाधना म पूजा या आचार तथा भक्ति की प्रधानता हे। जैनमत मे इसका बहुत प्रचार हे, किन्तु लययोग' का प्रचार नही हे। जैनसाधक 'ध्यान या भावना योग' को अधिक पसन्द करते है। ध्यान योग मे 'वैराग्य' द्वारा 'समाधि' प्राप्त की जाती है और मानसिक 'वृत्तिप्रवाह' को समाप्त कर शुद्ध चेतना को प्राप्त किया जाता है और इस प्रकार चेतना निर्विकार हो जाती हे। इस उच्च स्थिति को प्राप्त कराने वाले योग मे 'सिद्धि' और भुक्ति' को कोई महत्त्व नही दिया गया, क्योकि 'भुक्ति मे विकार रहता हे। सिद्धि' और भुक्ति की प्राप्ति के लिए 'चैत्यवासी' जैनतान्त्रिक अधिक उत्सुक थे। इसके विपरीत उक्त निर्विकार स्थिति को प्राप्त करने वाले योगी वैरागी निग्रन्थ या दिव्ययोगी कहलाते थे तीथकर ऐसे ही दिव्ययोगी थे। चैत्यवासी साधको का जैनियो मे इसीलिए अधिक सम्मान प्राप्त नही हुआ। इस प्रकार जैनमत मे 'दिव्ययोगी' और 'भुक्तियोगी' साधको का अतर स्मरणीय है। भुक्तियोग या 'मन्त्रयोग' द्वारा मुक्ति' प्राप्त नही हो सकती जबकि दिव्ययोग से भुक्ति प्राप्त नही हो सकती, ऐसा विश्वास प्रचलित है। दिव्ययोगी पूर्ण अभौतिक स्थिति प्राप्त कर लेता हे जबकि 'मन्त्रयोगी' दिव्य आनन्द की केवल झलक मात्र पा सकते हैं।

जैनतन्त्र और अन्य तन्त्र मे कुछ बाते सामान्य हैं—दोनो मे 'भक्ति' पर बल दिया गया है। जाति और लिङ्ग का भेद साधना मे स्वीकार नही किया गया, अत तान्त्रिकधारा की समतावादी और जातिविरोधी प्रवृत्ति यहा भी विद्यमान है। इसके अतिरिक्त आचार के क्षेत्र मे मन्त्र, बीज, यन्त्र मुद्रा, न्यास, भूतशुद्धि, कुडली योग, मदिरनिमाण, मूर्त्तिनिर्माण, चर्या, उत्सव, आदि अन्य तान्त्रिक सम्प्रदायो की तरह स्वीकृत है। 'गुरु' का महत्त्व भी अन्य तन्त्रो की ही तरह स्वीकार किया गया हे।

किन्तु जैनतन्त्रो मे पचमकार का प्रयोग सवथा वर्जित है अर्थात् जैनी दक्षिणपथी तान्त्रिक है। गोरखपथियो की तरह सवत्र ब्रह्मचय पर बल दिया गया है। फिर भी चैत्यवासियो का जो विवरण मिलता है, उससे यह नही लगता कि

इन साधको मे ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन सम्भव था। यह सम्भव है कि गुह्य साधना का गुप्तरूप से चैत्यवासियो मे प्रयोग चलता हो—

"ये कुसाधु चैत्यो और मठो मे रहते है, पूजा करने का आरम्भ करते है। देवद्रव्य का उपभोग करते है, जिन मदिर और शालाए बनवाते है, रग विरगे सुगधित धूपवासित वस्त्र पहनते है, बिना नाथ के बैलो के सदृश्य स्त्रियो के आगे गाते है। आर्यिकाओ द्वारा लाये गए पदार्थ खाते है ये मुहूर्त निकालते है, निमित्त बतलाते है, भभूत भी देते है स्त्रियो के समक्ष व्याख्यान देते है और स्त्रिया उनके गुण गाती है उच्चाटन करते और वैद्यक यन्त्र, मन्त्र, गडा, ताबीज आदि मे कुशल होते है वे पशु है, श्रमण नही आर्यिकाओ के साथ एक ही निवास मे रहते थे।[1]

यह स्मरणीय है कि बौद्ध विहारो मे भिक्षु और भिक्षुणियो के एक साथ रहने से ही 'बौद्धतन्त्र' का प्रादुर्भाव हुआ था। इसी प्रकार यह सम्भव है कि आर्यिकाओ के साथ रहने से चैत्यवासियो मे 'भुक्तियोग' का प्रादुर्भाव हुआ हो। इनमे दिगम्बर चैत्यवासी नग्न रहते थे और श्वेताम्बर साधक वस्त्र धारण करते थे। अपनी मन्त्रसाधना के द्वारा ये महन्त तात्कालिक शासको और अन्न समृद्ध व्यक्तियो पर अप्रतिम प्रभाव रखते थे।

जैनसाधको के प्रमाण से ही यह सिद्ध किया जा सकता है कि जैनतन्त्रसाधना मे भी 'अथर्ववेद' की परपरा का ही विकास हुआ है। सघदास ने 'वासुदेव हिण्डा' या 'वासुदेवचरित' मे अथर्ववेद के मन्त्रनियोग का वर्णन किया है (पृष्ठ १५१) इसी प्रकार सुत्रकृताङ्गटीका मे शीलाङ्क ने अथर्ववेद के अभिचार का विवरण दिया है[2]।

जैनियो के धार्मिक साहित्य 'विद्यानुप्रवाद' के दशम अध्याय (पूर्व) मे मन्त्र और विद्या का वर्णन है। अब ये ग्रन्थ लुप्तप्राय हैं, परन्तु पतवर्ती साहित्य मे इनके उल्लेख मिलते है। जैनधर्म साहित्य द्वादश अगो मे विभक्त है। इनमे १२वें अग मे पूर्व साहित्य था। 'विद्यानुप्रवाद' का अर्थ इस प्रकार किया गया है—

यत्रानेकविधा विद्यातिशया वर्ण्यन्ते तद्विद्यानुप्रवादम्

(१) जैन साहित्य और इतिहास—नाथूराम प्रेमी, पृष्ठ ४८०-४९२

(2) Comparative and Critical study of Mantrashastra—M B Jhavery Ahmedabad, 1944, Page 96

दिगम्बरो के अनुसार दशम पूव मे ५०० महाविद्याओ का वणन था और ७०० अल्पविद्याआ का।

जैन तत्रसाहित्य और साधना का विकास जेन तत्रसाधना पाश्वनाथ के समय से मानी जाती है। पाश्वनाथ २३वे तीथकर थे। इनकी मृत्यु महावीर स्वामी से २५० वष पहले हुई। सम्भवत विद्यानुप्रवाद साहित्य पाश्व नाथ के समय का है। जैन मत्रसाधको मे शायद इसीलिए पाश्वनाथ की पूजा अधिक होनी है। पाश्र्वनाथ की सेविका देवियो और सेवक देवताओ को मत्रसाधना द्वारा प्रसन्न कर 'सिद्धि' प्राप्त की जाती है। 'भैरवपद्मावनीकल्प' के सम्पादक श्री झावेरी का अनुमान है कि पाश्व नाथ के समय (८७६ पूर्वेसा से ७७६ पूर्वेसा तक) ही अथर्ववेद के मत्रो का सम्पादन हुआ होगा। पाश्वनाथ काशी के राजकुमार थे, अत वे अथर्ववेद की मत्रसाधना से प्रभावित हुए होगे। जो हो, यह निश्चित है कि जैन परपरा के अनुसार जैनियो मे मत्रसाधना बहुत प्राचीन काल से प्रचलित है। महावीर की मृत्यु के १७० वष बाद भद्रबाहु की मृत्यु हुई थी, भद्रबाहु ने 'स्मरणमत्र' के द्वारा पाश्वनाथ का आवाहन किया था। भद्रबाहु जैनतत्रसाधना के प्रारम्भिक आचार्या मे माने जाते है।

फिर भी जैनतत्रसाधना और साहित्य का उद्गम कितना ही प्राचीन हो, इसका प्रचार ईसा की प्रथम शताब्दी के बाद ही बढता दिखायी पडता है, अन्य तान्त्रिक सम्प्रदायो की उन्नति का भी यही युग है। श्री झावेरी भी चैत्यवासियो की उन्नति ईसा के आसपास ही मानते है। कुशन और गुप्तसाम्राज्य के उदय के मध्य की अवधि को 'पतन' का युग माना जाता है, इसी अवधि मे जेन चैत्यवासियो ने अपनी मत्रसाधना का प्रचार प्रारम्भ किया।

ईसा की प्रथम शताब्दी के लगभग जैन मत्रसाधको के चमत्कारो की कथाएँ प्रचलित होने लगी थीं। राजा गदभिल्ल को 'कल्काचाय' ने ७४ पूर्वेसा मे मत्र शक्ति से अपदस्थ कर दिया था, क्योकि कल्कमुनि की साध्वी बहिन का राजा गदभिल्ल ने बलात् अपहरण किया था।

मानदेवसूरि (विक्रम की तृतीय शताब्दी) ने 'लघुशातिमत्र' की रचना की थी। यह महान साधक था। तक्षशिला मे उस समय ५०० जैनमदिर थे। मानदेव की ही तरह वादिवैताल शातिसूरि ने 'वृहत् शान्तिमत्र' की रचना की थी। इन शान्तिमत्रो के जप से रोग का नाश होता है। बिक्रम की पाचवी शती

मे सिद्धसेन दिवाकर साधक का प्रादुर्भाव हुआ, यह मन्त्रा से सेनाओ की सृष्टि कर देता था। मल्लवादि सूरि भी इसी शताब्दी का साधक था।

सम्राट अशोक के नाती 'सम्प्रति' पर चैत्यवासियो का प्रबल प्रभाव था, इसने बहुत से चैत्य और मदिर बनवाय। उसके पश्चात् शासको द्वारा मदिर निर्माण काय तेजी से बढता गया और चैत्यवासी साधको का प्रभाव भी बढता गया।

मानतुगसूरि ('भक्तामरस्तोत्र' का लेखक) कवि बाण का समकालीन था। हरिभद्रसूरि ने 'ताराभक्त बौद्ध तान्त्रिको को परास्त किया। यह 'अम्बिका' देवी का भक्त था। हरिभद्र का समकालीन सीलगुण सूरि था (८वी शताब्दी)। इसने तथा बापाभट्टिसूरि (८१० ८९५ वि०), वीरमणि, शातिसूरि तथा सूराचाय (११वी शताब्दी) ने मत्र विद्या का प्रचार किया।

चैत्यवासी आगे 'यती' कहलाने लगे। इनके मुखिया 'भट्टारक' कहलाते है। 'आचाय' कहलाने वाल साधक सूरिमत्रो का जप करते है ओर साधारण लोग परमेष्ठिमत्र का। 'सवेगी' साधु भी मात्रिक बन जाते है। यो इन्हे मत्रविद्या के अभ्यास की मनाही हे।

११वी शताब्दी और बाद के मात्रिको मे निम्नलिखित प्रसिद्ध है— यशोभद्रसूरि, अभयदेव, वीराचाय, जिनदत्त, वादिदेव, हेमचाद, मलयगिरि, देवेन्द्र पार्श्वदेवगणि, सागरचन्द्र, अमरचन्द्र, बालचन्द्र, धमघोष, देवभद्रगणि, पूणकलशगणि (१३०७ ई०) जिनप्रभा, जिनकुशल, भुवनतुग, मेरुतुगसूरि, मुनिसुदर, हेमविमलसूरि, जिनचन्द्र (अकबर का समसामयिक), शातिचन्द्र, यशोविजय, मेघविजय और वीरविजय।

आधुनिक युग मे मोहनलाल, शातिविजय और जयसिह सूरि के नाम उल्लेखनीय है।

इस प्रकार 'भद्रबाहु' (आदि आचाय) से आधुनिक युग तक जैन तन्त्रसाधको की अखण्ड परपरा मिलती है।

जैनमन्त्रशास्त्र मे कई प्रकार के ग्रन्थ है। अपर 'विद्यानुप्रवाद' की चर्चा हो चुकी है। इनके अतिरिक्त साधको ने स्वतत्र साधना-शास्त्रो का निर्माण किया हे। 'पूवसाहित्य' (विद्यानुप्रवाद) के सम्मिन्न ग्रन्थ 'प्राभृत' कहलाते है, इनमे एक 'योनिप्राभृत' ग्रन्थ भी है। अगविद्या' नामक ग्रन्थो मे न्यास का वणन मिलता है। मत्रो मे 'परमेष्ठिमत्र' पवित्रतम माना जाता है, यह 'गायत्री' के

समान सम्मानित हे। 'निर्वाण कलिका' नामक ग्रन्थ का निमाण प्रथम शताब्दी के आसपास हुआ। इसमे आचारो, मन्त्रो मूर्त्तिनिर्माण तथा देवी देवताओ का वणन है।

'वज्रस्वामी द्वारा निर्मित (११४ वि० मे मृत्यु) वद्धमानविद्याकल्प तथा भद्रगुप्ताचाय (वज्रस्वामी का परवर्ती) के अनुभवसिद्धमन्त्रद्वात्रिंशक' एवम् निर्वाणकलिका मे सूरिमन्त्रा का वणन हे जिनका जप केवल आचाय ही कर सकते है। सूरिमन्त्रो के विषय मे कहा गया है कि ये 'ऋषभदेव के समय भी प्रचलित थे। महावीर स्वामी का शिष्य गौतम मन्त्रसाधक था और ऋषभदेव का शिष्य तुडरीक 'गणधर' भी मान्त्रिक था। सम्भवत 'परमेष्ठिमन्त्र' वद्धमान विद्या और सूरिमन्त्रो का प्रारम्भिक रूप एक ही था, बाद मे ये अलग अलग रूप मे प्रचलित हुए। मन्त्रो मे 'सरस्वती' के मन्त्र बहुत अधिक है। मन्त्रो की दृष्टि से जैनमत 'हादिमत' हे क्योकि बीजमन्त्र 'ह' से प्रारम्भ होते हे। 'पद्मावती देवी' का मन्त्र है—'ह्रम् । कोई भी मन्त्र 'क' से प्रारम्भ नही होता।

मन्त्र जिन देवताओ से सम्बद्ध है, इनमे मुख्य ये है—सरस्वती, अम्बिका कुबेरा, पद्मावती, सिद्धायिका, इन्द्राणी, विधिप्रभा, अक्षुप्ता और चक्रेश्वरी। इनमे चक्रेश्वरी का सम्बध परमेष्ठिमन्त्र से है। पद्मावती का सम्बध पाश्वनाथ से और सिद्धायिक महावीर से सम्बद्ध देवी मानी जाती हैं। स्पष्टत 'सरस्वती' अम्बिका, कुबेरा, इन्द्राणी और चक्रेश्वरी नाम हिन्दू परपरा के हैं जिन्हे जैनियो ने स्वीकार कर लिया है।

मान्त्रिको मे 'विद्याधर' और 'विद्यादेवी' का भी महत्वपूण स्थान है। इनका प्रचार ८वी शताब्द के बाद अधिक हुआ। ऋषभदेव की 'नामी और विनामी द्वारा सेवा से प्रसन्न होकर नामी और विनामी को गौरी, गन्धारी, रोहिणी और प्रजापति नामक विद्याएँ प्राप्त हुई थी। ये विद्याधरो को अधिष्ठामी देविया है। विद्याओ मे 'महाज्वाला प्रबल विद्या हे। ये विद्याए सब पदाथ दे सकती है। तान्त्रिक षट्कम इन्ही विद्याओ की उपासना से प्राप्त होते ह। इन्ही विद्याओ मे एक 'आथवणी' विद्या भी है जो स्पष्टत अथववेद से ली गई है। अन्य विद्याओ मे पाकशासनी इन्द्रजाल उत्पन्न कर सकती है। मोहनकारा सम्मोहन के लिए, गभकरा गभधारण के लिए, दुर्भागकरा, शत्रु नाश के लिए और सुभागकरा, समृद्धि के लिए सेवित होती है। इनके अतिरिक्त वैताली, अधवैताली अवस्वापिना, तालोद्घाटिनी (जिसकी पूजा से बन्द ताले खुल जाते है !) आदि

विद्याए है। ये विद्याएँ शवर, द्रविड तथा कलिंग देशो से सम्बद्ध मानी गई है अर्थात् जैनसाधको ने भी अनाय देवी देवताओ को स्वीकार कर 'सामाजिक सम्मिलन' मे सहायता की है।

दिगम्बर जैनमत मे ज्वालमालिनी और माहाज्वाला का महात्म्य अधिक है। इस मत के अनुसार विक्रम की छठी शताब्दी से मन्त्रसिद्धाचार्यो का प्रभाव बढा और यह मत इतिहास के भी अनुकूल पडता है। प्रथम सिद्ध पूज्यपाद हुए, तत्पश्चात् हेलाचाय (९वी शताब्दी) और उनके बाद इन्द्र नन्दी (९९६ विक्रमी)। इन आचार्यो के बाद मल्लिश्रेणिसूरि (११०० वि०) ने प्रसिद्ध 'भैरवपद्मावती' तत्र लिखा और उनके बाद शुभचन्द्राचाय ने 'ज्ञानाणव' लिखा। 'ज्ञानाणव' और हेमचन्द्र के योगशास्त्र मे कोई विशेष अन्तर नही मिलता। नाथूराम प्रेमी के अनुसार हेमचन्द्र का योगशास्त्र ज्ञानाणव का ही सक्षिप्त सस्करण मात्र है[1]। मल्लिश्रेणिसूरि ने 'भैरवपद्मावती कल्प' के अतिरिक्त 'सरस्वतीमन्त्रकल्प' तथा 'ज्वालिनीकल्प की भी रचना की है। इनके नाम से 'कामचण्डाली कल्प' भी मिलता हे। मल्लिश्रेणि तान्त्रिको मे बहुत सफल ग्रन्थकार माने जाते है।

इन मुख्य तन्त्रो के अतिरिक्त काव्यो, पुराणो और कथाओ मे भी अनेक मन्त्रो, विद्याओ और सिद्धियो के विवरण मिलते है। विमल सूरि के (वि० ५३०) के 'पउमचरिउ' मे ६१ विद्याओ का वणन है। 'पद्मपुराण' मे भी ऐसे उल्लेख मिलते है हेमचन्द्र के 'त्रिषष्ठिशलाकापुरुष चरित' मे भी विद्याओ का वणन है।

विक्रम की १२वी शताब्दी तक आते आते जैनतन्त्रो और अन्य तन्त्रो मे आपातत कोई अतर प्रतीत नही होना जैसा कि भैरवपद्मावती कल्प के विवरण से प्रमाणित होता है। भैरवपद्मावती कल्प के प्रथम अध्याय मे साधक की विशेषताएँ, द्वितीय मे न्यास, तृतीय मे षट्कम, चतुथ मे मुद्रा, आसन जपप्रकार, समय, पचपूजा, मूलमन्त्र, चतुथ मे यन्त्र, पचम मे स्तम्भन, षष्ठ मे स्त्रीवशीकरण, सप्तम मे वशीकरण अष्ठम मे भविष्यकथन, नवम् मे औषधि वणन तथा दशम अध्याय गारुडी

(१) (अ) जैनसाहित्य और इतिहास, पृष्ठ ३६५ ६६

(ब) श्री झावेरी ने अपने 'कम्पैरेटिव एण्ड क्रिटीकल स्टडी आफ मन्त्रशास्त्र' मे ज्ञानाणव को हेमचन्द्र के योगशास्त्र से परवर्ती प्रमाणित किया है, द्रष्टव्य पृष्ठ ३३९-३५०

विद्या का वणन है किन्तु इन 'कल्प' या तत्रो के विपरीत 'योगशास्त्र' (हेमचन्द्र) और ज्ञानाणव मे योगसाधना का भी वणन मिलता है।

इन ग्रन्थो के मत्रो का रूप भी अन्य तत्रो जैसा ही है, उदाहरण के लिए 'सरस्वतीकल्प' का एक मत्र द्रष्टव्य है—

ॐ ह्री क्रौ क्ली जम्भे मोहे अमुक वश कुरु कुरु वखट उँ ओ फ्री ह्वी अम्बे अम्बाले अम्बिके यक्षिदेवि यम्ल्वर्ब्ब्ले ह्सीब्ले ह्सौ ररर र रा नित्यक्लिन्ने मदद्रवे मदनातुरे अमुकआकषय आकषय घे घे सवौषट्।

जहा शैव शाक्त बौद्ध तत्रो मे गम्भीर साधना का वणन मिलता है, वहा जैन तत्रो मे ऊपरी सादृश्य होने पर भी गहराई का अभाव हे, केवल अभिचार का वणन अवश्य मिलता है और इस सन्दभ मे वे अन्य तत्रो की ही तरह है।

हेमचन्द्र के योगशास्त्र ध्यान प्रक्रिया का अवश्य गभीर वणन हे। यहा पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत चार प्रकार के ध्यान बताये गए है। इनमे पदस्थ अर्थात् शब्दसाधना या मत्रसाधना का ही जैनसाधको मे अधिक प्रचार है। पिण्डस्थस्थान ध्यान कुडलिनीयोग मे प्रचलित है, किन्तु जैनसाधको मे इसका अधिक प्रचार कभी नही हुआ। पदस्थ ध्यान मे ही सहस्रनामो का उच्चारण आता है और इसलिए अनक सहस्रनामो की रचना हुई हे। किन्तु तीथकरो को जो नाम दिये गए हैं, उन पर भी तान्त्रिक प्रभाव मिलता है—मत्रविन, मत्रकृत, मत्री, मत्रमूर्त्ति निरन्तर, महामत्रो, महातत्र इत्यादि।

हेमचन्द्र ने योगशास्त्र मे हठयोग का भी वणन किया है। हेमचन्द्र १२वी शताब्दी के लेखक थे और उस समय गोरख सम्प्रदाय का सवव्यापी प्रभाव था।

श्री झावेरी के अनुसार बौद्धसिद्धो, शाक्तो आदि ने वामाचार का बहुत प्रचार कर दिया था। शकराचाय और गोरखपथियो ने याग को स्वीकार करके भी 'वामाचार' का घोर विरोध किया। शकर का मत 'समयमत या 'समयाचार' कहलाया। 'समयाचार मे यौगिक साधना आतरिक साधना है जो निवृत्तिप्रधान है जबकि 'कौलाचार बाह्य द्रव्यो की सहायता पर आधारित है, अत 'प्रवृत्ति' या भोग 'कौलाचार मे स्वीकृत है। जैनमत भी 'समयाचार मत' कहा जा सकता है। समयमत के अनुसार 'सहस्रारचक्र' का ध्यान किया जाता हे, अन्य निम्न चक्रो मे ध्यान केन्द्रित नही किया जाता, किन्तु हेमचन्द्र के पूर्व शायद सवप्रथम 'बप्पाभट्टिसूरि'

ने कुडलिनी योग की चर्चा की हे । 'बप्पाभट्टसूरि' ने प्रसिद्ध 'सरस्वती मन्त्र' की रचना की थी। इस मन्त्र के अध्ययन से स्पष्ट है कि बप्पाभट्ट सूरि कुडलिनीयोग से परिचित थे।[1] उन्होने 'शब्द ब्रह्म' और 'परम ब्रह्म' की एकता पर भी बल दिया हे। इनके अतिरिक्त 'मुनि सुन्दर सूरि' (१४३६ १५०३ वि०) ने भी कुडलिनी योग की चचा की है और 'सहस्रारचक्र' मे ध्यान केन्द्रित करने पर बल दिया है।

इस विवरण से यह स्पष्ट है कि जैनतत्रा मे मुख्यधारा 'मत्रसाधना' की धारा है और 'मत्रसाधना' के क्षेत्र मे अन्य तत्रो के साथ जैन तत्रो का पूण सादृश्य है। 'पद्मावती' देवी के सहस्रनाम को देखने से पता चलता है कि जैनसाधक सभी देवियो की एकता स्वीकार करते थे। 'पद्मावती' को 'लक्ष्मी', 'महालक्ष्मी , 'कमला', श्रीरूपा, रमा, माहेश्वरी, महादेवी, शिवा, सती, चण्डी, दुर्गा, भुवनेश्वरी सरस्वती, भारती, साध्वी भगवती, खेचरी, कामधेनु, काली, बाला, कालिका, वभ्रा वेदमाता, वीरमाता, जिनमाता, जिनेश्वरी, योगिनी, योगेश्वरी नागिनी, नागकन्या, कुडलिनी, षट्चक्रभेदविख्याता, लीलावती, त्रिपुरा, सुन्दरी, त्रिपुरा सुदरी, भैरवी, भीमा, तारा, त्वरिता, कामसाधिनी, कात्यायनी, चिन्तामणि,जया, विजया, जयन्ती, ओकर रूपा, हृङ्काररूपा आदि नाम दिये गए है। इससे शाक्तमत और जैनमत्रसाधना की मूलभूत एकता सिद्ध होती है, किन्तु शाक्तो और बौद्धो के वामाचार को जैनमत मे स्वीकार नही किया गया, यह जैनमत की सबसे प्रमुख विशेषता है।

इसके अतिरिक्त उक्त विवरण से यह भी स्पष्ट है कि जैन योगसाधना मे 'समयमत' ही स्वीकृत हुआ है। कुडलिनीयोग के साधक बहुत कम हुए है।

तीसरी विशेषता यह है कि मूलत जैनमत 'आगम मत' होने के कारण जैनसाधक पाखण्ड और बाह्याचार के वैसे ही विरोधी हुए है जैसे कि बौद्ध और अन्य तान्त्रिक। इस प्रवृत्ति का प्रभाव 'जैनकाव्य पर भी पडा है, जिसने आगे चलकर हिन्दी के 'सत साहित्य' को भी प्रभावित किया है।[1] उदाहरणत आचाय हेमचन्द्र क पूववर्ती जैनकवि मुनि रामसिंह ने 'पाहुड दोहा' या 'प्राभृत-दोहा' की रचना की थी। 'प्राभृत' शब्द से जैन मत्रसाधना का ही बोध होता है। 'पाहुडदोहा' से यह स्पष्ट है कि रामसिंह की वाणी योग परपरा की वाणी है जो सतकवियो से सादृश्य रखती है—

(१) झावेरी, पृष्ठ ३२०

जाति प्रथा का खडन कासु समाहि करउ को अचउ
छोपु अछोपु मणिवि को वचउ
हल सहि कलह केण सम्माणउ
जहि जहिं जोवउ तहि अप्पाणउ

अर्थात् समाधि किसकी लगाऊँ ? किसे पूजूँ छूत अछूत कहकर किसे छोडूँ । भला, किसके साथ कलह करूँ ? जहा भी देखता हू,सवत्र अपनी आत्मा दिखायी देती है।

अतरावलोकन देहादेवलि जो वसइ सत्तिहिं सहियउ देउ ।
को तहिं जोइय सत्तिसिह सिग्धु गवेरहि भेउ ।

अर्थात् हे योगी, इस देह के देवालय मे शक्तियो के साथ जो देव रह रहा है, वह शक्तिसयुक्त शिव कौन है ? शीघ्र खोज इस भेद को ।

बाह्याचार खडन ताम कुतित्थइ परिभमइ धुत्तिम ताम करति ।
गुरुह पसाए जाम ण वि देहह देउ मुणति ।

अर्थात् कुतीर्थो का परिभ्रमण तभी तक किया जाता है और धूतता भी तभी तक चलती है जबतक कि गुरु के अनुग्रह से देह मे स्थित देव का परिज्ञान नहीं हो जाता ।

ब्राह्मणवाद का विरोध पडिय पडिय पडिया कणु छडिवि तुस कडिया ।
अत्थे गथे तुट्ठो सि परमाथु ण जाणहि मूढो सि ।

अथात् पडित, कणो को छोड तूने भूसी को ही कूटा है । ग्रथ और उसके अथ मे तुझे सतोष है, किन्तु मूढ, परमाथ से तेरा परिचय नही ।

पाखण्डखडन मुडिय मुडिय मुडिया सिरु मुडिउ चित्तु ण मुडिया ।
चित्तह मुडणु जि कियउ, ससारह खडणु ति किअउ ।

अथात् हे मुडितो मे श्रेष्ठ सिर जो अपना तूने मुँडा लिया, पर चित्त को नही मुँडाया, ससार का खण्डन चित्त को मुँडाने वाला ही कर सकता है ।

कुडलिनीयोग की स्वीकृति वामिय किया अरु दाहिणय मज्झइ वहइ णिराम।
तहि गामड्ा जु जोगवइ अवर बसावइ गाम ।

(१) सतसुधासार वियागी हरि और सत काव्य परशुराम चतुर्वेदो

अथात् बाइ ओर ग्राम बसाया और दाहिनी ओर भी ग्राम बसाया किन्तु मध्य को तूने सूना ही रखा अर्थात् इडा पिगला नाडियो के बीच सुषुम्ना मे अपने चित्त का निरोध नही किया ।

मुनि रार्मासह की तरह मुनि देवमेन भी मर्मी सतकवि थे । जैन योगसाधना का इनपर भी प्रभाव दिखायी पडता है, किन्तु ये अधिक सस्कारी जैन प्रतीत होते हैं । इनकी रचना 'सावयधम्म दोहा' हे—

अर्थात् श्रावकधम दोहा जो सामान्य गृहस्थो के लिए लिखे गए है । देवसेन भी हेमचन्द्र के पूववर्ती दाशनिक और कवि थे ।

जातिवाद का विरोध **एहुधम्म जो आयरइ वभणु सुद्द कि कोइ ।**
सो सावउ किं सावयह अण्णु कि सिरमणि होइ ।

अथात् इस धम का जो भी आचरण करता हे, फिर चाहे वह ब्राह्मण हो या शूद्र वही श्रावक है, श्रावक के सिर पर क्या कोई मणि चिपकी रहती है ?

मुनि देवसेन ने अधिकाशत इन्द्रियसयम का उपदेश दिया है जो जैनसाधना का मूलाधार हे । इन रचनाओ के स्वरूप से ही स्पष्ट है कि सतपरपरा के कवियो को इन्होने प्रभावित किया हे ।

चूंकि जैन मत्रसाधना मे रागसाधना की स्वीकृति नही है, अत वैष्णवकाव्य को इससे प्रेरणा नही मिली । वैष्णवकाव्य शाक्तपरपरा से अधिक प्रभावित हुआ है जो पुराणो और विशेषकर श्रीमद्भागवत पुराण के माध्यम से वैष्णवा तक पहुचा है ।

हिन्दी के सत वैष्णव काव्य की पृष्ठभूमि मे जो विराट तान्त्रिकधारा दिखायी पडती है, उसम जैन मत्रसाधना और जैन योगसाधना ने अपना महत्त्वपूण योगदान दिया है । वामाचार के विरोध मे शकराचाय और गोरखनाथ की तरह जैनसाधको का काय भी उल्लेखनीय है ।[1] अपनी समन्वयप्रिय प्रवृत्ति के कारण जैन मत्रसाधना को विशिष्ट रूप देकर भी देवी देवताओ, साधना और आचार की मूल भूत एकता को जैनसाधको ने विस्मृत नही किया । तान्त्रिको और पौराणिको द्वारा व्यापक 'अतभुक्ति' के ऐतिहासिक काय मे जैनतान्त्रिको का काय भी प्रशसनीय है । सस्कारी जैनमतावलम्बी चैत्यवासियो, यतियो, आदि के काय को केवल

(१) उत्तरी भारत की सत परपरा भूमिका भाग परशुराम चतुर्वेदी

शुद्धाचार की दृष्टि मे देखने के कारण उनका महत्त्व नही समझ पाता। किंतु मध्यकालीन सतो और वैष्णवो मे जो 'एकता' और अविरोध पर बल देने की प्रवृत्ति है, पाखण्ड और जातिगत विषमता के विरुद्ध जो आक्रोश है, विविधता के भीतर 'एक्य अनुसधान' का जा स्वभाव है, भक्ति और उपासना के प्रति जो अनन्यता है, मनोवृत्ति को शुद्ध करने का जो भाव हे और साथ ही साधना के द्वारा प्रकृत्ति पर विजय करने की जो अभिलाषा है, उसके निर्माण मे जैन तान्त्रिकसाधना का भी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप मे योगदान स्वीकार करना चाहिए। लेकिन यह भी स्मरणीय है कि मध्यकालीन हिदी काव्य पर जैनसाधना का प्रभाव अपेक्षाकृत कम है।

कतिपय

सहायक ग्रन्थ

अ

१ अथर्ववेद
२ आर्यमंजुश्रीमूल कल्प—त्रिवेन्द्रम सीरीज, गणपति शास्त्री, १६२० ई०
३ अद्वयसिद्धि—लक्ष्मींकरा देवी, बड़ौदा (हस्तलिखित प्रति)
४ अद्वयवज् संग्रह—गायकवाड़ ओ० सीरीज, बड़ौदा
५ अवेकनिङ्ग आफ फेथ—टी० सुजुकी, शिकागो, १६०० ई०
६ अहिर्बुध्न्य संहिता—एम० डी० रामानुजाचार्य, मद्रास, १६१६ ई०

इ

७ इट्रोडक्शन टू पाचरात्र—ओ० श्रेडर, मद्रास
८ एक्सटनल इश्यू आफ इटरनेशनल जर्नल आफ तांत्रिक आर्डर— यूयाक
६ एलीमेंट्स आफ हिन्दू आइकनोग्रैफी—जी० एन० राव

उ

१० उत्तरी भारत की सत परम्परा—परशुराम चतुर्वेदी

ए

११ ऐनसियेएट हिस्ट्री आफ वैस्टन एसिया, इडिया एराड क्रीट—प्रो० बैडरिच ह्राजनी, न्यूयार्क
१२ ऐन इट्रोडक्शन आफ बुद्धिस्ट इसोटैरिज्म—बी० भट्टाचार्य
१३ ऐन इट्रोडक्शन टू तान्त्रिक बुद्धिज्म—शशिभूषण दास गुप्ता
१४ ऐन इन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी आफ इडियन हिस्ट्री—बम्बई १६५६ ई०

औ

१५ औब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स—शशिभूषण दास गुप्ता

क

१६ के० पी० भटनागर कमेमोरेशन वॉल्यूम—कानपुर

१७ कृष्ण यजुर्वेद
१८ कौशीतकी उपनिषद्
१९ करणय व्यूह—सत्यव्रत समश्रयी, १८७३ ई०
२० कूर्म पुराण
२१ कश्मीरी शैव दर्शन—जे० एन० चटर्जी
२२ कुलार्णव तत्र
२३ कौलावली निर्णय
२४ कश्मीर शैविज्म—जे० सी० चटर्जी
२५ कम्पैरेटिव एण्ड क्रिटीकल स्टडी आफ मत्रशास्त्र—एम० बी० झावेरी
अहमदाबाद, १९४४ इ०

ग

२६ गणेश—एलिस गेटी
२७ गुह्यसिद्धि—गायक्वाड पुस्तकालय, बड़ौदा (हस्तलिखित प्रति)
२८ ग्लीनिंग्स फ्रौम द तत्राज—गोपीनाथ कविराज
२९ गधर्व तत्र—रामचन्द्र काक—श्रीनगर, कश्मीर

छ

३० छान्दोग्य उपनिषद्

ज

३१ जापानी बुद्धिज्म—सर चार्ल्स इलियट, लदन, १९३५ ई०
३२ जर्नल आफ एसियाटिक सोसाइटी आफ बगाल
३३ जैन साहित्य और इतिहास—नाथूराम प्रेमी

ट

३४ थौट्स एण्ड थिंग्स—विलियम वाकर एटकिसन

ड

३५ ड्रैवेडियन गौड्स इन माडर्न हिन्दूइज्म—डबल्यू० टी० एलमोर

त

३६ तत्रालोक—अभिनवगुप्त सस्कृत सीरीज, श्रीनगर, कश्मीर
३७ तत्त्व सग्रह—शातरक्षित—गायकवाड़, ओ० सीरीज, बड़ौदा
३८ तथागत गुह्यक—बी० भट्टाचार्य, बड़ौदा

३६ तजौर कैटालॉग—पी० काडियर
४० तान्त्रिक टैक्स्ट्स , कलकत्ता
४१ तन्त्रराज भट्टारक

द

४२ द फाउ डेशस आफ अथर्वानिक रिलीजन—एन० जे० शिन्दे, मैसूर
४३ द वडर, दैट वाज इडिया—ए० एल० बाशम, लदन १६५३
४४ द रिलीजस क्वैस्ट आफ इडिया—जे० एन० फर्कुहर, १६२० ई०
४५ द स्टोरीज आफ नागार्जुन फ्रौम तिब्बतन एण्ड चाइनीज सोर्सिज—वैलेसर
४६ द मदर गौडैस आफ कामाख्या—बेनाकात काकाती, गाहाटा
४७ द शाक्ताज—ई० पाइने, कलकत्ता, १६३३ इ०
४८ देवी रहस्य—रामचन्द्र काक, श्रीनगर, १६४१ इ०

न

४६ नैरात्म्य परिपृच्छा—सुनीतकुमार मुखोपाध्याय कलकत्ता, १६३० ई०
५० निष्पन्न योगावली—अभयकर गुप्त

प

५१ प्रज्ञा पारमिता
५२ पचविंशति प्रज्ञापारमिता—नलिनाक्षदत्त, कलकत्ता, १६३४
५३ प्रज्ञोपायविनिश्चय सिद्धि—अनग वज्र
५४ परशुराम कल्पतन्त्र—गायकवाड ओ० सीरीज, बडौदा
५५ परानन्द सूत्र—स्वामी त्रिविक्रम तीर्थ, बडौदा, १६३१ ई०

फ

५६ फिलौसफीकल एसेज—सुरेन्द्रनाथ दास गुप्ता कलकत्ता, १६४१ इ०

ब

५७ बुद्धिस्ट आइकनोग्रैफी—बी० भट्टाचार्य, कलकत्ता, १६२४ ई०

भ

५८ भारतीय दर्शन—बलदेव उपाध्याय

म

५६ महाभागवत—गीता प्रेस

६० महायान बुद्धिज्म एण्ड इट्स रिलेशन टू हीनयान—एन० दत्त, लदन, १९३० ई०

६१ मैनुग्रल ग्राफ इडियन बुद्धिज्म प्रो० एच० कर्न, स्ट्रासबर्ग, १८९६ ई०

६२ महायानश्रद्धोत्पाद सूत्र अश्व घोष

६३ माडर्न बुद्धिज्म एण्ड इट्स फौलोअर्स इन उड़ीसा—एन० एन० वसु—कलकत्ता—१९११ ई०

६४ महापुराण

य

६५ योगशास्त्र—हेमचन्द

ल

६६ लामाइज्म—वैडेल, कैम्ब्रिज, १९३४ ई०

६७ ललितासहस्रनाम—ग्रोटकमण्ड, अनत कृष्ण शास्त्री (अगरेजी भाषा मे अनूदत)

व

६८ वैदिक सम्पत्ति—रघुन दन शर्मा

६९ वृहदारण्यक उपनिषद्

७० व्यक्तभावानुगततत्त्वसिद्धि—सहजयोगिनी चिन्ता, बडौदा

७१ वखिस्यारहस्यम्

७२ वीरावली शास्त्र

स

७३ सोसाइटी—आर० एम० मैसीवर, लदन, १९५९

७४ साधन माला—बी० भट्टाचार्य, बडौदा, गायकवाड ओरियटल सीरीज

७५ सुखावती व्यूह

७६ सद्धर्म पु डरीक—प्रो० कर्न तथा बी० नजियों, सेटपाटर्सबर्ग १९१२ ई०

७७ सहजसिद्धि—बड़ौदा (हस्तलिखित प्रति) डोम्बी हेरुक ।

७८ सेकोद्देश्य टीका—नारोपा, ओ० इस्टीट्यूट, बड़ौदा

७९ सिद्धान्त डम्बर—बलराम दास

८० सौन्दर्य लहरी—शकराचार्य

८१ सम आस्पैक्ट्स आफ द फिलासफी आफ तंत्र—गोपीनाथ कविराज, प्रिंसिज आफ वेल्स, सीरीज
८२ स्पन्द निर्णय—क्षेमराज, श्रीनगर, कश्मीर
८३ स्वच्छन्द तंत्र—श्रीनगर, कश्मीर
८४ संतसुधासार—वियोगी हरि
८५ संत काव्य—परशुराम चतुर्वेदी

ष

८६ षटचक्र निरूपण

श

८७ श्रीराधा का क्रमिक विकास—शशि भूषणदास, काशी
८८ शतपथ ब्राह्मण
८९ श्रीमद्भागवत पुराण
९० शक्ति एण्ड शाक्त—सर जॉन वुडरफ, मद्रास
९१ शक्ति अंक (कल्याण) गोरखपुर
९२ श्यामा रहस्य—जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता

ह

९३ हिस्ट्री आफ इंडियन फिलौसफी—सुरेन्द्रनाथदास गुप्ता, कैम्ब्रिज
९४ हंसविलास—गायक० ओ० सीरीज, बड़ौदा

त्र

९५ त्रिपुरा रहस्य—गोपीनाथ कविराज

ज्ञ

९६ ज्ञानसिद्धि—इंद्रभूति
९७ ज्ञानार्णव—शुभचन्द्राचार्य

नामानुक्रमणिका

अ

आ

इ

उ

ए

क

ख

ग

च

ज

झ

ट

ड

फ

ब

भ

म

य

र

ल

व

स

ष

श

ह

त्र

ज्ञ


साहित्य भवन (प्राइवेट) लिमिटेड
इलाहाबाद